तंत्र दर्शन

परमहंस सत्यानंद त्याग स्वर्ण जयन्ती एवं
विश्व योग सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित

स्मारिका

परमहंस निरंजनानन्द

श्री पंचदशनाम परमहंस अलख बाड़ा
देवघर (बिहार)

स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन

तंत्र दर्शन

स्वर्ण जयन्ती

स्वामी सत्यानन्द त्याग जयन्ती
एवं
विश्व योग सम्मेलन
गंगादर्शन, मुंगेर (बिहार)

वर्ष १९९३

तंत्र दर्शन

परमहंस सत्यानंद त्याग स्वर्ण जयन्ती एवं विश्व योग सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित

स्मारिका

परमहंस निरंजनानन्द

श्री पंचदशनाम परमहंस अलख बाड़ा

देवघर, बिहार

© **श्री पंचदशनाम परमहंस अलख बाड़ा**
पनिया पगार, रिखिया, देवघर (बिहार)

प्रथम संस्करण : १९९३

प्रकाशक
मानद सचिव
श्री पंचदशनाम परमहंस अलख बाड़ा
पनिया पगार, रिखिया, देवघर

वितरक
बिहार योग विद्यालय
मुंगेर (बिहार) ८११ २०१

मुद्रक
दी ऑफसेटर्स,
३५, आदर्श कॉलोनी,
एस० के० नगर, पटना-१

फोटो टाइप सेटिंग
एस० के० प्रिन्टर्स,
पीरमुहानी, पटना-३

इस पुस्तक के पुनर्प्रकाशन का सर्वाधिकार श्री पंचदशनाम परमहंस अलख बाड़ा के अधीन है। प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना इस पुस्तक का कोई भी अंश अन्यत्र इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, मुद्रित या अन्य किसी भी रूप में प्रयुक्त या स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता है।

परमहंस सत्यानन्द सरस्वती

परमहंस सत्यानन्द सरस्वती का जन्म अल्मोड़ा के निकट हिमालय की तराई में स्थित एक गाँव में हुआ था। उनमें बचपन से ही विलक्षण प्रतिभा परिलक्षित होती थी तथा छः वर्ष की उम्र में ही उन्हें प्रथम आध्यात्मिक अनुभूति हुई थी। हिमालय के उच्चतर क्षेत्रों की ओर यात्रा करनेवाले उन मनीषियों और साधुओं का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त होता रहा, जो उनके घर के रास्ते से गुजरते थे। उन मनीषियों और साधुओं ने उन्हें आध्यात्मिक अनुभवों की ऊँचाइयों तक पहुँचने के लिए प्रेरित किया और इससे उनमें तीव्र वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ। इतनी कम अवस्था में ऐसा होना एक असाधारण बात थी।

उन्होंने उन्नीस वर्ष की अवस्था में अपना घर एवं परिवार छोड़ दिया तथा गुरु की खोज में निकल पड़े। कुछ समय बाद वे ऋषिकेष पहुँचे तथा वहाँ उन्हें अपने आध्यात्मिक गुरु स्वामी शिवानन्द सरस्वती के दर्शन हुए। वे गुरु-आश्रम में बारह वर्षों तक रहे। वहाँ वे सदैव कर्मयोग में रत रहते थे। इससे स्वामी शिवानन्द जी की यह धारणा ही बन गई थी कि वे अकेले चार व्यक्तियों का कार्य करते हैं। स्वामी जी प्रातःकाल से लेकर देर रात्रि तक कर्मयोग में व्यस्त रहते थे। वे आश्रम की सफाई से लेकर व्यवस्था तक के सभी प्रकार के कार्यों का सम्पादन करते थे। गुरु-सेवा से उन्हें अत्यंत अनुराग था तथा उसमें उन्हें अपार आनन्द मिलता था।

वे प्रखर बुद्धि से युक्त थे। स्वामी शिवानन्द जी ने उन्हें 'बहुमुखी प्रतिभाशाली' की संज्ञा दी थी। तथापि स्वामी सत्यानन्द जी का ज्ञान आश्रम में दिए जानेवाले उपदेशों या पुस्तकों के अध्ययन पर आधारित नहीं था। उन्होंने अपने गुरु के इस निर्देश का आस्थापूर्वक पालन किया–''कठोर श्रम करो, जिससे तुम पवित्र हो जाओगे। आत्मज्ञान के लिये तुम्हें प्रयास नहीं करना है। आत्मज्ञान स्वयं तुम्हारे अंदर से प्रकट होगा।'' और अन्ततः ऐसा ही हुआ। आध्यात्मिक जीवन के अनेक रहस्य उनके सामने प्रकट हुए। इस प्रबोधन के फलस्वरूप वे तभी ही योग, तन्त्र, कुंडलिनी, वेदान्त एवं सांख्य के महान विशेषज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

स्वामी सत्यानन्द जी बारह वर्षों तक गुरु के सान्निध्य में रहे। तदोपरान्त उनका परिव्राजक-जीवन प्रारम्भ हुआ। एक परिव्राजक के रूप में उन्होंने आठ वर्षों तक संपूर्ण भारत, अफगानिस्तान, बर्मा, नेपाल एवं श्रीलंका का पर्यटन किया। इस अवधि में उन्हें अनेक योगियों तथा सन्तों से मिलने का सुअवसर प्राप्त हुआ। समय-समय पर उन्होंने एकान्तवास भी किया तथा उसका उपयोग योग की तकनीकों को प्रतिपादित एवं उन्हें परिष्कृत करने में किया, ताकि मानवता को कष्टों से त्राण मिल सके।

सन् १९६३ में उनके सामने उनका लक्ष्य स्पष्ट हो गया। तब उन्होंने 'अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल' की स्थापना की। चूँकि अपने मुंगेर-प्रवास की अवधि में उन्हें लक्ष्य की अनुभूति हुई, अतः वे वहीं गंगा के किनारे निवास करने लगे। आध्यात्मिक मार्ग पर लोगों का पथ-प्रदर्शन करने हेतु उन्होंने सन् १९६४ में मुंगेर में ही 'बिहार योग विद्यालय' की स्थापना की। शीघ्र ही संपूर्ण भारत एवं विदेशों से जिज्ञासु एवं साधक इस विद्यालय में आने लगे। स्वामी सत्यानन्द जी की शिक्षा तेजी से संपूर्ण विश्व में फैलने लगी।

सन् १९६८ में उन्होंने व्यापक रूप से विश्व-यात्रा की। उनका उद्देश्य सभी जातियों, मतों, धर्मों एवं राष्ट्रीयता के लोगों के बीच प्राचीन यौगिक अभ्यासों को लोकप्रिय बनाना था। उसके बाद स्वामी सत्यानन्द सरस्वती विश्व-विख्यात हो गए। वे सर्वत्र योग एवं तंत्र के अग्रगण्य प्रतिपादक माने जाते हैं। वे विश्व के विभिन्न भागों में रहनेवाले असंख्य आध्यात्मिक साधकों के मार्गदर्शक तथा अनेक योगाश्रमों एवं योग-केन्द्रों के प्रेरणा-स्रोत हैं।

सन् १९८३ में स्वामी जी ने स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती को अपना उत्तराधिकारी तथा बिहार योग विद्यालय एवं उससे सम्बद्ध योग-केन्द्रों का अध्यक्ष नियुक्त किया। सन् १९८४ में उन्होंने 'शिवानन्द मठ' की स्थापना की। यह एक दातव्य सामाजिक संस्था है। उसी वर्ष स्वामी जी ने योग की तकनीकों पर वैज्ञानिक शोध करने के उद्देश्य से 'योग शोध संस्थान' की स्थापना की। यद्यपि ये दोनों ही संस्थाएँ स्वतंत्र हैं, किन्तु वे बिहार योग विद्यालय से समन्वय रखते हुए कार्य करती हैं।

सन् १९८८ में स्वामी सत्यानन्द जी ने मुंगेर छोड़कर एक परिव्राजक संन्यासी के रूप में भारत के सिद्ध-स्थलों की तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ की। तदोपरान्त उन्होंने क्षेत्र संन्यास ले लिया एवं अपनी संस्थाओं तथा पूर्व की सारी व्यवस्थाओं का परित्याग कर दिया।

अब स्वामी जी ने एक परमहंस संन्यासी की जीवन पद्धति अपना ली है। अतः अब वे सिर्फ अपने अनुयायियों एवं संस्थाओं के लिए ही नहीं, बल्कि एक विश्वव्यापी दृष्टिकोण से साधनारत हैं।

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती का जन्म सन् १९६० में हुआ। २६ जुलाई १९६४ को वे बिहार योग विद्यालय में आये तथा संन्यास ग्रहण कर गुरु के योग-प्रचार-अभियान में शामिल हुए। यहीं उनकी गुरुकुल शिक्षा प्रारम्भ हुई।

१ मार्च १९७० को उन्हें विदेश भेजा गया। उन्हें आयरलैण्ड, इंग्लैण्ड एवं अन्य यूरोपीय देशों में योगाश्रमों तथा योग-केन्द्रों की स्थापना तथा विकास का कार्य सौंपा गया। आगामी तेरह वर्षों में उन्होंने उत्तर और दक्षिण अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया सहित सारे विश्व की यात्रा की। इस यात्रा के क्रम में वे योग कार्यक्रमों का संचालन तथा विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन करते रहे।

१९ जनवरी १९८३ को वे भारत वापस बुलाये गये तथा अपने गुरु स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा बिहार योग विद्यालय के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। उस समय से वे बिहार योग विद्यालय तथा सन् १९८४ में स्थापित दो नई संस्थाओं–शिवानन्द मठ एवं योग शोध संस्थान–का संचालन कुशलतापूर्वक कर रहे हैं।

स्वामी निरंजन जी अपने गुरु के सुयोग्य उत्तराधिकारी हैं। विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले हजारों योग साधक उनका सम्मान एक महान योगी तथा प्रबुद्ध आध्यात्मिक गुरु के रूप में करते हैं। चार वर्ष की छोटी उम्र में ही अपने गुरु स्वामी सत्यानन्द जी की छत्रछाया में उनका आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्रारम्भ हुआ और उनतीस वर्ष की अवस्था में, ३१ दिसम्बर १९८९ की मध्य रात्रि में उनके गुरु ने उन्हें 'परमहंस' की दीक्षा से विभूषित किया।

गहन आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ स्वामी निरंजन जी में बालसुलभ सरलता एवं मधुर विनोदशीलता है। इन गुणों के कारण वे अपने सम्पर्क में आनेवाले सभी लोगों का मन और हृदय जीत लेते हैं।

बिहार योग विद्यालय

बिहार योग विद्यालय परमहंस सत्यानन्द सरस्वती द्वारा प्रेरित एवं स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के मार्ग-निर्देशन में आयोजित किये जा रहे योग कार्यक्रमों का मुख्य केन्द्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल का मुख्यालय है। इसकी स्थापना सन् १९६४ में गृहस्थों तथा संन्यासियों, दोनों को ही योग का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से की गई थी। उसी समय से यह अनूठी संस्था जन-समुदाय को योग की प्राचीन पद्धति की ओर वापस लाने के प्रयास में रत है तथा सबके आकर्षण का केन्द्र बनी हुई है। सन् १९६८ में यहाँ प्रथम योग शिक्षक-प्रशिक्षण सत्र यूरोपीय साधकों के लिए आयोजित किया गया। तब से इस विद्यालय का अनवरत विकास होता जा रहा है और अब यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में विख्यात है। भारत तथा विदेश में इसकी अनगिनत शाखायें तथा सम्बद्ध केन्द्र हैं।

वर्तमान बिहार योग विद्यालय के अन्तर्गत दो आश्रम हैं–पहला, शिवानन्द आश्रम जहाँ इसके कार्यकलापों का श्रीगणेश हुआ तथा दूसरा, एक पहाड़ी पर स्थित नया आश्रम गंगादर्शन, जो थोड़ी ही दूर पर प्रवाहित होती हुई गंगा की अनुपम छटा से विभूषित है। अत्यन्त सुन्दर बाग-बागीचों, हरे-भरे धान के खेतों तथा आश्रम को अर्द्धवृत्त में आवेष्टित करती गंगा के मनोरम परिदृश्य में स्थित इस नये आश्रम में सहज प्राकृतिक मनोहारी वातावरण है, जो साधक के लिए समग्र योगमय जीवन की नैसर्गिक झाँकी प्रस्तुत करता है।

यहाँ सिखाई जानेवाली समग्र-योग की पद्धतियों की आधारशिला है–व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहयोगी विधियों का समन्वय। योग साधना की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए स्थानीय तथा आवासीय विद्यार्थियों हेतु प्रशिक्षित संन्यासियों द्वारा लघु तथा दीर्घ अवधि के योग सत्रों का संचालन किया जाता है। क्रियायोग सत्रों का भी आयोजन होता रहता है। चिकित्साविज्ञान में दक्ष स्वामियों की देखरेख में योग स्वास्थ्य-रक्षा सत्रों का संचालन किया जाता है।

योग शिक्षक-प्रशिक्षण सत्र यहाँ के क्रिया-कलापों का प्रमुख अंग है। एक माह की अवधि के ये सत्र १५ वर्ष से अधिक की आयु के लोगों के लिए आयोजित होते रहते हैं। इन सत्रों में प्रशिक्षित होने के उपरान्त प्रतिभागी अपने-अपने समुदाय के सदस्यों को सरल आसन एवं प्राणायाम का शिक्षण प्रदान करने के अधिकारी बन जाते हैं। उच्च योगाभ्यासों के प्रशिक्षण हेतु दीर्घकालीन सत्रों की भी व्यवस्था है।

अपनी विशिष्ट संन्यास-प्रशिक्षण पद्धति के कारण बिहार योग विद्यालय एक ख्याति-प्राप्त संस्था रही है। यह अपने ढंग की प्रथम संस्था है, जहाँ पर बड़े स्तर पर महिलाओं तथा विदेशी संन्यासियों को भी प्रशिक्षित किया जाता है। ८ से १४ वर्ष के बालक तथा बालिकाओं को गुरुकुल प्रशिक्षण सत्र के माध्यम से विशिष्ट यौगिक मार्गदर्शन प्रदान किया जाता है।

आश्रम के आधुनिक प्रिंटिंग प्रेस में प्रकाशनों से संबंधित सभी कार्य किये जाते हैं। अनेक उपकरणों से सुसज्जित यह प्रेस पूर्णतया संन्यासियों तथा कर्मयोगियों द्वारा संचालित किया जाता है। वे कम्पोजिंग से लेकर मुद्रण संबंधी सभी कार्य करते हैं।

बिहार योग विद्यालय द्वारा सम्मेलनों, गोष्ठियों तथा व्याख्यानों के माध्यम से देश-देशान्तर में योग का प्रचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस संस्था में भारत या विश्व के किसी भाग में योग सम्मेलनों, गोष्ठियों एवं व्याख्यान-यात्राओं के संचालन के लिए प्रशिक्षित संन्यासी भी उपलब्ध हैं। इन आयोजनों से योग में रुचि रखने वाले ऐसे लोगों को बड़ी सहायता मिलती है, जिनके लिए मुंगेर या इस आश्रम की किसी अन्य शाखा में जाकर अपनी शंकाओं का समाधान कर पाना संभव नहीं होता।

शिवानन्द मठ

शिवानन्द मठ एक दातव्य संस्था है। इसकी स्थापना सन् १९८४ में स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा अपने गुरु स्वामी शिवानन्द जी की स्मृति में की गई। इसका लक्ष्य समाज के शोषित-पीड़ित एवं पिछड़े वर्गों के विकास एवं उत्थान के लिए आवश्यक सुविधायें उपलब्ध कराना है। इस हेतु ग्रामीण समुदाय की उन्नति पर विशेष बल दिया जाता है।

अब तक शिवानन्द मठ द्वारा कई परियोजनायें कार्यान्वित की जा चुकी हैं। उनमें पाँच सौ से अधिक योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति का वितरण, प्राकृतिक आपदाओं से प्रभावित क्षेत्रों में गरीब लोगों के बीच अन्न-वस्त्र का निःशुल्क वितरण, जलापूर्ति की सुविधा प्रदान करने हेतु मुंगेर नगर के अन्दर ५० नलकूप लगाना एवं वहाँ पर सन् १९९० में एक सुन्दर प्राइवेट बस-स्टैण्ड का निर्माण आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त मठ के कार्यकर्त्ता 'भ्रमणशील अस्पताल' के साथ आस-पास के गांवों का पाक्षिक भ्रमण करते हैं तथा ग्रामीणजनों एवं उनके पशुओं के लिये निःशुल्क चिकित्सा सुविधायें प्रदान करते हैं।

भावी योजनाओं के अन्तर्गत गाँवों का अधिग्रहण, आदर्श गाँवों का निर्माण तथा पिछड़े क्षेत्रों के लिये शैक्षणिक सुविधाओं एवं पाठ्य-पुस्तकों का प्रावधान आदि शामिल हैं। लम्बी अवधि के लिए निर्धारित लक्ष्यों के अन्तर्गत सूखा-प्रभावित क्षेत्रों में तालाबों, कुओं तथा नलकूपों का प्रावधान; विद्यालयों, पुस्तकालयों और छात्रावासों का निर्माण; अनाथालयों, विश्रामालयों, आश्रमों, चिकित्सालयों, उपचर्यागृहों, स्वास्थ्य-केन्द्रों, प्राथमिक उपचार केन्द्रों तथा विकलांगों के लिये आश्रम की व्यवस्था आदि सम्मिलित किये गये हैं।

ये सेवायें समस्त जातियों एवं धर्मों के लोगों को प्रदान की जाती हैं। अग्रगामी योजनाओं के लिए कुछ गाँवों का चयन कर लिया गया है। उनकी स्वास्थ्य एवं शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का सर्वेक्षण भी किया गया है, ताकि भविष्य में समय-समय पर दी जानेवाली सहायता का अनुमान लगाया जा सके।

योग शोध संस्थान

योग शोध संस्थान की स्थापना सन् १९८४ में स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा की गई। इस शोध संस्थान का उद्देश्य वैज्ञानिक ढाँचे के अन्तर्गत योग का सही मूल्यांकन प्रस्तुत करना तथा मानव के भावी विकास के सन्दर्भ में इसे एक आवश्यक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना है। प्रारम्भ में इस शोध के अन्तर्गत योग के उपचारात्मक पहलुओं का अनुसन्धान समाविष्ट किया जायेगा।

संस्थान की प्रथम नियोजित परियोजना के रूप में श्वसन रोगों के पंचवर्षीय अध्ययन का चयन किया गया है। इसका कारण यह है कि इन रोगों से लोगों की विशाल संख्या बहुत अधिक प्रभावित होती है। प्रकाशित संवादों, विवरणों एवं प्रतिवेदनों से पता चलता है कि नियमित योगाभ्यास से इन रोगों में पर्याप्त लाभ मिलता है।

इस शोध कार्यक्रम का उद्घाटन गंगादर्शन आश्रम में सन् १९८९ की बसंत पंचमी के शुभ अवसर पर सम्बद्ध चिकित्सा शास्त्रियों की एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में किया गया। इसे भारत एवं ऑस्ट्रेलिया में साथ-साथ संचालित किया जा रहा है। भारत एवं ऑस्ट्रेलिया के विभिन्न भागों में रहनेवाले श्वसन रोगियों को इस अध्ययन का आधार बनाया गया है तथा उनसे सम्बन्धित आँकड़े इन देशों में कार्यरत 'योग चिकित्सा शोध केन्द्रों' के माध्यम से एकत्र किये जायेंगे।

कार्यक्रम के प्रारम्भ से ही रोगियों का परीक्षण किया जायेगा। परीक्षण की इस प्रक्रिया में शोध संस्थान के कम्प्यूटर-युक्त स्पिरोमीटर द्वारा उनके सम्पूर्ण फेफड़ों की क्रियाशीलता की जाँच भी शामिल है। सहभागियों को अनेक योगाभ्यास भी सिखाये जायेंगे और बाद में एक निश्चित अवधि तक उन पर अभ्यास के परिणामस्वरूप पड़नेवाले प्रभावों का अध्ययन किया जायेगा।

●

तन्त्र दर्शन

विषय-सूची

			पृष्ठांक
	आमुख		
प्रथम अध्याय :	भूमिका		१
	१.	वेद और तन्त्र	१
	२.	लक्ष्य और विधियाँ	२
	३.	तन्त्र का आधार–यथार्थ जीवन	३
	४.	तन्त्र की श्रेणियाँ	३
	५.	साधनात्मक विभाजन	५
	६.	प्रमुख विभाजन	६
	७.	तन्त्र शास्त्र और शरीर विज्ञान	८
	८.	गुण और स्वभाव	११
	९.	तन्त्र शास्त्र की विषय-वस्तु	१२
	१०.	सिद्धान्त	१३
द्वितीय अध्याय :	शैव सिद्धान्त		२७
	१.	पाशुपत सिद्धान्त	२७
	२.	शैव सिद्धान्त : द्वैतवाद	२९
	३.	लकुलीश पाशुपत सिद्धान्त	२९
	४.	विशिष्टाद्वैत शैव सिद्धान्त	४६
	५.	विशेषाद्वैत शैव सिद्धान्त	५०
	६.	नन्दिकेश्वर शैव सिद्धान्त	५७
	७.	रसेश्वर शैव सिद्धान्त	६०
	८.	काश्मीर शैव सिद्धान्त	६३
तृतीय अध्याय :	शाक्त तन्त्र–दस महाविद्याएँ		६७
	१.	महाविद्या काली	७३
	२.	महाविद्या तारा	८०
	३.	महाविद्या त्रिपुर सुन्दरी	८५

	४.	महाविद्या भुवनेश्वरी	९५
	५.	महाविद्या त्रिपुर भैरवी	१००
	६.	महाविद्या छिन्नमस्ता	१०७
	७.	महाविद्या धूमावती	११५
	८.	महाविद्या वगलामुखी	११९
	९.	महाविद्या मातंगी	१२२
	१०.	महाविद्या कमला	१२५
चतुर्थ अध्याय :		वैष्णव तन्त्र	१३०
	१.	वैखानस सिद्धान्त	१३०
	२.	पांचरात्र सिद्धान्त	१३१
	३.	पांचरात्र साहित्य	१३३
	५.	साधना-उपासना	१३४
पंचम अध्याय :		सौर्य तन्त्र	१३५
	१.	मुख्य और गौण सिद्धान्त	१३५
	२.	स्वरूप, अवस्थाएँ और प्रतीक	१३६
	३.	उपासना	१३७
षष्ठ अध्याय :		गायत्री तन्त्र	१३९
	१.	विषय-प्रवेश	१३९
	२.	मन्त्र	१४०
	३.	स्वरूप	१४१
	४.	सौरतंत्र में देवी के रूप	१४१
	६.	साधना	१४२
	७.	यन्त्र	१४३
सप्तम अध्याय :		गाणपत्य तन्त्र	१४४
	१.	विषय-प्रवेश	१४४
	२.	स्वरूप	१४४
	३.	उपासना	१४५
अष्टम अध्याय :		आचार	१४६
	१.	वेदाचार	१४६
	२.	वैष्णवाचार	१४७
	३.	शैवाचार	१४७

	४.	दक्षिणाचार	१४८
	५.	वामाचार	१४९
	६.	सिद्धान्ताचार	१४९
	७.	कौलाचार	१५०
	८.	उपतन्त्रीय आचार	१५१
	९.	साधना की अवस्थाएँ	१५३
	१०.	साधना के साधन	१५३
	११.	विघ्न और व्यवधान	१५६
	१२.	साधना हेतु प्रमुख आवश्यकताएँ	१५६
नवम अध्याय :		अति महत्त्वपूर्ण पक्ष	१६०
	१.	गुरु	१६०
	२.	शिष्य	१६३
	३.	दीक्षा	१६७
दशम अध्याय :		साधना पद्धतियाँ	१७१
	१.	वैदिक तथा यौगिक साधना पद्धति	१७१
	२.	तांत्रिक साधनाएँ	१७२
	३.	मन्त्र योग	१७२
	४.	लय योग	१७२
	५.	कुण्डलिनी योग	१७३
एकादश अध्याय :		गुप्त साधनाएँ	१७४
	१.	क्रिया योग	१७४
	२.	शव साधना	१७४
	३.	पंचतत्त्व या पंचमकार साधना	१७५
	४.	कुमारी पूजा	१८१
	५.	काया सिद्धि	१८४
	६.	पंचोपासना	१८४
	७.	शक्ति साधना	१८५
	८.	षोडशोपचार पूजा	१८६
	९.	पंचाग्नि साधना	१८७
	१०.	जल साधना	१८७
	११.	चक्र-पूजा	१८८

आमुख

मानव जब से धरती पर आया है, उसी क्षण से वह प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य परिस्थितियों से संघर्ष करता रहा है। युगों के साथ-साथ संघर्ष का स्वरूप बदलता रहा है, संघर्ष के उपकरण बदलते रहे हैं और उनके विधि-विधान बदलते रहे हैं, पर संघर्ष यथावत् चलता चल रहा है। फिर भी मानव की अदम्य जिजिविषा ने संघर्ष से कभी हार स्वीकार नहीं की है। प्रत्येक आघात के बाद उसने एक नई विधा का अनुसन्धान किया है। सहस्राब्दियों से वह इनसे जूझता आ रहा है, अपने अन्वेषणों को जाँचता-परखता आ रहा है और प्रत्येक युग में नये समाधान प्रस्तुत करता आ रहा है।

विश्व के जितने भी दर्शन हैं, वे मानव के शाश्वत संघर्ष की कथाएँ हैं, उसके उन्मुक्त चिन्तन के पड़ाव हैं तथा ऋषियों, मनीषियों एवं तत्त्व वेत्ताओं का मानस मंथन हैं। इस अनंत प्रयास, इस अविराम पुरुषार्थ और अहर्निश चिन्तन का एकमात्र उद्देश्य रहा है—आनन्द की प्राप्ति और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति।

दुःख का उत्स क्या है ? आनंद का स्रोत क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर सबने अपने ढंग से दिया है। यहाँ सबके अपने तर्क हैं, अपने प्रमाण हैं और अपनी व्याख्याएँ हैं। किन्तु इतना तो प्रायः सभी मानते हैं कि दुःख का कारण यह व्यक्त प्रकृति है, जो नश्वर है, परिवर्तनशील है, देशकाल सापेक्ष है। इसमें आनन्द नहीं है, सुख नहीं है; यह तो मात्र मरुस्थल की मृग-मरीचिका है। "पुनरपि जननम्, पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननी जठरे शयनम्.......।"

आनन्द का मूल, वह अगम, अगोचर और अव्यक्त सत्ता है, जिसे नाम और रूप में समेटा नहीं जा सकता। तब प्रश्न उठता है कि आखिर उसे प्राप्त कैसे किया जाय और इस मृग-मरीचिका से त्राण कैसे मिले ?

भारत की भूमि उन्मुक्त चिन्तन के क्षेत्र में अधिक उर्वरा रही है, जहाँ प्रतिभा पर कभी प्रतिबन्ध नहीं रहा। परस्पर विरोधी विचारधाराएँ और दर्शन साथ-साथ विकसित, पुष्पित और पल्लवित होते रहे हैं। हमारी संस्कृति ने दो मुख्य विचारधाराएँ प्रस्तुत की हैं—वैदिक और तान्त्रिक। वैसे तन्त्र की परम्परा को वेदों से भी प्राचीन माना गया है, पर दोनों लगभग समानान्तर ही चली हैं, कभी एक-दूसरे का आलिंगन किया है, तो कभी एक-दूसरे को उपालम्भ भी दिये हैं। एक ओर वैदिक दर्शन अपनी प्रभा से अविद्या की तमिस्रा, जो सभी क्लेशों का मूल है, का नाश करता आ रहा है, तो वहीं तन्त्र दर्शन अपनी शीतल ज्योत्सना से रात्रि के गहन अंधकार में भी मानव का पथ प्रदर्शन करता रहा है।

समाज में तन्त्र के विषय में अनेक भ्रामक विचार प्रचलित रहे हैं, पर यदि पूर्वाग्रह रहित भाव से इसका निष्पक्ष विवेचन किया जाय, तो यह दर्शन भी उतना ही सहज ग्राह्य और शुभ

प्रतीत होगा। भ्रामक विचारों के पैर नहीं होते। उनका निराकरण स्वतः हो जाता है। यद्यपि तन्त्र को षट्दर्शनों में नहीं माना जाता पर इसने मानव जीवन को बड़े निकट से स्पर्श किया है। जीवन की जो तात्कालिक अनुभूतियाँ सामान्य मानव को प्राप्त होती हैं, भले ही वे कभी-कभी नकारात्मक ही क्यों न हों, तन्त्र उन्हें अपना सोपानाधार बनाता है। उसके लिये कुछ भी त्याज्य नहीं है, निकृष्ट नहीं है। जीवन के सभी पक्षों के प्रति उसका दृष्टिकोण अत्यंत सकारात्मक एवं संवेदनशील रहा है। जिन्हें जीवन की बुराइयाँ मानते हैं, तन्त्र उन्हें भी स्वीकारता है और वहीं से उर्ध्वमुखी यात्रा प्रारम्भ करने में मनुष्य की सहायता करता है।

तन्त्र बुद्धि विलास नहीं है। यह पूर्णतया व्यावहारिक साधन है। अतः ग्रन्थों में इसकी साधनाओं के विषय में विस्तार से शायद पर्याप्त साम्रगी कहीं भी न मिले। इसकी परम्परा में गुरु या मार्गदर्शक की महत्ता सर्वोपरि है। तन्त्र की व्यावहारिक साधनाएँ गुरु के मार्गदर्शन में की जाती हैं, क्योंकि साधक की प्रकृति, गुण, सामर्थ्य एवं प्रगति के अनुसार गुरु साधनाएँ विहित करता है और उन्हें अपने पूर्ण मार्गदर्शन में सम्पन्न कराता है। साधना में और उसके विधि-विधान में त्रुटियाँ होने पर उसके फल भी तदनुरूप प्रभावित होते हैं। अतएव तन्त्र की साधनाएँ गुरु के अत्यन्त सूक्ष्म, व्यक्तिगत पर्यवेक्षण में होनी अत्यन्त अनिवार्य है। साधनाएँ श्रद्धा से कीजिये या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, उनका फल निश्चित होता है, ऐसा परमहंसजी का कहना है, परन्तु साधना के विधि-विधान में प्रमाद होने पर अनिष्ट कार्यफलों की भी संभावना हो जाती है।

तन्त्र के गूढ़ रहस्यों और उसके व्यापक रूप से उपलब्ध और अनुपलब्ध तथ्यों को इस लघुकाय ग्रन्थ में समेटना गागर में सागर समेटने के समान होगा। फिर भी तन्त्र की विभिन्न परम्पराओं, दर्शनों, साधना पद्धतियों और उनकी शब्दावली को यथासंभव, यथातथ्य स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। तन्त्र के विषय में प्रचलित भ्रांतियों का भी निवारण करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय संस्कृति की यह अमूल्य धरोहर, जो कालक्रम में विडम्बनाओं एवं विकृतियों के प्रदूषण से अपनी रक्षा नहीं कर सकी, इसका कारण इसका रहस्यवादी स्वरूप ही प्रतीत होता है। समय के प्रवाह में अनेक ग्रन्थ लुप्तप्राय हो गये हैं। अतः भ्रांतियों को भी पैर जमाने का अवसर मिलता रहा है। उदाहरणस्वरूप पंचमकार साधना, जो तन्त्र का बहुचर्चित एवं अति मिथ्यावबोधित अंग रहा है, उसके सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाण एवं समुचित व्याख्या देकर उसे स्पष्ट किया गया है। तन्त्र में पशु, पाश और पति जितने महत्त्वपूर्ण हैं उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं साधक, साधना और गुरु। १९९१ में संचालित एकवर्षीय संन्यास सत्र में तंत्र के सम्बन्ध में परमहंस निरंजनानन्द के प्रवचनों की इस पुस्तकाकार प्रस्तुति से तन्त्र के जिज्ञासुओं एवं साधकों को समुचित मार्गदर्शन, सही दिशा-निर्देश मिलेगा, यही आशा और विश्वास है।

भूमिका

तन्त्र के विषय में समाज में तथा लोगों के मन में अनेक प्रकार की धारणाएँ हैं। कुछ इसे जादू-टोने की विद्या मानते हैं, तो कुछ इसे श्मशान साधना की एक पद्धति मानते हैं। लेकिन तन्त्र का वास्तविक स्वरूप यह नहीं है।

यदि शब्द-कोश के आधार पर तन्त्र के अर्थ को जानने का प्रयत्न करें, तो उसमें अनेक विचार मिलते हैं। प्रथम विचार के अनुसार यह एक सिद्धांत है तो द्वितीय के अनुसार यह श्रुति की एक शाखा है। तृतीय के अनुसार 'इति कर्त्तव्यम्' अर्थात् कर्त्तव्यों का एक समूह है, कर्त्तव्य पालन करने की शिक्षा है। इस प्रकार की अनेक परिभाषाएँ शब्द-कोशों में मिलती हैं।

वेद और तन्त्र

यह सामान्य मान्यता है कि तन्त्र शास्त्र अवैदिक है, किन्तु यह भ्रामक है। वेदों में भी तन्त्र शब्द का प्रयोग हुआ है। तन्त्र शास्त्र के ग्रन्थ वेदों के सिद्धांतों को सहारा देकर उन्हें एक नई दिशा प्रदान करते हैं। अतः तन्त्र को अवैदिक या नास्तिक मानना अज्ञानता है। वेद में तन्त्र शब्द का प्रयोग एक यन्त्र, एक मशीन के लिये किया गया है, जिससे कपड़ा बुनते हैं, सिलाई करते हैं। उक्त स्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार एक तन्त्र द्वारा कपड़े की सिलाई और बुनाई होती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपने जीवन में तन्त्र सिद्धान्त का सहारा लेना पड़ता है।

कालिदास ने तन्त्र शब्द का अर्थ शासन व्यवस्था से लगाया था। आज भी शासन के विभिन्न स्वरूपों के लिये प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, अधिनायक-तन्त्र आदि शब्दों का प्रयोग होता है।

चिन्तकों के मतानुसार तन्त्र शब्द की उत्पत्ति तन् धातु से हुई है, जिसका मतलब होता है विस्तार करना, फैलाना। किसका विस्तार ? परम्परा के अनुसार इसका तात्पर्य ज्ञान के, विद्या के विस्तार से है। यहाँ विचारधारा यह है कि जब तक मनुष्य के जीवन में विद्या का विस्तार और ज्ञान का उद्भव नहीं होता तब तक वह अज्ञानता के बंधन से

मुक्त नहीं हो सकता । ऐसा एक मन्त्र भी आया है : "तन्यते विस्तारयते ज्ञानमनेन", अर्थात् विद्या या ज्ञान का विस्तार ही तन्त्र की परिभाषा है । शत्पथ ब्राह्मण में भी तन्त्र सिद्धान्त के विषय में कहा गया है कि यह जीवन के मूल दर्शन को प्रस्तुत करता है तथा जीवन के मूल सिद्धान्तों की शिक्षा देता है ।

इन समस्त सन्दर्भों से मालूम पड़ता है कि तन्त्र दर्शन और वैदिक दर्शन में वस्तुतः कोई मतभेद नहीं था; ये एक-दूसरे की पूरक विधाएँ थीं ।

लक्ष्य और विधियाँ

तन्त्र के अनेक लक्ष्य और विधियाँ हैं । इसका प्रथम लक्ष्य है, जीवन में एक आध्यात्मिक दर्शन को स्थापित करना । इसका दूसरा लक्ष्य है, जीवन में अपनाने के लिये एक पद्धति की शिक्षा देना । तीसरा लक्ष्य है, गुणों (सात्विक, राजसिक, तामसिक) में परिवर्तन लाना । यदि कोई व्यक्ति तामसिक है और अपने आप को बन्धन-मुक्त करना चाहता है, तो उसके स्वभाव में परिवर्तन का होना आवश्यक है । इसी प्रकार राजसिक व्यक्ति में भी परिवर्तन का होना आवश्यक है ।

तन्त्र शास्त्र की विधियों में विद्या या शिक्षा, चर्या और क्रिया प्रमुख हैं । विद्या या शिक्षा के अन्तर्गत आध्यात्मिक दर्शन तथा साधनात्मक पक्ष का वर्णन आता है । चर्या का सम्बन्ध जीवन के अनुशासन, नियम और व्यवहार से है । क्रिया का सम्बन्ध कर्मकाण्ड की आवश्यक शिक्षा से है । ये सभी तंत्रशास्त्र के अंग बन गये हैं ।

परमहंस सत्यानन्द सरस्वती ने कहा है कि तन्त्र शब्द का सम्बन्ध जीवन में चेतना और शक्ति से है । तन् धातु या तनोति शब्द, जिसका मतलब होता है विस्तार करना, जिसका वास्तविक तात्पर्य है, हमारी चेतना का विस्तार । जब तक जीवन में चेतना का विस्तार नहीं होता है, तब तक व्यक्ति किसी भी प्रकार की विद्या को या शिक्षा को अपना नहीं सकता है । इस अवस्था को बुद्धि का विस्तार कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि यह बुद्धि के स्तर के परे का अनुभव है । चेतना के विस्तार से जीवन में अनेक अनुभूतियाँ जागृत होती हैं । इन अनुभूतियों के द्वारा मानव बाह्य, स्थूल या पदार्थमय जगत को पार कर अपने आपको परा अवस्था में स्थित कर सकता है ।

'त्र' शब्द का तात्पर्य परमहंसजी बतलाते हैं 'त्रायति' से । त्रायति का अभिप्राय होता है, स्वतन्त्र करना, छोड़ना या बन्धन-मुक्त करना । जीवन का एक पहलू है चेतना, दूसरा पक्ष है शक्ति। मनुष्य के भीतर में आन्तरिक, अतीन्द्रिय और सुषुप्त शक्ति छिपी हुई है । अपनी बहिर्मुखता के कारण वह उसका उपयोग नहीं कर पाता है । 'त्रायति' का तात्पर्य है, उस अदृश्य शक्ति को स्वतन्त्र या मुक्त करना, उसे जीवन में अनुभव करना, उसका उपयोग या प्रयोग करना । इसीलिये तन्त्र को एक शास्त्र की संज्ञा दी गई है ।

तन्त्र का आधार : यथार्थ जीवन

तन्त्र षड्‌दर्शनों में नहीं आता। दर्शनों का आधार है तर्क और बुद्धि। वे जगत को माया के रूप में तथा ईश्वर को वास्तविक सत्य के रूप में मानते हैं। कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति के बाद मनुष्य के दुःखों का अंत हो जाता है, लेकिन तन्त्रशास्त्र कहता है कि जीवन को जीते समय तत्काल के जो अनुभव हो रहे हैं, चाहे वे नकारात्मक ही क्यों न हों, उन्हें सोपानाधार के रूप में स्वीकार करना चाहिये। अगर जीवन में बुराई भी है, तो आगे बढ़ने के लिये उस बुराई का सहारा लेना चाहिये। जीवन का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं है, जिसका सृष्टि में कोई महत्व नहीं हो, कोई स्थान या पहचान नहीं हो। अगर मनुष्य में तामसिकता प्रबल है, तो वही उसकी पहचान है, वहीं से उसे आगे बढ़ना है। अगर व्यक्ति भोगी है, तो उसी धरातल से ऊपर उठना है। चेतना के विस्तार से मनुष्य स्वयं को पहचानने लगता है, स्वयं की परिस्थिति को जानकर, समझ कर वह ऊपर उठने का प्रयत्न कर सकता है।

तन्त्र की श्रेणियाँ

तन्त्र शास्त्र के प्रणेता भगवान शिव माने गये हैं। तन्त्र शास्त्र के ग्रन्थ शिव और पार्वती के बीच के संवाद के रूप में प्रस्तुत होते हैं। वैसे तो तन्त्र की तीन मुख्य श्रेणियाँ हैं। एक हैं वैष्णव तन्त्र जिन्हें संहिता की संज्ञा मिली है। दूसरे हैं शैव तन्त्र जिनको आगम के नाम से जाना जाता है और तीसरे हैं शाक्त तन्त्र जिन्हें निगम कहते हैं।

'ईशान गुरुदेव पद्धति' नामक ग्रन्थ में बतलाया गया है कि तन्त्र पद्धति को छः प्रकार से समझा जा सकता है। ये वस्तुतः तन्त्र की छः विचार धाराएँ हैं –

पशु – जो जीवात्मा है।
पाश – जो बन्धन हैं।
पति – जो देवता है।
शक्ति – जिसके द्वारा कार्य सम्पन्न होता है।
विचारशक्ति – जिसके द्वारा हम इनकी क्रिया, सिद्धांत या दर्शन को समझते हैं।
क्रियाचार – जिसके द्वारा साधना मार्ग में आगे बढ़ने की विधियाँ सीखते हैं।

वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों के सिद्धांतों को इन्हीं छः विचारधाराओं के आधार पर समझाया जाता है।

पंचवक्त्र शिव

जिस भगवान को तन्त्रशास्त्र का प्रणेता माना जाता है, वे पंचानन शिव हैं। उन्हें पंचवक्त्र या पंचमुखी शंकर भी कहते हैं। इनके पाँच मुखों से ही तन्त्रविद्या का विस्तार हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने एक मुख से **अद्वैत तन्त्र** की तथा दो मुखों से **द्वैत-अद्वैततन्त्र** की परिभाषाएँ दी थीं। उनके जितने भी मुख हैं उन सबके अलग-अलग

नाम हैं । एक मुख का नाम है **'ईशान'**, जिसका अर्थ होता है चित्तशक्ति या चेतना । दूसरे मुख का नाम है **'तत्पुरुष'**, जिसका सम्बन्ध आनन्द की अनुभूति से है । तीसरे मुख का नाम है **'सद्योज्योति'** तथा इसका सम्बन्ध ज्ञान से है । चौथे मुख का नाम **'वामदेव'** है, जो इच्छा से सम्बन्धित है और पाँचवाँ मुख है **'अघोर'**, जो क्रिया से सम्बन्धित है । इस प्रकार भगवान शंकर के ये पाँच मुख भिन्न-भिन्न अनुभूतियों या अवस्थाओं के परिचायक हैं । इन्हीं से द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत तन्त्रशास्त्र की उत्पत्ति होती है ।

आगम, निगम और वैष्णव तन्त्र

सर्वप्रथम दस आगम तन्त्रों की चर्चा होती है । इन दस आगमों से अठारह ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं, जिन्हें **रौद्रागम** कहा जाता है । इन अठारह रौद्रागमों से चौसठ तन्त्र उत्पन्न होते हैं, जो आज प्रचलित हैं । इन चौसठ तन्त्रों का पारम्परिक नाम है **'भैरव आगम'** । इस प्रकार कुल बानबे आगम हो गये : दस शैव आगम, अठारह रौद्र आगम और चौसठ भैरव आगम । यहाँ बानबे विचारधाराएँ दिखलाई देती हैं और इन्हीं विचारधाराओं को सम्पूर्ण तन्त्र शास्त्र में **वैष्णव, शैव** और **शाक्त** तंत्रों में विभाजित किया गया है ।

आगम ग्रन्थों में शिव गुरु और पार्वती शिष्या हैं । निगम ग्रन्थों में शक्ति गुरु और शिव शिष्य हैं । निगम या शाक्त ग्रन्थ या शाक्त तन्त्र दस हैं, जिन्हें दस महाविद्या भी कहते हैं, यथा– **षोडशी तन्त्र** या षोडशी विद्या; **मातंगिनी तन्त्र** या मातंगिनी विद्या; **छिन्नमस्ता तन्त्र** या छिन्नमस्ता विद्या; आदि । दस के नाम हैं – काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, वगलामुखी, मातंगी और कमला ।

इसके बाद वैष्णव तन्त्र आते हैं, जिनकी संख्या अज्ञात है । वैष्णव तन्त्र में नारायण और शिव का संवाद है । इनमें कहीं पर नारायण गुरु है, तो कहीं पर शिव गुरु हैं । इनकी संख्या के सम्बन्ध में मतभेद हैं, उनकी संख्या की सही जानकारी संभवतः किसी को भी नहीं है । एक मान्यता यह भी है कि वैष्णव तन्त्र के मूल ग्रन्थ प्रचलित नहीं रहने के कारण लुप्त हो गये हैं ।

सदागम और असदागम

तन्त्र शास्त्र की पद्धति को दो भागों में विभाजित किया गया है : **सदागम** (सत् आगम) और **असदागम** (असत् आगम) । इन पद्धतियों को सत् आगम और असत् आगम में वर्गीकृत क्यों किया गया है ? इसका कारण है कि अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जब किसी ऐसी साधना पद्धति को अपनाया जाता है, जो तन्त्र परम्परा और सिद्धान्त के अनुरूप हो, तो वह सत् आगम कहलाता है । जो भी आचार संहिता, उपासना पद्धति या साधना पद्धति तन्त्रशास्त्र के अनुकूल है, वह सत् आगम में आती है, लेकिन यदि व्यक्ति विशेष को देखकर गुरु किसी इतर साधना का निर्देश देते हैं (जो

शास्त्र में लिखा नहीं है, किन्तु मान्य है, तो इसे असत् आगम कहते हैं। जो परम्परा या शास्त्र में उल्लिखित नहीं है, लेकिन साधना हेतु गुरु द्वारा प्रदत्त है, वह असत् आगम है। इससे स्पष्ट होता है कि सत् आगम है शास्त्रीय पद्धति और असत् आगम है व्यक्ति-सापेक्ष पद्धति।

साधनात्मक विभाजन

सम्पूर्ण तन्त्र समुदाय को साधना के अनुसार तीन भागों में विभक्त किया गया है– **१. दक्षिण मार्ग, २. वाम मार्ग** और ३. **मध्यम मार्ग**। दक्षिण सात्विक साधना का मार्ग है। इसमें साधक स्वयं को माध्यम, लक्ष्य या देवता बनाता है। योग दक्षिण मार्ग का अंग है। साधना की दूसरी पद्धति है, वाममार्ग जिसकी साधना शक्ति या शक्ति के मातृरूप से सम्बन्धित है। मध्यम मार्ग दोनों मार्गों का मिश्रण है। दक्षिण और वाममार्गों को क्रमशः दिव्य और कौलमार्ग भी कहते हैं। कौलमार्ग को कौलमत या कौलाचार भी कहते हैं, जो वाममार्ग की व्यापक साधना-पद्धति के अंतर्गत आता है। दक्षिण, वाम और मध्यम मार्गों को क्रमशः दिव्य, कौल और मध्यम मार्ग भी कहते हैं।

विषय-वस्तु के अनुसार भी तन्त्र ग्रन्थों का वर्गीकरण : **१. आगम, २. डामर, ३. यामल और ४. निगम** या शाक्त तन्त्र के रूप में किया गया है। सृष्टि, प्रलय, षट्कर्म, उपासना, अर्चना, पुरश्चरण और ध्यानादि क्रियाओं, विधियों और सिद्धान्तों का वर्णन जिनमें किया गया है, वे हैं आगम ग्रन्थ।

डामर का अर्थ है उत्तेजित होना। इसके अंतर्गत छः प्रकार के तन्त्रों का उल्लेख मिलता है : **१. योग तन्त्र, २. शिवतत्त्व तन्त्र, ३. दुर्गा तन्त्र, ४. सारस्वत तन्त्र, ५. ब्रह्मा तन्त्र** और **६. गान्धर्व तन्त्र**। इनकी पद्धतियों का सम्बन्ध नाद, मन्त्र, क्रिया तथा सामाजिक और व्यक्तिगत साधना के नियमों से रहता है, जिन्हें यम और नियम के नाम से जानते हैं।

यामल ग्रन्थ समूह में भी छः प्रकार के यामल होते हैं : **१. ब्रह्मा यामल, २. विष्णु यामल, ३. रुद्र यामल, ४. गणेश यामल, ५. रयि यामल** और **६. आदित्य यामल**। यामल शब्द का अर्थ होता है दो को जोड़ना या एक करना। इन ग्रन्थों में ज्योतिष, नित्यकर्म, आराधना, उपासना, युगधर्म, वर्णभेद और जातिभेद की चर्चा की गई है।

शाक्त तन्त्रों या निगम ग्रन्थों के विषय काफी व्यापक हैं। इनमें राजधर्म, युगधर्म, वर्ण-व्यवस्था, जातिभेद, सर्ग, उपसर्ग, सृष्टि, प्रलय इत्यादि की चर्चा की गई है। इनमें ज्योतिष, यन्त्र-निर्णय और यन्त्र-आकृति आदि भी सम्मिलित हैं। इनमें मातृ-शक्ति के अनेक यन्त्रों की साधना पद्धति भी समझायी गई है।

साधना पद्धतियाँ

साधना को भी तीन खंडों में विभाजित किया गया है : **१. स्थूल साधना, २. सूक्ष्म साधना** और **३. परा साधना**। स्थूल साधना में मूर्ति का प्रयोग किया जाता है। मूर्ति को

इष्ट या आराध्य मानकर साधना की जाती है। सूक्ष्म साधना में मूर्ति पूजा नहीं होती, यन्त्र और मन्त्र प्रयुक्त होते हैं। यन्त्र एक प्रतीक है, जिसे धारण कर साधना की जाती है। मन्त्र को मानसिक रूप से दुहराते हैं। परा साधना में किसी भी प्रकार की बाह्य वस्तु की सहायता नहीं ली जाती। इसका प्रारम्भ होता है – ध्यान से, एकाग्रता से, और इसका लक्ष्य होता है, मोक्ष। इस प्रकार साधना की तीन उपर्युक्त पद्धतियाँ बतलाई गई हैं।

जब व्यक्ति तन्त्र साधना प्रारम्भ करता है, तो उसे प्रायः एक बाह्य प्रतीक की आवश्यता होती है, जिसमें वह अपने आप को समर्पित कर सके। जब मन केन्द्रित या एकाग्र हो और उसे किसी बाह्य स्वरूप की आवश्यकता नहीं रहे तब आन्तरिक साधना प्रारम्भ होती है। यहाँ यन्त्र और मन्त्र का सहारा लिया जाता है। अन्त में आध्यात्मिक साधना के रूप में, ध्यान और मोक्ष का वर्णन किया गया है।

प्रमुख विभाजन

उपरोक्त विवरणों पर विचार करने के बाद सम्पूर्ण तन्त्र को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : दार्शनिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक पहलू को समझने के पहले तन्त्र दर्शन को समझना आवश्यक होगा। लेकिन तन्त्र दर्शन को भी समझने के पूर्व तान्त्रिक सभ्यता और वैदिक सभ्यता की समानताओं को समझना आवश्यक है।

उद्भव और विकास

तन्त्र शास्त्र के आधुनिक चिन्तकों और शोध-कर्त्ताओं के ज्ञान का केन्द्र सिन्धु घाटी की सभ्यता है। सिन्धु घाटी की सभ्यता की जितनी भी मूर्तियाँ, चित्र या अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें शक्ति, शिवलिंग या तन्त्र से सम्बन्धित यन्त्रों के चित्र और उल्लेख प्रमुख हैं। पुरातत्त्व विभाग के अनुसार सिन्धु-घाटी सभ्यता लगभग तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व की है। इसके पूर्व भी यह सिद्धांत तथा विज्ञान तो अवश्य रहा होगा। बीच की अवधि में तन्त्र गुप्त हो गया। पुनः इसकी जागृति होती है ७वीं और १२वीं शताब्दियों के मध्य। इस लम्बी अवधि में तन्त्र की अनेकों शाखाओं और मतों का उद्भव होता है।

बंगाल, बिहार, असम, महाराष्ट्र और गुजरात आदि प्रान्तों में तन्त्र बड़े व्यापक रूप में प्रचलित था। कहावत है कि बंगाल में तन्त्र की उत्पत्ति होती है, मिथिला में उसको परिष्कृत किया जाता है, महाराष्ट्र में उसका अभ्यास किया जाता है और गुजरात में वह समाप्त हो जाता है :

''गौड़े प्रचारिता विद्या, मैथिले प्रबलीकृता।
क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्रे, गुर्जरे प्रलयं गता ॥''

(गौड़ देश से इस विद्या का प्रचार प्रारम्भ होता है, मिथिला में यह प्रबल रूप धारण करती है, महाराष्ट्र में इसका प्रभाव दिखलाई देता है और गुजरात में यह समाप्त हो जाती है।)

इस सम्बन्ध में एक और तथ्य भी विचारणीय है : अधिकांश शक्तिपीठ बंगाल, असम और बिहार में ही हैं। असम और बंगाल गौड़ क्षेत्र में आते हैं। महाराष्ट्र और गुजरात में भी अनेक शक्तिपीठ हैं। शक्तिपीठों के ये मुख्य स्थान हैं। इससे मालूम पड़ता है कि तन्त्र का प्रचलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक था। दोनों छोरों के बीच में तन्त्र का थोड़ा-बहुत प्रवेश अवश्य हुआ, किन्तु इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अन्य स्थानों में विकसित होने के बाद तन्त्र काश्मीर में पहुँचा।

यदि स्वीकार करें, तो तन्त्र का मूल प्राचीन सभ्यता में है और कालान्तर में अनेक विचारधाओं से इसका सम्पर्क होता है, तथा यह एक स्थाई स्वरूप प्राप्त करता है। इस मध्य अवधि में तन्त्रशास्त्र की गहन आध्यात्मिक रूपरेखा भी दिखलाई देगी। इसकी सामाजिक आचार संहिता पूर्णतः दोषरहित एवं शुद्ध है। हर काल में तन्त्रशास्त्र में कुछ नई चीजें जुड़ती गई हैं। पतन के समय अन्धविश्वास जुड़ गया, तो उत्थान के समय अध्यात्मवाद जुड़ गया। पराभव के समय गुप्तविद्या जुड़ गई एवं उत्कर्ष के समय एक सामाजिक आचार संहिता जुड़ गई। इस प्रकार तन्त्र में अनेक विचारों और मान्यताओं का संगम दिखलाई देगा। इससे स्पष्ट होता है कि तन्त्र का उत्थान किसी एक युग-विशेष में नहीं हुआ, वरन् हजारों वर्षों के दीर्घ अंतराल में इसे एक सुसंगठित रूप मिला।

आस्तिक तथा नास्तिक तन्त्र

जिसे हम हिन्दू तन्त्र कहते हैं, वे आस्तिक तंत्र हैं। वे मनुष्य के ऊपर की सत्ता को, **पति** को स्वीकार करते हैं, भले ही उसका नाम ब्रह्म न होकर शिव हो। मनुष्य या जीवात्मा के रूप में **पशु** को भी स्वीकार किया जाता है, जो उस परम सत्ता के नियन्त्रण में हैं। जब भी वह चाहे **पाश** के द्वारा जीव को नियन्त्रित कर सकता है।

ऋग्वेद में 'पुरुष सूक्त' जैसे अनेक सूक्त आते हैं। उनमें से एक 'रात्रि सूक्त' भी है। 'रात्रि सूक्त' नाम से कोई भी सोचेगा कि यह अन्धकार या रात्रि से सम्बन्धित है। लेकिन यह 'रात्रि सूक्त' वस्तुतः अंधकार या रात्रि से नहीं, वरन् काली से सम्बन्धित है, अर्थात् ऋग्वेद में काली की प्रार्थना है। तात्पर्य यह कि उस प्राचीन काल में भी काली की या एक देवी की अवधारणा थी। इसलिये ये सूक्त आस्तिक माने गये और वेदों में भी इन्हें स्थान प्राप्त हुआ है। अथर्ववेद के अभिचार, मारण और सम्मोहन मन्त्रादि भी तन्त्र शास्त्र में पाये जाते हैं।

नास्तिक तन्त्रों की श्रेणी में बौद्ध तथा जैन तन्त्र आते हैं। बौद्ध तन्त्र में भी अलग-अलग विचारधाराएँ हैं, जिन्हें सहजयान, महायान और वज्रयान के नाम से जानते हैं। वे किसी इष्ट, पुरुष या शक्ति पर अपने विचारों को व्यक्त नहीं करते, केवल इतना कहते हैं कि कोई विशेष साधना करने पर साधक का कल्याण हो सकता है। जैन तन्त्रों में भी इसी प्रकार की चर्चा है कि केवल साधना करो, इससे ही कल्याण होगा।

तन्त्रशास्त्र और शरीर-विज्ञान

तन्त्रशास्त्र के आलोक में शरीर विज्ञान को समझा जा सकता है । तान्त्रिक शरीर-विज्ञान में सर्वप्रथम पंचकोशों का वर्णन आता है । मनुष्य के पाँच प्रकार के शरीर होते हैं, जिनके द्वारा वह जीवन में समस्त क्रियाओं का सम्पादन करता है । वे हैं : **अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश** और **आनन्दमय कोश** ।

तन्त्र के अनुसार अन्नमय कोश का यह भौतिक शरीर या पदार्थमय स्थूल शरीर है । तन्त्र के अनुसार इस सृष्टि में सब-कुछ पंचतत्त्वों से ही निर्मित है और जिस दिन शरीर के पंचतत्त्व नष्ट हो जायेंगे, शरीर अस्तित्वहीन हो जायेगा । इसी प्रकार वनस्पति, अन्न, पशु आदि सभी पंचतत्त्वों से बने हैं । अपने पंचतत्त्वों के संरक्षण के लिये, पालन-पोषण के लिये पदार्थ / शरीरधारी पंचतत्त्वों से ही बने हुए अन्य पदार्थों / शरीरधारियों का भक्षण करते हैं । इस प्रकार पंचतत्त्व से निर्मित एक पदार्थ पंचतत्त्व से ही निर्मित दूसरे पदार्थ का पालन-पोषण करता है । समस्त पदार्थमय जीवन अन्न के ही परिवर्तित रूप हैं । इसलिये भौतिक शरीर को अन्नमय माना गया है । अन्य विचारधाराओं और सिद्धान्तों में शरीर को विभिन्न उपमायें दी गई हैं । वेदान्त में इसे मांस-पिण्ड कहा गया है । अन्य सिद्धान्तों के अनुसार भी शरीर रक्त-मांस-मज्जा से निर्मित है । इस प्रकार तान्त्रिक और गैरतान्त्रिक विचारधाराओं के भाव में अंतर दिखलाई देता है ।

अन्नमय कोश का संचालन करने के लिये नाड़ियों का समूह है । नाड़ियों के ये समूह स्थूल और सूक्ष्म, दोनों प्रकार के हैं । इन नाड़ियों के माध्यम से अन्नमय कोश में प्राणशक्ति का संचरण होता है ।

अन्नमय कोश के बाद प्राणमय कोश का स्थान आता है । यह मनुष्य का सूक्ष्म शरीर है, जो ऊर्जा से निर्मित है । शक्ति की एक अभिव्यक्ति प्राणमय शरीर में दिखलाई देती है । तन्त्रशास्त्र के अनुसार प्राणमय शरीर लाल रंग का है । अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय कोश या सूक्ष्म शक्ति की अभिव्यक्ति है । प्राणमय कोश में शक्ति का संचरण सूक्ष्म नाड़ियों के माध्यम से होता है ।

तीसरा है, मनोमय कोश, जो वस्तुतः मन, बुद्धि और चित्त से बना है । यह चेतना की स्थूल अभिव्यक्ति का प्रतीक है जो चेतना का उन जगतों से सम्बन्ध स्थापित करती है । मनोमय के अंतर्गत मन की विभिन्न स्थितियों, विभिन्न भौतिक और बौद्धिक स्तरों का वर्णन किया गया है । इसके अन्तर्गत चेतना की ऐसी अवस्थाओं का भी वर्णन है, जो भोग के द्वारा, इन्द्रिय-सुख के द्वारा आकर्षित हो जाती हैं ।

चौथा कोश है विज्ञानमय । यह अतीन्द्रिय शरीर मनोमय कोश के भी परे है । विज्ञानमय कोश में ज्ञान और विद्या की ही अनुभूति होती है । अनेक व्याख्याकार विज्ञानमय कोश का तात्पर्य बुद्धि से, बौद्धिक प्रगति या बौद्धिक विकास से लगाते हैं,

किन्तु वास्तव में यह बौद्धिक है नहीं। बाह्य जगत और अन्तर्जगत के अनुभवों को पार कर स्वयं को चेतना की जिस सूक्ष्म अवस्था में स्थापित किया जाता है, वही विज्ञानमय की अवस्था है। अतीन्द्रिय होते हुए भी इन्द्रिय आकर्षण के मध्य में रहना विज्ञानमय की अवस्था है।

पाँचवा या अन्तिम शरीर है, आनन्दमय कोश। इसका सम्बन्ध परा अनुभूति से है। जब मनुष्य समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है, तब इस उच्च अवस्था को प्राप्त करता है। ये पाँचों शरीर एक-दूसरे से अभिन्न हैं तथा नाड़ियों, प्राण और चक्रों के माध्यम से अन्तर्ग्रथित हैं।

नाड़ियाँ

नाड़ियाँ सामान्यतः दो भागों में विभाजित हैं : स्थूल और सूक्ष्म। तन्त्र के अन्तर्गत पाँचों शरीरों को संगठित रखने के लिये साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों का वर्णन मिलता है। इन साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों का तात्पर्य हमारे शरीर की धमनियों, नसों या शिराओं से नहीं, वरन् उन प्रवाहों, मार्गों या वाहिकाओं से है, जिनके द्वारा प्राण, अन्तश्चेतना और स्थूल तथा सूक्ष्म ऊर्जाओं का संचरण होता है। इनमें से 72 हजार नाड़ियाँ तथा उन में से 72 नाड़ियाँ मुख्य मानी जाती है। पुनः 72 नाड़ियों में भी 18, अठारह में 10, और दस में 3 नाड़ियाँ क्रमशः प्रमुख मानी गई हैं। इन तीन नाड़ियों में एक नाड़ी प्रमुखतम मानी गई है, उसे ब्रह्म नाड़ी कहते हैं, जो सुषुम्ना मार्ग के भीतर अवस्थित है।

प्रमुख तीन नाड़ियों को इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के नाम से जाना जाता है। योग दर्शन में पिंगला नाड़ी प्राणशक्ति प्रवाह का प्रतीक है। इड़ा नाड़ी स्थूल और सूक्ष्म चित्त शक्ति के प्रवाह का प्रतीक है तथा सुषुम्ना इन दोनों के भीतर सन्तुलित प्रवाह का लक्षण या परिणाम है। जब इड़ा और पिंगला नाड़ियों में क्रमशः चित्त और प्राण शक्तियों का प्रवाह सम रूप से होने लगता है, तब सुषुम्ना की जागृति होती है। सुषुम्ना की जागृति के बाद ही ब्रह्मनाड़ी जागृत होती है।

ब्रह्मनाड़ी और कुण्डलिनी शक्ति

तन्त्र के अनुसार इन नाड़ियों की जागृति और आन्तरिक शक्ति के उत्थान से, जो अनुभूति होती है और जिसकी कल्पना मूलाधार में सोई हुई कुण्डलिनी शक्ति के रूप में होती है, वह वस्तुतः ब्रह्मनाड़ी की जागृति का प्रतीक है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की जागृति के बाद भी जब तक सुषुम्ना में प्रबलता नहीं आती, तब तक ब्रह्मनाड़ी जागृत नहीं होती, उसमें उत्तेजना नहीं उत्पन्न होती। जिस दिन ब्रह्मनाड़ी में उत्तेजना उत्पन्न हो जाय, सम्पूर्ण शरीर में एक विद्युत तरंग की तरह शक्ति का उत्थान होता है। इसे ही कहते हैं कुण्डलिनी शक्ति।

चक्र और उपचक्र

तन्त्र शास्त्र में छः मुख्य चक्रों का वर्णन किया गया है। छः मुख्य चक्रों के अतिरिक्त शरीर में अन्य कई उपचक्र हैं। इन उपचक्रों में प्रमुख हैं, विन्दु विसर्ग या विन्दु चक्र, ललना चक्र तथा नासिकाग्र चक्र। इस प्रकार शरीर में अनेक उपचक्रों के नाम अलग-अलग हैं और कुछ के नाम शरीर के अंगों के साथ जुड़े होते हैं।

तन्त्रशास्त्र के शरीर विज्ञान में जिन छः प्रमुख चक्रों का वर्णन किया जाता है, उनका सम्बन्ध पंचतत्त्वों और मनस् तत्त्वों के साथ रहता है। ये चक्र सृष्टि के विकासक्रम को दर्शाते हैं। सबसे नीचे स्थित मूलाधार चक्र, पृथ्वी तत्त्व का और सबसे ऊपर स्थित आज्ञा चक्र मनस् तत्त्व का प्रतीक है। कपाल-शीर्ष में स्थित सहस्रार चक्र परा अनुभूति का केन्द्र है, शिव का केन्द्र है।

चेतना या शक्ति का रूपान्तरण

जब एक अव्यक्त चेतना या एक अव्यक्त शक्ति अपने आपको किसी रूप में व्यक्त करना चाहती है, तो उसकी स्वाभाविक स्थिति में, अवस्था में रूपांतरण होता है। जिस प्रकार 11,000 वोल्ट की विद्युत शक्ति को ट्रांसफार्मर द्वारा नीचे लाकर 240 या 220 वोल्ट की विधुत शक्ति प्राप्त होती है, ठीक उसी प्रकार अव्यक्त चेतना और अव्यक्त शक्ति को रूपान्तरित करते-करते विभिन्न तत्त्वों की अनुभूति होती है। अव्यक्त का मूल केन्द्र सहस्रार माना गया है। सहस्रार में शिव-शक्ति का मिलन अव्यक्त, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान अवस्था का प्रतीक है। दृश्य जगत में अव्यक्त की प्रथम अभिव्यक्ति **महत्** रूप में होती है। महत् तंत्त्व का विस्तार **मनश्चतुष्ट्य** (मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार) के रूप में हो कर सूक्ष्म शरीर में आज्ञा चक्र या गुरु चक्र के रूप में प्रकट होता है। तत्पश्चात् शक्ति तत्त्व की परिणति आज्ञा चक्र के रूप से विशुद्धि चक्र के रूप में होती है। विशुद्धि में आकाश तत्त्व का अनुभव व्याप्त है। शक्ति की यह परिणति या रूपान्तरण विशुद्धि (आकाश तत्त्व) से अनाहत (वायु तत्त्व), अनाहत से मणिपुर (अग्नि तत्त्व), मणिपुर से स्वाधिष्ठान (जल तत्त्व), स्वाधिष्ठान से मूलाधार (पृथ्वी तत्त्व) तक इस दृश्य जगत में दिखलाई देता है। मूलाधार में व्यक्त शक्ति कुण्डलिनी रूप धारण कर प्रकृति में स्थित होकर मनुष्य को विषयों की ओर आकर्षित करती है। यह प्रक्रिया अव्यक्त से व्यक्त की ओर क्रमविकास को दर्शाती है।

प्रत्यावर्त्तन और बन्धनमुक्ति

अंततः शक्ति पृथ्वी तत्त्व में पहुँचकर मनुष्य को बंधनमुक्त बना देती है। अपनी चेतना को, अपनी शक्ति को व्यक्त से अव्यक्त की ओर ले जाने की क्षमता मानव में यदि हो, तो यह प्रत्यावर्त्तन या वापसी ही उसे बन्धनमुक्त करती है। इसी प्रत्यावर्त्तन प्रक्रिया को स्पष्ट करना तन्त्रशास्त्र का वास्तविक उद्देश्य है।

अभिमन्यु की तरह मनुष्य माया के चक्रव्यूह में प्रवेश कर चुका है और संघर्ष चल रहा है। कभी काम, कभी क्रोध और कभी मोह जैसे अनेक शत्रु मनुष्य पर प्रहार कर रहे हैं। क्या यह चक्रव्यूह नहीं है ? तन्त्र शास्त्र इस चक्रव्यूह से बाहर निकलने की प्रक्रिया निर्दिष्ट करता है।

इस प्रकार यहाँ पर दो विचार दिखाई दे रहे हैं। प्रथम– चक्रव्यूह में प्रवेश कर मनुष्य फँसा हुआ है, द्वितीय– चक्रव्यूह से पुरुषार्थ के माध्यम से ही बाहर निकल सकता है। मनुष्य को बाण चलाना है, काम, क्रोध, मोह एवं अधोमुखी, पतन की ओर ले जाने वाली शक्तियों पर। उनका निरोध कर, उन्हें निष्क्रिय बनाकर प्रत्यावर्त्तन का मार्ग प्रशस्त करना है, स्वयं को बन्धनमुक्त करना है। तन्त्र के अनुसार बन्धन की इस अवस्था में मनुष्य पशु रूप में है और प्रकृति या शक्ति का पाश ही वह बन्धन है। पाश को, बन्धन को काटकर पशुत्व की अवस्था से मुक्त होना ही तन्त्र शास्त्र का लक्ष्य है।

पंचकोशों और सप्तचक्रों का सम्बन्ध

पंचकोश और सप्तचक्र एक निश्चित प्रतिकृति के अनुसार परस्पर सम्बद्ध हैं। मूलाधार और स्वाधिष्ठान का सम्बन्ध है अन्नमय कोश से, मणिपुर का प्राणमय कोश से, अनाहत का मनोमय कोश से और विशुद्धि और आज्ञा का सम्बन्ध है विज्ञानमय कोश से। सहस्रार का सम्बन्ध आनन्दमय कोश से है, जो परा अवस्था, परा अनुभूति है। इस संरचना के अनुसार कोश और चक्र आपस में सम्बन्धित हैं।

गुण और स्वभाव

तन्त्र के दृष्टिकोण से गुण और स्वभाव को समझना होगा। तामसिक, रासजिक और सात्त्विक गुणों को तन्त्रशास्त्र पूर्णरूपेण स्वीकार करता है। ये तीनों गुण कोशों को नियंत्रित करते हैं, उनकी अभिव्यक्ति और क्रिया को संचालित करते हैं तथा कर्मों के कारण बनते हैं।

इन तीन गुणों से तीन प्रकार के स्वभावों की उत्पत्ति होती है। तमोगुण से पाशविक स्वभाव या **पशुभाव**, रजोगुण से **वीर भाव** और सत्त्वगुण से **दिव्यभाव** की उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति तमोगुणी है, जिसके भीतर में पशुभाव प्रबल है, वह अपनी वासनाओं, इच्छाओं और कर्म के अधीन तथा बन्धन में जीवन व्यतीत करता है। परिवार, सम्पत्ति, स्वार्थ की भावना आदि पशुभाव के लक्षण हैं।

राजसिक गुण के द्वारा वीर भाव की उत्पत्ति होती है। तामसिक और पाशविक भाव के रहते हुए भी जीवन में आत्मसंयम और नियंत्रण की एक अवस्था को स्थापित करना वीर भाव है। जब जीवन में आत्मसंयम और आत्मनियंत्रण रहे, तब मनुष्य पशु भाव के प्रभाव से स्वयं को मुक्त करने में सक्षम हो सकता है। अतः वीरभाव के मुख्य

लक्षण हैं– संयम और नियंत्रण। सात्त्विक गुण से दिव्य भाव की उत्पत्ति होती है। दिव्य भाव में आत्मसंयम, यम और नियम का बोध होता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और ईश्वर–प्रणिधान आदि यम और नियम का मनुष्य अपने जीवन में कर्तव्य के रूप में, अपने व्यक्तित्व के एक स्वाभाविक अंग के रूप में अनुसरण करता है। मानव क्रम-विकास में पशु भाव से वीर भाव में एक रूपान्तरण होता है और वीर भाव से दिव्यभाव दूसरा रूपान्तरण होता है।

सामान्यतः मनुष्य गुणों को बदल नहीं सकता, गुणों को बदलने के लिये अपने कर्मों के प्रति जागरूक होना पड़ता है। किन्तु मनुष्य यदि भाव को बदल सके तो गुणों के नकारात्मक प्रभावों को कम किया जा सकता है। तामसिक को राजसिक में बदला जा सकता है और राजसिक को सात्त्विक में। बदलने का तात्पर्य है एक की प्रबलता को कम कर दूसरे की बढ़ाना। तामसिक गुण की प्रबलता कम होगी तो राजसिक गुण की प्रबलता में वृद्धि होगी। बाद में राजसिक गुण की प्रबलता कम होगी तो सात्त्विक गुण की प्रबलता में वृद्धि होगी। अंततोगत्वा जब साधक सात्त्विक गुण को प्रबल कर दिव्य भाव प्राप्त कर लेता है, तब वह कर्ममुक्त होता है और गुण एक हो जाते हैं। जीवन में जितनी भी अवस्थाओं और अनुभूतियों से मनुष्य गुजरता है तथा जो भी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, वे सभी स्वभाववश होती हैं, गुणों के कारण नहीं। तन्त्रशास्त्र की ऐसी ही मान्यता है कि गुणों को बदल नहीं सकते, स्वभाव को बदल सकते हैं।

तन्त्र शास्त्र की विषय-वस्तु

'ईशान गुरुदेव पद्धति' नामक ग्रन्थ में तान्त्रिक विचारधारा को छः भागों में विभक्त किया गया है। ग्रन्थ के अनुसार वही तन्त्र शास्त्र कहलायेगा, जो इन छः विचारधाराओं को समझाये। समझाने के तरीके अलग-अलग हो सकते हैं। शैव आगम अपने तरीके से समझायेंगे, निगम अपने तरीके से समझायेंगे और वैष्णव संहिताएँ अपने तरीके से समझायेंगी। विचारधाराएँ छः हैं :- **पशु, पाश, पति, शक्ति, विचार** और **क्रियाचार**। विचार है साधना का सैद्धान्तिक पक्ष और क्रियाचार है अभ्यास। शेष चार अंग– पशु, पाश, पति और शक्ति तन्त्र शास्त्र के सिद्धान्त हैं।

शैव तन्त्र या आगम शास्त्र 92 हैं; उनमें प्रमुख 10 को शैव आगम कहा गया है। इनके अतिरिक्त 18 अन्य ग्रन्थ हैं जिनको रौद्रागम कहा गया है। पुनः 64 ग्रन्थ और हैं जिन्हें भैरवागम कहा गया है।

शाक्त तन्त्र में 10 प्रमुख विचारधाराएँ हैं। उनका सम्बन्ध दस महाविद्याओं (शक्ति के दस रूपों एवं दस साधनाओं) के वर्णन से है। इनके अतिरिक्त छः डामर और छः यामल तन्त्र भी हैं। इनमें अन्य देवताओं के भी तन्त्र हैं, जैसे गाणपत्य तन्त्र। गणेश,

सूर्य आदि को लेकर जिन तन्त्रों की उत्पत्ति होती है, वे डामर और यामल में आते हैं। छः डामर तन्त्र हैं : **योग डामर, शैव डामर, दुर्गा डामर, ब्रह्मा डामर, सारस्वत डामर** और **गान्धर्व डामर**। छः यामल तन्त्रों के अंतर्गत **ब्रह्मा यामल, विष्णु यामल, रुद्र यामल, गणेश यामल, रयि यामल** और **आदित्य यामल** आते हैं।

सर्वप्रथम चार तन्त्र सिद्धान्त–पशु, पाश, पति और शक्ति की व्याख्या दी जा रही है। इसके बाद विचार और तदुपरान्त क्रियाचार को समझेंगे, जो साधनाएँ हैं।

सिद्धान्त

१. पति

सिद्धान्त की चर्चा पति से प्रारम्भ होती है, पति से ही पशु और पाश का प्रारम्भ होता है। पति नाम दिया गया है शिव तत्त्व को, पति का अर्थ है स्वामी या रक्षक। इस अवस्था में शिव तत्त्व पूर्ण रूप से अद्वैत की स्थिति में, मुक्त अवस्था में, शान्त अवस्था में है। शिव या पति निराकार तत्त्व है, अद्वैत रूप में है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। शान्त है, अतः किसी प्रकार की चंचलता या स्पन्दन से प्रभावित नहीं है। वह सबका नियंता है, सबको नियंत्रण में रखता है। वह शिवम् अर्थात् कल्याणमय भी है और अपनी निज की स्थिति में, निज स्वरूप में वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भी है।

२. शक्ति

शक्ति शिव-अवस्था का एक अंग है। अगर शिव सूर्य रूप हैं, तो शक्ति किरण। सूर्य की अनुभूति किरण के माध्यम से, ज्योति के माध्यम से होती है। वही शक्ति का स्वरूप है। दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं, परन्तु शिव स्वयं में परिपूर्ण हैं और शक्ति उनकी अभिव्यक्ति है। अग्नि तभी प्रकट होती है जब कोई जलने योग्य वस्तु ईंधन के रूप में हो। अग्नि और ईंधन के समान शिव और शक्ति की पारस्परिक क्रीड़ा ही सृष्टि है, संहार है।

शिव में तीन अवस्थाएँ हैं : 1. **ज्ञान की अवस्था,** 2. **इच्छा की अवस्था** और 3. **क्रिया की अवस्था**। सब कुछ शिव ही करता है, शक्ति एक माध्यम, एक अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करती है। उदाहरण के लिये, लोग जब प्रवचन सुनते और लिखते हैं, तो कौन लिखता है ? हाथ लिखता है, मस्तिष्क तो नहीं लिखता, मस्तिष्क ने तो कलम नहीं पकड़ी है। हाथ ने कलम को पकड़ा है। अगर व्यक्ति चाहे तो हाथ को लिखने से रोक सकता है। यही नियामक सत्ता है शिव, और भुजा जो मस्तिष्क के द्वारा संचालित हो रही है, जो शब्द लिखे जा रहे हैं, शब्दों का जो ज्ञान हो रहा है यह सब शक्ति के संयोग से हो रहा है। शिव तत्त्व में ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों पूर्व से ही विद्यमान हैं।

जब अव्यक्त शिव स्वयं को किसी रूप में व्यक्त करता है, तो व्यक्तावस्था में पाँच गुण दिखलाई देते हैं। व्यक्त शिव के पाँच गुण होते हैं : **सृष्टि, पालन, संहार, निरोध**

और **अनुग्रह** । ये पाँच गुण ज्ञान, इच्छा और क्रिया के लक्षण हैं । शिव की शाश्वत अवस्था में ये पाँचों गुण (सृष्टि, पालन, संहार, निरोध और अनुग्रह) और तीनों अवस्थाएँ (ज्ञान, इच्छा और क्रिया) समाविष्ट रहती हैं ।

ज्ञान की अवस्था का तात्पर्य सनातन ज्ञान से, सर्वज्ञता से है, बुद्धि से नहीं । एक बीज में एक वृक्ष की संभावना अन्तर्निहित है, केवल उसके निकलने भर की देर है, बशर्त्ते कि सभी परिस्थितियाँ – जमीन, पानी, खाद, सूर्य का प्रकाश, इत्यादि अनुकूल हों । जब तक इन सबका समुचित संयोग नहीं होता, बीज से वृक्ष का अंकुर नहीं निकलेगा । ठीक ऐसे ही ज्ञान की अवस्था में सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निरोध और अनुग्रह विद्यमान हैं । ज्ञान की यह अवस्था सर्वज्ञता का प्रतीक है, एक आत्मानुभव की स्थिति है, किसी प्रकार का प्रयास नहीं ।

इच्छा की अवस्था का तात्पर्य अन्तर्निहित इच्छा से है । उदाहरण है सूर्यमुखी फूल । यह हमेशा सूर्य की ओर अभिमुख और खुला रहता है । जैसे-जैसे सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है, यह फूल भी पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता जाता है । यह फूल एक ही अवस्था में क्यों नहीं रहता ? घूमता क्यों है ? यह है अन्तर्निहित इच्छा का परिणाम । यदि एक बार कोई प्रक्रिया, कोई विधि प्रारम्भ हो जाती है, तो सहज और स्वाभाविक रूप से उसकी समाप्ति तक, उसकी परिणति तक वह क्रिया होती रहती है । अव्यक्त, किन्तु व्यवस्थित रूप में वह इच्छाशक्ति शिव तत्त्व के भीतर विद्यमान है ।

क्रिया की अवस्था के अंतर्गत क्रिया की पाँच अवस्थाएँ आती हैं : १. सृष्टि करना, २. पालन करना, ३. प्रलय या संहार करना, ४. निरोध करना और ५. अनुग्रह करना ।

सृष्टि क्रिया का पहला स्वरूप है । सृष्टि भी दो प्रकार की मानी गयी है : शुद्ध सृष्टि और अशुद्ध सृष्टि । शिव तत्त्व परमात्मा है और शुद्ध सृष्टि परमात्मा की आत्मा में अभिव्यक्ति है । अशुद्ध सृष्टि की रचना तब होती है, जब आत्मा का पदार्थ या व्यक्त जगत से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । तन्त्र में मान्यता है कि शुद्ध तत्त्व की उत्पत्ति शिव इच्छा से होती है और शुद्ध तत्त्व की मुख्य संरचना विद्या की है । यहाँ जिस शरीर की प्राप्ति होती है वह आत्मा का शरीर है, प्रकाश का शरीर है । इस रूप में आत्मा को दो नाम दिये गये हैं : 1. विद्येश्वर या विद्या का ईश्वर तथा 2. अनन्त ।

शिव परातत्त्व है, एक है, अद्वैत है और परातत्त्व जब अपने अन्तर्निहित गुणों को अभिव्यक्त करता है, तो इसके अनंत रूप हो जाते हैं, जिनकी उत्पत्ति विद्या से, प्रकाश से होती है । यह आत्मा या विद्येश्वर स्वयं में ही एक आत्मभरित, आत्मपूरित या आत्मसन्निहित इकाई है । इसमें भी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमान के गुण निहित हैं । केवल इतना ही भेद है कि यहाँ परातत्त्व अनेक हो जाता है और परा अवस्था में सब एक में मिल जाते हैं ।

हिमनद से नदियाँ निकलती हैं, तब नदियों और हिमनद के जल के गुणों में कोई अंतर नहीं होता, दोनों का जल मीठा ही होगा। वस्तुतः सृष्टि भी इसी प्रकार होती है। असीम से धाराएँ निकलती हैं और सीमित बनती हैं। वे धाराएँ भी मीठें पानी की हैं, गुण वही हैं, तत्त्व वही हैं, सब-कुछ वही है। पर ज्यों-ज्यों धाराएँ आगे बढ़ती हैं, उनमें भूमि और हवा से खारापन आता जाता है, और अंततः धाराओं का जल खारे पानी में परिणत हो जाता है।

यही है सृष्टि का क्रम। अद्वैत से अनेक की प्रथम अभिव्यक्तियाँ शुद्ध मानी गई हैं, स्वयं में परिपूर्ण हैं। जब उनमें रूपान्तरण होता है, तो वे अशुद्ध सृष्टि कहलाती हैं। अभी इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि विद्येश्वर ज्ञान, इच्छा और क्रिया की एक इकाई हैं। वे शिव के नियन्त्रण में हैं। शिव का नियन्त्रण शुद्ध सृष्टि तक है। अपने अन्तर्निहित गुणों, विशेषताओं और शक्ति के कारण विद्येश्वर नाम, रूप, गुण युक्त एक व्यक्त अवस्था को प्राप्त करते हैं।

एक व्यावसायिक निगम का उदाहरण लिया जा सकता है। सर्वोच्च अधिकारी के अधीन अनेक सचिव और निदेशक होते हैं, जिन्हें वह प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करता है। सभी सचिव और निदेशक पूर्व नियोजित कार्यक्रम के अनुसार कार्य करते हैं। उनके अधीन अनेक प्रबन्धक, कर्मचारी और कार्मिक आदि रहते हैं। यही स्थिति शिव की है। शिव सर्वोच्च सत्ता और विद्येश्वर उनके नीचे के निकटतम निदेशकों के समान हैं, जिनकी संख्या अनंत है। आत्मा के स्तर पर सभी विद्येश्वर हैं। अन्य तत्त्वों से संयोग से अशुद्धि आ जाती है। अतः विद्येश्वर तक की अवस्था शुद्ध सृष्टि की अवस्था है।

विद्या से या ज्ञान से शुद्ध सृष्टि उत्पन्न होती है और इस स्थिति में आत्मा को बिन्दु रूप प्रकाश शरीर की प्राप्ति होती है। बिन्दु रूप प्रकाश शरीर में शिव तत्त्व के सभी गुण विद्यमान रहते हैं और वे एक इकाई के रूप में स्वतंत्र रूप से कार्य करने में सक्षम होते हैं। इन आत्माओं की प्रकृति प्रकाश की रहती है। अतः विद्येश्वर या आत्मा, जिनकी उत्पत्ति ज्ञान से होती है, अपने आप में शुद्ध और सनातन हैं। ये भी अविनाशी हैं; केवल प्रलय के समय इनकी परिणति शिव तत्त्व में होती है।

विद्येश्वरों के विकास के अगले चरण में ये एक-दूसरे प्रधान कारण के सम्पर्क में आते हैं जिसे महामाया या शक्ति कहते हैं। महामाया या शक्ति से सम्पर्क या सम्बन्ध होने पर इनमें स्थूल परिवर्तन होने लगते हैं। यही अवस्था है अशुद्ध तत्त्व या अशुद्ध सृष्टि की। यहाँ स्मरण रहे कि माया शक्ति का ही एक रूप है। तन्त्र में शक्ति न लिख कर प्रधान कारण के रूप में महामाया लिखा गया है। क्यों ? अगर शक्ति लिखते हैं तो शक्ति भी तो नित्य है, सनातन है, चैतन्य है; और शक्ति तथा शिव में भिन्नता नहीं है। अगर वे एक हो जाते हैं, तब सृजन कार्य नहीं होगा। शक्ति के उपरोक्त स्वरूप को इसीलिये महामाया का नाम दिया गया है, जिसके द्वारा वह शुद्ध तत्त्वों में परिवर्त्तन ला सके। यह

कहा जा सकता है कि अन्तःकरण या तत्त्वों में, प्रकृति या सृजनात्मक शक्ति की अवस्था से पूर्ण अभिव्यक्ति तक, पृथ्वी तत्त्व तक जो भी परिवर्तन होते हैं, वे महामाया के साथ विद्येश्वर का सम्पर्क होने के कारण होते हैं। यही कारण है इसे अशुद्ध सृष्टि मानने का।

पालन करने स्थिति शक्ति की क्षमता का स्थान शिव तत्त्व में सृजन शक्ति के पश्चात् है। स्थिति शक्ति, व्यक्त और अव्यक्त, स्थूल और सूक्ष्म दोनों को एक अनुशासन में रखती है। जहाँ अनुशासन नहीं वहाँ सृष्टि भी नहीं रहती। पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों में प्रत्येक का एक नियम, एक स्थिति, एक गुण और एक अवस्था है। यदि इस नियम, स्थिति, गुण या अवस्था में परिवर्तन हो जाय, तो पृथ्वी तत्त्व, पृथ्वी तत्त्व नहीं रहेगा, जल तत्त्व, जल तत्त्व नहीं रहेगा, अन्तःकरण, अन्तःकरण नहीं रहेगा। स्थिति को बनाये रखने की क्षमता का नाम स्थिति-शक्ति है। इसके अतिरिक्त स्थिति-शक्ति का एक और धर्म है— पदार्थ और आत्मा के सम्बन्ध को जोड़ना। आत्मा और पदार्थ या आत्मा और तत्त्वों के मध्य सम्पर्क को सृष्टि कहते हैं। यदि आत्मा और पदार्थ के बीच सम्बन्ध नहीं हो, तो न मनुष्य रहें न अन्य प्राणी। पंचतत्त्वों के द्वारा निर्मित शरीर का होना, पंचतत्त्वों का अनुभव करना, अंतःकरण के क्षेत्र में कार्य करना आत्मा के कार्य नहीं, माया-शक्ति के कार्य हैं। कौन भोग रहा है ? दुःख किसको होता है ? आत्मा को होता है क्या ? कदापि नहीं। आत्मा का संबंध है माया के साथ और माया शक्ति के द्वारा ही मानव शरीर, शक्ति, चेतना इत्यादि का अनुभव करता है, इनके दोष और गुण का अनुभव करता है। आत्मा एवं माया के सम्पर्क की वह स्थिति जीवात्मा के नाम से जानी जाती है। **परमात्मा, आत्मा** और **जीवात्मा** ये तीन विभक्तियाँ हैं। परमात्मा है सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान; आत्मा है विद्या से उत्पन्न और जीवात्मा है मायामय आत्मा।

पदार्थ, तत्त्व तथा सृष्टि से आत्मा का सम्बन्ध होने पर भोग उत्पन्न होते हैं। सृष्टि भोग की अवस्था है, केवल व्यक्त ही नहीं, अव्यक्त रूप से भी भोग का अनुभव दिलाती है। शरीर, मन या अंतःकरण को छोड़ किसी अन्य तत्त्व, जैसे– वायु, आकाश और अग्नि के भीतर गुण-दोष इनके भोग हैं। आत्मा से तत्त्व, पदार्थ तथा सृष्टि का सम्पर्क भोगानुभव उत्पन्न करता है और भोग कर्म को उत्पन्न करते हैं।

भोग भी दो प्रकार के होते हैं– 1. **सुखद अनुभव प्रदायी,** और 2. **दुःखद अनुभव प्रदायी**। यदि मनुष्य सजग होकर भोग का अनुभव करे, किन्तु भोग से कर्मों को उत्पन्न न होने दे, जैसा योगी या ज्ञानी करते हैं, तो भोग की यह अवस्था मनुष्य को विकास की ओर ले जाती है। परन्तु, यदि भोग में लिप्त होकर सुख-भोग और दुःख-भोग का अनुभव करे तथा जिसके कारण कर्म भी बनने लगें और उनसे मनुष्य स्वयं को बाहर नहीं निकाल सके, तब वह अवस्था पतन की ओर ले जाती है। तब मानव चेतना और भी स्थूल नकारात्मक और तामसिक गुणों के प्रभाव में आ जाती है, वह बन्धनमुक्त नहीं वरन् अधिक बन्धनयुक्त हो जाती है। यहाँ दो शब्दों का प्रयोग किया गया है– बन्धनयुक्त और

बन्धनमुक्त । भोग से कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देना बन्धनमुक्त अवस्था है, भोग से कर्मों को उत्पन्न करना बन्धनयुक्त अवस्था है।

स्थिति-शक्ति का एक और प्रयोजन है — यदि मनुष्य विकास मार्ग में बढ़े तो आन्तरिक विकारों को दूर कर शिव-अनुग्रह दिलाने के लिये तैयार करना। अनुग्रह है आशीर्वाद, अनुग्रह प्राप्ति से मोक्ष की प्राप्ति होती है। स्मरण रहे कि स्थिति शक्ति और निरोध शक्ति दोनों साथ-साथ कार्य करतीं हैं।

संहार शक्ति का स्थान स्थिति या पालन के बाद आता है। जो भी अभी तक किया गया है, उसे समाप्त कर देना संहार शक्ति है, श्यामपट पर अब तक जो लिखा गया है, उसे मिटा देना, सब कुछ अपने आप में समेट लेना। इससे शुद्ध और अशुद्ध, दोनों सृष्टि प्रभावित होती है। विद्या से उत्पन्न शुद्ध तत्त्व या शुद्ध सृष्टि शक्ति से एक हो जाती है और शक्ति शिव से। यह शुद्ध सृष्टि का संहार या परिणति है। अशुद्ध सृष्टि की परिणति में अशुद्ध तत्त्व, जिसका प्रकृति से पृथ्वी तक अनुभव होता है, माया से एक हो जाता है। माया शक्ति से मिल जाती है और शक्ति शिव से मिल जाती है। इस प्रकार अशुद्ध तत्त्व भी अंततः शिव तत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं। संहार का यह क्रम ब्रह्माण्डीय और व्यक्तिगत दोनों स्तरों पर चलता है।

निरोध शक्ति का अभिप्राय होता है सामान्य अवस्था में परिवर्तन या व्यवधान उत्पन्न करना। निरोध शक्ति का प्रयोग दो तत्त्वों के पारस्परिक संयोग में होता है। परिवर्तन कब होगा ? जब तत्त्वों का संयोग होगा। छेना कब बनेगा ? जब दूध में नींबू पड़ेगा। बिना नींबू डाले दूध से छेना नहीं बना सकते। दो का संयोग होना आवश्यक है।

अशुद्ध तत्त्वों के कारण अन्तर्निहित शुद्ध ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति धूमिल पड़ जाती है। दर्पण जब तक साफ है, उसमें चेहरा स्पष्ट रूप से दिखालाई देगा, किन्तु दर्पण पर धूल की परत आ जाय तो चेहरा साफ-साफ नहीं दिखेगा। ऐसा होने पर क्या यह मानेंगे कि दर्पण में दोष आ गया है या फिर अपना चेहरा ही दोषपूर्ण हो गया है, अथवा दोनों में या दो में से किसी एक में दोष आ गया है ? नहीं। इन में से एक भी बात सही नहीं है। केवल दर्पण पर धूल की एक परत जम गई है, अशुद्धि जम गई है, विकार जमा हो गये हैं। जब दर्पण पर विकार जमा रहते हैं, तब उसमें चेहरा स्पष्ट रूप से नहीं दिखता। दर्पण में चेहरे को स्पष्ट रूप से देखने के लिये दर्पण को साफ करना पड़ता है; मल को, अशुद्धि को, विकार को दूर करना पड़ता है। यह है निरोध शक्ति।

निरोध शक्ति विकास और पतन दोनों कार्य करती है। यदि चेतना के सामने निरोध शक्ति प्रकट हो जाय, या निरोध शक्ति का आभास होने लगे, तो जीवन में, विचारधारा में, जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में परिवर्तन का अनुभव होने लगता है। निरोध शक्ति को योग की भाषा में प्रत्यय कहते हैं। यह स्वयं में एक आकर्षण है, एक

चुम्बक है, जो कभी इस तरफ खींचेगा, कभी उस तरफ खींचेगा। एक ध्रुव से आकर्षण होगा, पर चुम्बक को उलट दें तो दूसरे ध्रुव से विकर्षण होगा। निरोध शक्ति के ये दोनों ही गुण हैं– आकर्षण और विकर्षण।

अनुग्रह शक्ति के कारण मुक्ति सम्भव है। जब तक मानव जीवन की सभी अशुद्धियाँ या विकार परिपक्व नहीं होते, तब तक व्यक्ति को अपने जीवन में अनुग्रह का आभास नहीं होता। आँखों में मोतियाबिन्द की प्रारम्भिक अवस्था में नेत्र-चिकित्सक उसे निकालता है या नहीं ? निकालने के लिये उसका परिपक्व होना आवश्यक है। जब वह पूर्ण रूप से पक जाता है, चिकित्सक शल्य क्रिया द्वारा उसे आसानी से निकाल देता है। अनुग्रह भी इसी प्रकार की एक क्रिया है। जब तक साधना, पुरुषार्थ और प्रयास के द्वारा साधक अपने भीतर के अशुद्ध तत्त्वों तथा विकारों को पकाने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक अनुग्रह की प्राप्ति नहीं होती। जब तक एक अनुशासन में, एक अवस्था में, एक पद्धति और एक साधना के द्वारा मनुष्य अपने आपको तैयार नहीं कर लेता और आन्तरिक विकारों को बाहर लाने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक अनुग्रह की प्राप्ति नहीं होती।

३. पाश

तन्त्र शास्त्र का दूसरा प्रमुख विषय पाश है। पाश का अर्थ होता है बन्धन। यह महामाया की क्रिया के अन्तर्गत आता है। महामाया संसार में, ब्रह्माण्ड में, व्यक्त या अव्यक्त क्षेत्र में परिवर्तन और अनुशासन का कारण रहती है। यह व्यक्ति-सापेक्ष है। इसी के प्रभाव के कारण व्यक्ति वास्तविक सत्य को, मूल सत्ता को पहचानने में समर्थ या असमर्थ होता है। शिव तत्त्व जितना विराट् है, विस्तृत है, महामाया भी उतना ही विराट् और विस्तृत है।

माया के कर्मों को समझने के लिए पाश के अन्तर्गत पाँच गौण कारण बतलाये गये हैं : 1. मल, 2. माया, 3. कर्म, 4. निरोध और 5. बिन्दु।

(1) मल गन्दगी, विकार या दूषित पदार्थ।

(2) माया को जीव अनुभव करता है।

(3) कर्म के अधीन पुरुष रहता है।

(4) निरोध में बंधन के अंश रहते हैं (निरोध को शिव तत्त्व में भी देखा गया है और इसे माया के गौण कारण के रूप में भी देखा जा रहा है।

(5) बिन्दु आरंभ और अन्त का उत्स है, स्त्रोत है।

वेदान्त में माया और कर्म को बन्धन के रूप में माना जाता है। तन्त्र की विभिन्न विचारधाराओं में मतवैभिन्य के कारण कुछ विचार प्रथम तीन गौण कारणों को स्वीकार करते हैं और कुछ प्रथम चार को। एक व्यापक जानकारी के लिये तथा तन्त्र सिद्धांत को

समझने के लिये यहाँ पाँच गौण कारणों का उल्लेख किया गया है। इन गौण कारणों में तीन प्रमुख हैं– 1. मल, 2. माया और 3. कर्म। निरोध और बिन्दु अपेक्षाकृत अधिक गौण अर्थ में आते हैं। ये पाँच गौण कारण अति महत्वपूर्ण हैं।

(1) **मल,** तन्त्र शास्त्र में पशुत्व भाव, विकार या नैसर्गिक प्रवृत्ति है, जो मानव-व्यक्तित्व तथा जीवन को बन्धन में रखती है। मनुष्य की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ उसकी नैसर्गिक्ि प्रवृत्ति का ही एक अंग हैं। व्यक्ति के भीतर में पशुत्व का अंश है। अतः पूर्व नियोजित कार्यक्रम, संस्कार या कर्म के कारण, अथवा अपनी विचारधारा या व्यक्तित्व के कारण विभिन्न प्रतिक्रियाओं का प्रकटीकरण होता है। इनका सम्बन्ध परिस्थितियों से भी रहता है। ये क्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ या पशुत्व भाव मन की खूँटियाँ (चिटकिनी) हैं जहाँ जाकर मन अटक जाता है।

तन्त्र शास्त्र में सामान्यतः पाँच प्रकार के मलों की चर्चा होती है : सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी, विकार और प्रत्यय।

एक विशेष परिस्थिति में सत्वगुण की अवस्था में भी मानव मन फँसता है। सत्व की अवस्था में शुद्धि और समत्व की चाह, संयम और संतुलन प्राप्त करने की इच्छा के रूप में मन वहाँ अटक जाता है। रजोगुण में सुख-भोग की इच्छा या किसी अन्य प्रकार की भोगेच्छा या वासना में मन अटकता है। तमोगुण में आलस्य, प्रमाद और अज्ञानता में मन अटकता है। विकारों का सम्बन्ध सूक्ष्म संस्कारों से है। व्यक्तित्व विकास के क्रम में, परिवर्तन तथा परिणति के क्रन में जिन संस्कारों को मनुष्य ग्रहण करता है, उनमें ही फँस जाता है। प्रत्यय का सम्बन्ध है– संसार से, बाह्य परिस्थिति से और पदार्थ जगत से। संसार से सम्बन्धित जो भी इच्छा, अनिच्छा, वासना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि भाव हैं, जिनका तात्कालिक अनुभव होता है, प्रत्यय कहे गये हैं। वही प्रत्यय जो तत्काल प्रकट नहीं होता, बीज रूप में मनुष्य के व्यक्तित्व में आरोपित हो जाता है तथा बाद में विकार या संस्कार का रूप ले लेता है।

ये हैं मल के विभिन्न प्रकार, चेतना की प्रदूषित अवस्थाएँ। शुद्ध अवस्था में तो मल रहेगा नहीं; पर जब प्रदूषण आ जाय, तो जो भी वस्तु या अनुभव दृश्य रूप में या अदृश्य रूप में मनुष्य के सामने है, मानव व्यक्तित्व या चेतना के स्थूल और कारण स्तरों को हमेशा प्रभावित करेगा।

(2) **माया** का स्थान मल के बाद है। माया को तीन भागों में विभक्त किया गया है– काल, नियति और कला। माया को समझने के लिये इन तीनों को भी समझ लेना आवश्यक है।

काल का सम्बन्ध समय की अवधारणा से है; इसके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य की अवधारणा भी नहीं रहे। अतः भूत, वर्तमान और भविष्य की अनुभूति या उपलब्धि की अवस्था माया के क्षेत्र की है। काल वह ज्ञान है जो समय के बन्धन, समय की सीमा

में प्राप्त हो। काल निमित्त भी है। मनुष्य कभी कुछ शीघ्र करता है और कुछ विलम्ब से। जल्दी और विलम्ब की परिभाषा का निमित्त है काल। स्थूल रूप से उसे रात, दिन, घंटा, मिनट, सेकेंड इत्यादि में मापते हैं; और सूक्ष्म स्तर में यही भूत, वर्तमान और भविष्य के रूप में है।

नियति को लोग प्रायः भाग्य या प्रारब्ध मानते हैं, लेकिन इसका सम्बन्ध यहाँ पर कर्म से है। मनुष्य कर्मों का भोग करता है। कर्म शुभ भी होते हैं, अशुभ भी; अच्छे भी होते हैं, बुरे भी। अच्छे कर्मों का भोग अच्छा प्रारब्ध या अच्छा भाग्य कहलायेगा, और बुरे कर्मों का भोग बुरा भाग्य कहलायेगा। इसके ऊपर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं होता।

कला का तात्पर्य होता है अभिव्यक्ति। शास्त्रों में चौंसठ कलाओं या चौंसठ अभिव्यक्तियों की चर्चा आती है। तन्त्र में कला की संख्या नहीं दी गई है, यह एक भी हो सकती है और अनेक भी। कला को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है : राग और विद्या। किसी कला की अभिव्यक्ति द्वारा राग उत्पन्न हो सकता है और किसी अन्य कला के द्वारा विद्या। यहाँ राग एवं विद्या को एक सामान्य परिभाषा देकर छोड़ दिया गया है। राग वास्तव में आसक्ति है और आसक्ति के अनेक स्तर एवं प्रकार होते हैं। भोग से, पदार्थ से, जीवन से, परिवार से और समाज से आसक्ति हो सकती है। राग को कला के रूप में बड़ा बन्धन माना गया है, जिसके चंगुल से मनुष्य का निकल पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। यदि कोई माने कि वह सभी से मुक्त हो गया है, तो भी शरीर से आसक्ति तो रहती ही है। संसार को त्यागने के बाद भी शरीर को त्याग नहीं सकते। कुछ दिनों के लिये खाना-पीना छोड़ा जा सकता है, लेकिन बाद में वही इच्छा या आवश्यकता अधिक प्रबलता से उत्पन्न होकर राग और आसक्ति की अवस्था में मानव चेतना को शरीर की ओर, शारीरिक भोग की ओर आकर्षित करेगी। समाज से दूर, जंगल में, एकांत में रहते हुए भी शरीर-भोग और मन का भोग छूटता नहीं। जिस प्रकार शरीर के पालन-पोषण के लिये पदार्थों की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार मन के लिये विचार एवं भावनाएँ आवश्यक हैं। इसलिये राग के बन्धन से मुक्त होना असम्भव ही है। राग से मुक्ति तभी मिलती है जब पंचभूतों से निर्मित शरीर से आसक्ति टूटती है और केवल चैतन्य अवस्था में स्थिति ज्ञान होता है।

इसका प्रतिसन्तुलन है विद्या, जो राग के पलड़े को संयमित और सन्तुलित रखती है। विद्या का मतलब है अनुभव और अनुभूति। अनुभूति से प्राप्त ज्ञान विद्या है और विद्या के द्वारा राग को संयमित एवं सन्तुलित रखा जा सकता है।

काल, नियति और कला, तथा कला में राग और विद्या के समूह माया की वे अवस्थाएँ हैं, जिनमें मानव-चेतना सांसारिक भोगों या कर्मों में लिप्त रहती है। जब साधक इस अवस्था से ऊपर उठता है, तो पुनः विद्येश्वर की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

(3) **कर्म** माया के बाद आता है। कर्म एक ऐसा बन्धन है जो चेतना की सर्वज्ञता को सीमित करता है और चेतना के असीम तत्त्व का अनुभव नहीं होने देता।

कर्म के मुख्यतः बाह्य और अव्यक्त दो रूप होते हैं। बाह्य में भी कर्म के तीन रूप हैं : स्थूल, सूक्ष्म और कारण। जीवन स्थूल कर्म चेतना में स्मृति रूप में और स्मृति के भीतर भी बीज के रूप में छिप जाता है। सूक्ष्म अवस्था में मनुष्य अपने अन्तःकरण– मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के द्वारा कर्म करता है। यह कर्म भी अन्तःकरण में उत्पन्न होकर बीज रूप में चेतना की गहराई में छिप जाता है और बाद में कारण रूप में प्रकट होता है।

अव्यक्त स्थिति में भी पुरुष कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं होता। अन्तर इतना ही है कि उस अव्यक्त अवस्था में कर्मों की परिभाषा बदल जाती है। कर्म-भोग बदल जाते हैं। यहाँ कर्म का सामान्य मतलब है क्रिया से। क्रिया जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित कर चेतना की सर्वज्ञता को अवगुण्ठित करती है।

(4) **निरोध** यहाँ महामाया के एक गौण कारण के रूप में आया है। निरोध के इस गौण कारण के रूप में आने का तात्पर्य जीवात्मा के अनुभव से है। निरोध का सम्बन्ध यहाँ वृत्ति से नहीं बल्कि चेतना में उत्पन्न विभिन्न परिस्थितियों और परिवर्तनों से है। जीवन में आकर्षण या विकर्षण का अनुभव भी निरोध की ही एक अवस्था है। चेतना की एक अभिव्यक्ति को किसी दूसरी अभिव्यक्ति से अवरुद्ध कर दिया जाता है और इस कारण एक दूसरा अनुभव उत्पन्न होता है, जो पूर्वानुभव के विपरीत होता है। गर्मी के अनुभव को अवरुद्ध करने पर ठंढक का अनुभव होगा; सुख का अनुभव अवरुद्ध करने पर दुःख का अनुभव होगा; अच्छे का अनुभव अवरुद्ध करने पर बुरे का अनुभव होगा।

(5) **बिन्दु** के, तन्त्र शास्त्र के अनुसार, दो प्रकार होते हैं : परा बिन्दु और अपरा बिन्दु। बिन्दु का अर्थ होता है स्रोत, उत्पत्ति का केन्द्र या वह केन्द्र जहाँ से किसी भी स्थिति का प्रारम्भ होता है, जहाँ आत्मा अपनी अभिव्यक्ति की क्रिया प्रारम्भ करती है।

अपरा बिन्दु के क्षेत्र में सर्वप्रथम नाद आता है और फिर बुद्धि। नाद में पहले स्पन्दन की अनुभूति होती है और स्पन्दन की अनुभूति से भाषा की उत्पत्ति होती है। यहाँ भाषा का सम्बन्ध समझने से है।

शरीर में स्पंदन की क्रिया हमेशा होती रहती है, लेकिन मनुष्य उसे समझ नहीं पाता, अनुभव नहीं कर पाता। एक अणुवीक्षण यन्त्र से एक अणु को देखने पर अणु के अन्दर अणु की नाभि और ऊर्जा (इलेक्ट्रोन, प्रोटोन) दीख पड़ेंगे। इनकी गति अति तीव्र है। अणु की तीव्र गति में एक स्पन्दन, एक ध्वनि, एक तरंग का अनुभव होगा। शरीर, पत्थर, धातु, लकड़ी आदि सभी में अणु विद्यमान है। जहाँ घनत्व अधिक है वहाँ रूप दिखलाई देता है, और जहाँ घनत्व कम है वहाँ रूप नहीं दिखेगा। पदार्थ का वास्तविक रूप है स्पन्दन। शरीर, पत्थर, धातु आदि सभी स्पन्दन के रूप में हैं। जहाँ स्पन्दन है,

वहाँ क्रिया है, स्थिरता नहीं है। स्थिरता में स्पन्दन उत्पन्न नहीं होता। स्पन्दन की उत्पत्ति के लिये गति या क्रिया की आवश्यकता होती है। चाहे सृष्टि का क्रम हो या मानव शरीर की एक क्रिया, दोनों में ही स्पन्दन होगा। इच्छा में भी, इच्छा के कार्य में, परिणति में भी स्पन्दन है, गति है, पुरुषार्थ है। इसी स्पन्दन में नाद का अनुभव होता है।

नाद योग के अभ्यास में कानों को बन्द कर लेने पर और नाद योग की गहरी अवस्था में चले जाने पर भीतर में ही विभिन्न ध्वँनियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। मस्तिष्क के अन्दर कभी घंटी की, कभी मुरली की और कभी झरने की आवाज सुनाई देने लगती है। ये सभी ध्वनियाँ कहाँ से उत्पन्न हो रही हैं ? यहीं पर सिद्धांत आता है **परा, पश्यन्ती** और **बैखरी** स्पन्दन का। बैखरी बाह्य स्पन्दन है, जो वाणी के रूप में प्रकट होती है, पश्यन्ती मानसिक है, और परा इससे भी परे है, अतीन्द्रिय है। यहीं नाद योग का सिद्धांत प्रारम्भ होता है। जब साधक ध्यान की अवस्था में चेतना की गहराई में प्रवेश करता है, तो अनाहत नाद स्वयं उत्पन्न होने लगता है। नाद की अनुभूति, मन्त्रों की अनुभूति होने लगती है। चाहे मन्त्र हो, या किसी प्रकार का नाद हो, अथवा किसी प्रकार का शब्द हो, चेतना के भीतर का स्पन्दन ही तो है। इसी स्पन्दन का व्यक्त रूप, पदार्थ जगत में आभास होने पर एक भाषा का रूप ले लेता है। एक व्यक्ति जो बोलता है उसे दूसरा किस प्रकार ग्रहण करता है ? आवाज ध्वनि तरंगों के रूप में कानों तक पहुँचती है और वे तरंगे मस्तिष्क के उस क्षेत्र से सम्बद्ध हो जाती हैं जो बुद्धि से सम्बन्धित है। बुद्धि उसका विश्लेषण और विभेदीकरण करती है तथा वह समझ में आने लगती है। यही प्रक्रिया है। यदि बुद्धि सही विश्लेषण नहीं करे, तो कुछ भी नहीं समझ पड़ेगा।

इस प्रकार स्पन्दन का सम्बन्ध बुद्धि से है, जो बिन्दु का एक अंश है। यहाँ बुद्धि का तात्पर्य शब्द-विज्ञान से है। शब्द-निर्धारण या शब्द-विज्ञान बुद्धि की परिभाषा है। एक स्पन्दन को जब रूप देते हैं, तो उसे पहचानने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिये अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ को लें। अ से लेकर औ तक सभी स्वर अलग हैं। लेकिन उन्हें पहचानने के लिए उनका एक-एक रूप दिया गया है। यह कहने पर कि 'करना है' या 'किया जाता है', सोचना नहीं पड़ता कि क में इ की मात्रा है या य अथवा न में 'आ' की मात्रा है। स्पन्दनों का रूप होता है, विभिन्न स्पन्दनों को मिला कर, शब्द का रूप बनता और समझा जाता है। अन्त में यही विज्ञान का रूप लेता है। चेतना के उस अंश को, जिसे स्पन्दन, ध्वनि और शब्द को समझने का प्रशिक्षण दिया जाता है, बुद्धि कहते हैं। उसका मूल केन्द्र है बिन्दु। यह है अपरा बिन्दु जिसका सम्बन्ध पदार्थ जगत से है।

अब परा बिन्दु को लें। शिव तत्त्व की चर्चा करते समय बतलाया गया था कि विद्येश्वर शिव तत्त्व से उत्पन्न होते हैं। विद्येश्वर स्वयं में प्रकाश और बिन्दु के रूप में रहते हैं। वहीं से उनकी अभिव्यक्ति और विकास प्रारम्भ होता है और अंततः वहीं पर वे

समाहित हो जाते हैं । आत्मा बिन्दु के रूप में है । परा बिन्दु के क्षेत्र में विद्येश्वर का प्रथम लोक या आयाम है **सदाशिव लोक** । दूसरा आयाम है **ईश्वरलोक** और तीसरा है **विद्यालोक** । सदाशिव लोक में विद्येश्वर रूप में क्रिया और ज्ञान में संयम की स्थिति रहती है; क्रिया और ज्ञान की अनुभूति एक साथ होती है, अलग नहीं । सामान्य रूप में मनुष्य क्रिया और ज्ञान की अलग-अलग अनुभूति प्राप्त करते हैं । ईश्वर लोक में सनातन तत्त्व का ज्ञान होता है । विद्येश्वर में यह ज्ञान जागृत होता है कि मैं भिन्न नहीं, अभिन्न हूँ । मैं नश्वर नहीं हूँ । मेरा काम केवल विस्तार और बाद में पुनः अपने को समेट लेना नहीं । मैं सनातन तत्त्व से अभिन्न हूँ । विद्यालोक में सर्वज्ञता का आभास रहता है । ये तीनों हैं पराबिन्दु के क्षेत्र । पराबिन्दु के विकास क्षेत्र में महामाया का प्रभाव रहता है । अपरा बिन्दु के क्षेत्र में माया का प्रभाव रहता है । माया अशुद्ध शक्ति है । महामाया में अशुद्धि नहीं है, क्योंकि वह सदाशिव से भिन्न नहीं है ।

४. पशु

पशु पुरुष का एक नाम है । पशु को क्षेत्रज्ञ के नाम से भी जाना जाता है, अर्थात् जिसका निवास किसी क्षेत्र के भीतर हो । क्षेत्र का अर्थ होता है सीमा । क्षेत्र की चर्चा का अभिप्राय होता है किसी सीमा के भीतर होना । अतः वह आत्मा, जिसका निवास किसी सीमा के भीतर हो, क्षेत्रज्ञ अथवा पशु कहलाती है । उसे जीवात्मा की संज्ञा भी दी गई है । यह सीमा या क्षेत्र है पाश की सीमा, पाश का बन्धन, जिसमें मल, माया और कर्म के बन्धन प्रमुख हैं । निरोध और बिन्दु अनुभव हैं । कर्म, माया और मल के बन्धन में मनुष्य को अनेक अवस्थाओं का ज्ञान या अनुभव होता है । माया के बन्धन में काल या समय, नियति या प्रारब्ध, कला या राग और विद्या का अनुभव होता है । कर्म में स्थूल, सूक्ष्म और कारण चेतना की क्रिया और प्रतिक्रिया का अनुभव होता है । मूल में तीन गुणों तथा उनके विकारों का अनुभव होता है । इस कारण भीतर में अहम् का भाव जागृत होता है, लेकिन अहम् भाव की उत्पत्ति शरीर-भाव, प्राण-भाव, इन्द्रिय-भाव और बुद्धि-भाव के बिना नहीं हो सकती । कर्म, माया और विकार के बन्धन में ये सब छोटे-छोटे भाव जागृत होते हैं । जो संसार का बोध दिलाते हैं । शास्त्रों के मतानुसार इनका चेतना की असीमता या सर्वज्ञता पर प्रभाव नहीं पड़ता है, केवल दृष्टिकोण बदल जाता है । उदाहरणार्थ, किसी एक दृश्य को मनुष्य अपनी आँखों से देखता है और वही मनुष्य आँखों के सामने नली का एक टुकड़ा लगाकर दृश्य को देखता है । आँखों के सामने नली का टुकड़ा लगाने से दृष्टि सीमित हो जाती है । उसे हटा देने पर सभी चीजें पुनः यथास्थान दिखने लगती हैं । मानव चेतना के अनुभव, दृष्टि या ज्ञान की अवस्था के सामने यह नली है, मल, माया और कर्म की । चूँकि इनके प्रभाव के कारण दूसरा कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होने पाता, मनुष्य दूसरे अनुभवों को देख नहीं पाता, समझ नहीं पाता ।

पशु का अर्थ होता है जानवर। जिस प्रकार घोड़े पर सवार मनुष्य लगाम के माध्यम से घोड़े पर नियन्त्रण रखता है तथा उसे इधर-उधर चलने, घूमने या दौड़ने के लिये निर्देश देता है, ठीक उसी प्रकार शिव भी पशु को अपने नियन्त्रण में रखता है। अर्थात्, वह व्यक्ति विशेष को नियन्त्रण में रखता है; पशु या पुरुष के ऊपर बैठा हुआ सत्य है, चैतन्य अवस्था है, स्थिति है। पशु को नियन्त्रण में रखने के लिये, दिशा देने के लिये शिव महामाया का सहारा लेता है। महामाया माध्यम है। पशु का दूसरा अर्थ है– जो डोरी से बंधा हुआ हो, जो पाश के बन्धन में हो।

पशु या जीवात्मा में; आत्मा और परमात्मा में कोई अंतर नहीं है। सभी एक ही तत्त्व हैं, लेकिन उनमें अलग-अलग प्रकार के अनुभव निहित हैं। उदाहरण के लिये भूमि का क्षेत्र विशाल है। सम्पूर्ण पृथ्वी ही भूमि है। एक जगह से मिट्टी लेते हैं, उसे तैयार करते हैं, पानी डालते हैं, गीला करते हैं, रौंदते हैं, कड़ेपन को दूर करते हैं और बाद में उसको घड़ा का एक रूप देते हैं, या कोई दूसरा पात्र या मूर्ति बनाते हैं। मिट्टी मिट्टी है, लेकिन हर अवस्था में इसके रूप, गुण तथा नाम अलग हो जाते हैं। मिट्टी बिना क्रिया के एक दूसरे रूप को स्वयं अपना नहीं सकती। ठीक इसी प्रकार शिव-तत्त्व को भूमि-रूप में देखा जा सकता है, जिसके भीतर में किसी भी रूप को अपनाने की क्षमता है। जब भूमि से मिट्टी को अलग करके बर्तन या मूर्ति तैयार करते हैं, तो तन्त्र के अनुसार वह आत्मा का रूप है, जो उसी व्यापक मूल तत्त्व से निकला है। जब किसी क्रिया के द्वारा उस आत्मा को एक क्षेत्र में सीमित करते हैं, तो वह अवस्था जीव की है। इस प्रकार जीव तीसरी अवस्था है। प्रथम अवस्था है शिव, द्वितीय आत्मा और तृतीय जीवात्मा। जीव है क्षेत्रज्ञ, आत्मा है मूल स्वभाव, लेकिन अपने मूल तत्त्व के अनन्त शरीर से पृथक है।

यह समझ लेना चाहिये कि मिट्टी, शिव या पदार्थ में शक्ति अन्तर्निहित है। पदार्थ और शक्ति को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यदि पदार्थ और शक्ति को अलग करें तो दोनों निष्क्रिय या निर्जीव हो जायेंगे। सजीव बनाये रखने के लिये शक्ति और पदार्थ दोनों की आवश्यकता होती है। शिव और शक्ति एक हैं; शिव पदार्थ है और शक्ति उसकी अन्तर्निहित क्षमता। लेकिन जब किसी क्रिया के द्वारा, इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति के द्वारा पदार्थ को दूसरा रूप देते हैं, तो मूल रूप नहीं रहता। उस परिवर्तित अवस्था का नाम है माया। अर्थात्, शक्ति का प्रयोग करते हुए मूल तत्त्व को दूसरा रूप देना माया है। दूसरे शब्दों में, असीम को सीमित बनाने के परिवर्तन क्रम को माया के रूप में देखा गया है।

चेतना की अनुभूति हमेशा दो स्तरों में होती है, जिसे **अपरा अनुभूति** और **परा अनुभूति** कहा गया है। अपरा अनुभूति के अंतर्गत प्रकृति के सभी तत्त्व, अभिव्यक्तियाँ और समस्त प्रक्रियाएँ आ जाती हैं। परा अवस्था इसके ऊपर है। यह कहा जा सकता है

कि अपरा क्षेत्र जीवात्मा से आत्मा तत्त्व तक सीमित है और परा अवस्था आत्मा से परमात्मा तक। आत्मा से परमात्मा तक जाने के लिये इस परिवर्तन या परिणति के क्रम में मनुष्य अन्य अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। जिसमें ज्ञान और कर्म के विभिन्न अवस्थाओं को देखा गया है, समझा गया है, उन्हें लोक का नाम दिया गया है। मनुष्य लोक से ऊपर सात लोक होता हैं– भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्। मानव अनुभूति के क्षेत्र में भी सात लोक होते हैं, जिन्हें चक्र कहते हैं– मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार। मनुष्य लोक के नीचे भी सात अवस्थाएँ हैं, जिन्हें पाताल या सप्तपाताल कहा जाता है। जहाँ मानव अनुभव क्षेत्र का सहस्रार है, वहाँ उच्च लोकों का भूलोक है, मूलाधार है; और जहाँ मनुष्य अनुभव का मूलाधार है, वहाँ निम्न लोकों का सहस्रार है। इन क्षेत्रों में कर्म और ज्ञान की अभिव्यक्ति अलग-अलग प्रकार की होती है। यह है विकास सिद्धान्त।

तन्त्र शास्त्र में तीन प्रकार के पशु बतलाये गये हैं : 1. **सकल पशु,** 2. **प्रलयाकल पशु** और 3. **विज्ञानाकल पशु**। सकल है जीवन की वर्तमान अवस्था। सामान्य मनुष्य विकारों के प्रभाव में; सत्व, रज, तम आदि गुणों के बन्धन में, माया तथा कर्मों के पाश में जीवन व्यतीत करता सकल पशु रूप से मुक्ति पाने के लिये अथक प्रयास एवं साधना तथा पुरुषार्थ करता है। उसके द्वारा माया के काल, नियति, राग विद्या एवं प्रारब्ध के प्रभावों को निर्मूल किया जाता है और प्रलयाकल की अवस्था को प्राप्त किया जाता है।

सकल के बाद प्रलयाकल की अवस्था है। यहाँ प्रलय शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ संहार होता है। प्रलयाकल में पशुत्व और कर्म बचते हैं। बन्धन केवल कर्म और पशुत्व भाव का है। सकल है बहुवचन, प्रलयाकल है द्विवचन। मनुष्य बहुवचन से द्विवचन में पहुँचा है। अब द्विवचन से एकवचन में पहुँचना है।

विज्ञानाकल पशुत्व की तीसरी स्थिति है। यह विज्ञान या आन्तरिक बोध की अवस्था है, जिसमें कर्म के समस्त बन्धन समाप्त हो जाते हैं। यह अवस्था जागृत या आत्मज्ञानी पशु की है। आत्मज्ञान की अवस्था में भी पशुभाव बना रहता है, क्योंकि यहाँ पर यह ज्ञान तो हो गया है कि मैं सनातन हूँ, मैं आत्मा हूँ, लेकिन अभी मिलन नहीं हुआ है। यह ज्ञान हो गया है कि मैं अंश हूँ – 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' – यह मैं हूँ, लेकिन अभी अद्वैत की अवस्था नहीं आई है। अगर कहा जाय कि 'तत्त्वमसि', अगर कहा जाय 'अहं ब्रह्मास्मि', तो यह केवल आंशिक अनुभूति का प्रतीक है, आंशिक प्राप्ति की अवस्था है, क्योंकि यदि कहा जाय कि अहं ब्रह्मास्मि या अहं प्रज्ञानं ब्रह्म, तो यहाँ पर 'अहं' या 'मैं' तो बचा ही रह जाता है। जहाँ पर यह 'अहं' या 'मैं' बचा रहता है वहाँ पर अंश का अनुभव होता है, मिलन का अनुभव नहीं होता। यदि मिलन का अनुभव हो जाय, तो आत्मा विद्येश्वर का रूप नहीं रख सकती, वह शिव तत्त्व हो जायेगी। अतः विज्ञानाकल की स्थिति में परिणति होती है विद्येश्वर की अवस्था में और विद्येश्वर की

अवस्था से परिणति होती है शिव तत्त्व में। विद्येश्वर की उच्चतर स्थिति में अहं समाप्त हो जाता है। लेकिन विज्ञानाकल की स्थिति में पशुभाव बना रहता है। मनुष्य को अभी भी गुणों की अनुभूति होती है तथा उनसे वह प्रभावित होता है। यह स्थिति अभी भी बनी हुई है। लेकिन जब यह भाव समाप्त हो जाय; सत्व, रज, तम, सभी प्रकार के संस्कार तथा कर्म समाप्त हो जायें, तब उस समय ज्ञान और कर्म में संयम स्थापित होता है। साधक स्वयं को सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ के रूप में देखता है। उस अनुभूति में उसकी यह क्षमता रहती है कि विद्येश्वर की अवस्था से वह पुनः पशुत्व की ओर आये या विद्येश्वर से परम तत्त्व की ओर जाय।

★ ★ ★

शैव सिद्धान्त

तन्त्र के अन्तर्गत विभिन्न मत और सम्प्रदाय उत्पन्न और विकसित हुए हैं। उनमें शैव सिद्धान्त महत्वपूर्ण रहा है। शैव सिद्धान्त में प्रमुख आठ विचारधाराएँ हैं : १. **पाशुपत सिद्धान्त,** २. **शैव सिद्धान्त (द्वैतवाद),** ३. **लकुलीश पाशुपत सिद्धान्त या द्वैताद्वैत शैव सिद्धान्त,** ४. **विशिष्टाद्वैत शैव सिद्धान्त,** ५. **विशेषाद्वैत शैव सिद्धान्त,** ६. **नन्दिकेश्वर शैव सिद्धान्त,** ७. **रसेश्वर शैव सिद्धान्त** और ८. **अद्वैतवाद का शैव सिद्धान्त,** जो काश्मीर में प्रचलित है।

१. पाशुपत सिद्धान्त

पाशुपत सिद्धान्त सर्वाधिक प्राचीन शैव सिद्धान्त माना जाता है। पर न तो, इस दर्शन का कोई ग्रन्थ उपलब्ध है और न इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में ही कुछ कहा जा सकता है, लेकिन इसका प्रभाव भारतीय दर्शनों पर पड़ा है। अनेक चिन्तकों का मत है कि भारतीय षड्दर्शनों के अंग, न्याय और वैशेषिक दर्शन, पाशुपत सिद्धान्त से प्रभावित हैं या उनमें पाशुपत सिद्धान्त की विचार धाराओं का समावेश हुआ है। वैसे पाशुपत सिद्धान्त की दार्शनिक विचार धाराओं के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। अन्य चिन्तकों एवं व्याख्याकारों के अनुसार इसके कुछ संभावित मुख्य बिन्दु हैं जिनके अनुसार शिव-तत्त्व या पति को सक्षम कारण के रूप में स्वीकार किया गया है, और भौतिक कारण को शिव-तत्त्व से भिन्न माना गया है। ये दोनों अलग हैं। इन दोनों को अलग करने से ही द्वैतवाद का विषय शुरू होता है। दूसरे विचारधाराओं के अनुसार सक्षम कारण और भौतिक कारण अभिन्न हैं। किसी तत्त्व को सक्षम मानने से स्वीकार करना होगा कि उसमें ज्ञान, क्रिया और शक्ति की अवस्थाएँ निहित हैं। लेकिन पाशुपत सिद्धान्त के अनुसार अभिव्यक्ति या भौतिक क्षमता मूल कारण से भिन्न है। इसमें क्रिया को शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, जो प्रधान है। शिव भी प्रधान है, लेकिन शिव तत्त्व अलग और शक्ति तत्त्व अलग हैं। सम्भवतः दोनों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिणति होने से दोनों एक दूसरे से अभिन्न हो जाते हैं। अभिन्न तत्त्व अद्वैत की अवस्था है।

पाँच प्रमुख विभक्तियाँ

पाशुपत सिद्धान्त की पाँच प्रमुख विभक्तियाँ हैं । कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त । कारण का सम्बन्ध पति या शिव-तत्त्व से है; कार्य का शक्ति से और योग का दोनों की मिलन की अवस्था से है । ऐक्य की अवस्था प्राप्त करने के लिये कोई विधि या उपाय होना चाहिए, जो दो भिन्न तत्त्वों को एक करे । दो तत्त्वों के साथ होने पर दुःख का अन्त होता है । यह भी माना जा सकता है कि दुःखान्त की अवस्था मोक्षावस्था है ।

इस दृष्टि से सांख्य भी द्वैतवाद का समर्थक है । सांख्य में बताया गया है कि मनुष्य को तीन प्रकार के दुःख होते हैं और उन दुःखों से मुक्ति पाना मनुष्य का अंतिम लक्ष्य होता है । द्वैत में दो तत्त्वों के भिन्न होने से दुःख या क्लेश की उत्पत्ति होती है । कहीं दो तत्त्वों में विरोध भी होगा, क्योंकि एक का स्वभाव है शान्त और दूसरे का स्वभाव है चंचल । शान्ति और चंचलता की अवस्था में सामंजस्य कभी हो नहीं सकता । सामंजस्य तभी संभव है जब शान्त अवस्था में चंचलता हो या चंचलता में शान्ति हो । जहाँ ये भेद हैं, वहाँ द्वन्द्व का होना स्वाभाविक है या किसी तीसरे तत्त्व की उत्पत्ति स्वाभाविक है । इस तीसरे तत्त्व को दुःख माना गया है, जिससे मुक्ति पाना पाशुपत सिद्धान्त का लक्ष्य है ।

योग की चर्चा में योग का तात्पर्य योगाभ्यास से नहीं वरन् ऐक्य या मिलन की अवस्था से है । यह सम्बन्ध किससे जुड़ेगा ? दुःख और कारण से या दुःख या कार्य से ? नहीं, योग का अभिप्राय है कार्य और कारण की क्षमता को एक करना । शिव और शक्ति के योग हेतु सायुज्य विधि के अन्तर्गत चर्या की व्याख्या की गई है । चर्या में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अनुशासनों का समावेश है । इसमें माया या शक्ति को प्रधान भौतिक कारण माना गया है । इस प्रकार, माया या शक्ति को कार्य की संज्ञा दी गई है । प्रधान से पृथ्वी की अवस्था तक उत्पत्ति, विकास और बन्धन पायेंगे; माया में भ्रान्ति और बन्धन की अवस्था रहेगी और शक्ति में उसी अवस्था की विभिन्नताओं से सामना होगा । अतः मूलतत्त्व एक ही है ।

आत्मा को शक्ति और शिव से अभिन्न माना है । पहले कहा गया है कि शिव अलग, और शक्ति अलग हैं, दोनों की कार्य-सीमायें अलग हैं; लेकिन आत्मा की चर्चा करते हुए कहते हैं कि आत्मा में प्रधान और पति दोनों का समावेश है, शिवतत्त्व और शक्ति-तत्त्व का । लेकिन इन दोनों के बीच एक आवरण है, जिसके कारण शक्ति तत्त्व शिव-तत्त्व को नहीं पहचान सकता और शिव-तत्त्व शक्ति-तत्त्व को नहीं पहचान सकता । इसका क्या कारण हो सकता है ? प्रधान से पृथ्वी-तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ गौण कारण हैं । मूल रूप में परिवर्तन के कारण मूल रूप या मूल स्वभाव को भूल जाते हैं, जिसके कारण आत्मा पर कर्मों का आवरण पड़ता है और शिव और शक्ति के बीच कर्मों का वही आवरण आ जाता है ।

विधि के द्वारा, शारीरिक, मानसिक और आध्यामिक अनुशासन के द्वारा दोनों के बीच से कर्मों के आवरण को हटाने का प्रयास किया जाता है। आवरण के हट जाने से योग की प्राप्ति होती है।

२. शैव सिद्धान्त (द्वैतवाद)

शैव सिद्धान्त (द्वैतवाद) दूसरा सिद्धान्त है। इसके प्रणेता महर्षि सद्योज्योति थे। वे एक चिन्तक थे। उन्होंने विकार, मल या बन्धन एवं उनके भेद को मनोविज्ञान के आधार पर समझाने का प्रयास किया है।

शैव सिद्धान्त (द्वैतवाद) का मत है कि मनुष्य के जीवन, अंतःकरण, चिन्तन आदि में तरंगे उत्पन्न होती हैं जिनके कारण मनुष्य सूक्ष्म अवस्था को भूल कर स्थूल अवस्था और स्थूल भोग की तरफ बढ़ता है। तरंगे वास्तव में विकार हैं, जो एक स्थिति में परिवर्तन लाती हैं पर जो सत्य नहीं हैं। एक आदमी जमीन पर चलने के लिये अपने पैरों का उपयोग करता है, पर पानी पर चलने के लिये पैरों का उपयोग नहीं कर सकता। पानी में तैरते हैं, खड़ा होकर चल नहीं सकते। पैर और हाथ हैं पर उनकी क्रिया दूसरे प्रकार की हो जाती है। इसी प्रकार तत्त्व भी शुद्ध हैं, लेकिन जब वे सृष्टि के अन्तर्गत माया के बन्धन में आते हैं, तो इनमें विकार उत्पन्न होते हैं। वे विकार ही मल हैं।

यह अनुमान लगाया जाता है कि सद्योज्योति ने शैव सिद्धान्त (द्वैतवाद) को अभिनव गुप्त के काल में, सन् ९९० से १०५० ई० के बीच विकसित किया था। अभिनव गुप्त स्वयं तन्त्र के एक सुविख्यात विचारक थे तथा तन्त्रलोक में उन्होंने ऋषि सद्योज्योति की मल सम्बन्धी विचार धारा और परिभाषा का विरोध किया। इससे ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि वे दोनों समकालीन थे। इस सिद्धान्त को अधिक विकसित करने में ऋषि सद्योज्योति के शिष्य वृहस्पति, शंकर नन्दन और देवबाला का प्रयास प्रमुख था।

इस सिद्धान्त का प्रभाव काश्मीर में भी पड़ा और काश्मीर में दो तान्त्रिक विचारधाराएँ विकसित हुई : एक अद्वैत शैव सिद्धान्त तथा दूसरा द्वैत शैव सिद्धान्त। सद्योज्योति का सिद्धान्त पशु, पति और पाश की विचारधारा को स्वीकार करता है। साथ ही १० शैव और १८ रौद्र आगमों को भी स्वीकार करता है।

३. लकुलीश पाशुपत सिद्धान्त (द्वैताद्वैत)

तीसरा प्रमुख शैव सिद्धान्त लकुलीश पाशुपत (द्वैताद्वैत) सिद्धान्त है। लकुलीश संभवतः द्वितीय शताब्दी के एक सन्त और चिन्तक थे। वायु पुराण और लिंग पुराण में कहा गया है कि बड़ौदा राज्य के कारवान क्षेत्र में महेश्वर के अन्तिम अवतार के रूप में लकुलीश का जन्म हुआ। वहीं पर निवास कर लकुलीश ने इस शैव सिद्धान्त का प्रचार किया। उस काल में पाशुपत विचारधारा अग्रगण्य थी, जिसे लकुलीश ने विस्तार पूर्वक समझाया। इसी लिये पाशुपत का नाम पड़ा लकुलीश पाशुपत सिद्धान्त।

इस सिद्धान्त के कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं जो लकुलीश पाशुपत सिद्धान्त की विचारधारा को स्पष्ट रूप से बतलाते हैं। इनमें एक है 'पाशुपत सूत्र', जिसकी रचना स्वयं लकुलीश ने की। अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं–'गणकारिका', 'यम प्रकरण', 'कारण पदार्थ' और 'आत्म समर्पण'। ये ग्रन्थ लकुलीश विचारधारा के आधार माने गये हैं तथा इनमें कृष्ण यजुर्वेद और तैत्तरीय संहिता का आंशिक समावेश है। संभावना है कि लकुलीश ने तत्कालीन प्रचलित वैदिक विचारधारा के अनुसार तन्त्र सिद्धान्त को एक नया मोड़ दिया। अतः इस सिद्धान्त में वैदिक और तान्त्रिक विचारधाराएँ मिलती हैं। लकुलीश ने तन्त्र ग्रन्थों में ब्रह्म और ब्राह्मण शब्दों का प्रयोग किया है।

तैत्तरीय संहिता के एक प्रमुख व्याख्याकार सायण ने तैत्तरीय संहिता की व्याख्या में तन्त्र के सिद्धान्तों को समझाया है। सायण ने पंचवक्त्र महादेव की चर्चा की है और उपासना की विधि बतलाई है, जो एक तान्त्रिक पद्धति है। इस प्रकार लकुलीश पाशुपत सिद्धान्त वेदोक्त तन्त्र है। तैत्तरीय आरण्यक के भेद-अभेदवाद जैसे पाँच वैदिक अनुवाक्यों को जैसा का तैसा इस सिद्धान्त में अपनाया गया है। दूसरी ओर, पाशुपत सूत्रों में से पंचवक्त्र महादेव की स्तुति को भी उठा कर तैत्तरीय आरण्यक में अपनाया गया है।

पाँच विभक्तियाँ

इस सिद्धान्त में, पाशुपत सिद्धान्त के अनुसार पाँच प्रमुख विभक्तियाँ हैं। वे हैं : कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त।

१. कारण का सम्बन्ध पति, शिव या शिव तत्त्व से है।

२. कार्य का सम्बन्ध परिणाम, शक्ति या माया से है।

३. शक्ति और शिव के मिलने पर जो उच्च अवस्था प्राप्त होती है, उसे योग अवस्था कहते हैं।

४. विधि का तात्पर्य उन तरीकों या उपायों से है, जिनके माध्यम से साधक योग अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

५. दुःखान्त है लक्ष्य।

यह दर्शन मोक्ष की अवस्था को केवल दुःख से मुक्ति नहीं मानता। कहता है कि इस अवस्था में केवल मुक्ति की प्राप्ति या समस्या का निराकरण ही नहीं होता वरन् पूर्णता की प्राप्ति होती है। जीवन में पूर्णता का अनुभव तभी संभव है जब ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति में भेद न हो। यदि ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति में भेद है तो वहाँ एक प्रारम्भ और एक अन्त है, जिसे भेद रूप में मानते हैं। अभेद अवस्था में ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति का समावेश है। शक्ति और पति का बोध एक ही स्वरूप में होता है, अर्धनारीश्वर रूप में। शरीर एक लेकिन आधे में शिव या पुरुष तत्त्व की अनुभूति और

आधे में प्रकृति या शक्ति की अनुभूति व्याप्त है, यह योग और पूर्णता की अनुभूति है। अर्धनारीश्वर में पुरुष अंश ज्ञान-शक्ति और प्रकृति अंश क्रिया-शक्ति है।

दूसरी विशेषता यह है कि यह कारण या शिव-तत्त्व तथा कार्य-शक्ति या माया को अलग-अलग मानता है। कार्य के अन्तर्गत विद्या, कला और पशु आते हैं। शक्ति के नियन्त्रण में सूक्ष्म और स्थूल, बौद्धिक और शुद्ध विद्याएँ आ जाती हैं। बाह्म रूप में पदार्थ के दृश्य स्वरूप तथा सूक्ष्म रूप में पदार्थ के भीतर पंचभूतों तथा तन्मात्राओं का समावेश कला के अन्तर्गत हैं। कला की समस्त अभिव्यक्तियों को शक्ति की क्रिया के रूप में बतलाया गया है। पशु को बन्धन युक्त विद्येश्वर, बन्धन युक्त आत्मा या जीवत्मा कहा गया है। पशुत्व के सभी गुण, जिनका बन्धन के रूप में आभास होता है, शक्ति की क्रिया के रूप में देखे गये हैं।

अन्य मतों, दर्शनों और विचारों में कहा गया है कि कार्य के लिये एक बाह्य आधार होना चाहिए।

आधार के बिना या दूसरे तत्त्व के बिना किसी कार्य का सम्पादन नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त में कहा जाता है कि कार्य की क्षमता अलग है और कार्य को सम्पादित करने के लिये किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार शिव चेतना का एक रूप साक्षी, द्रष्टा या निष्क्रिय है; और शक्ति एक अलग तत्त्व, एक स्वतंत्र सत्ता तथा सक्रिय है।

तदनुसार, मानव विकास और उत्थान के लिये जो विधि, या उपाय अपनाये जाते हैं, वे देवत्व की अनुभूति तक ले जाते हैं। देवत्व की अनुभूति का तात्पर्य है स्वयं को प्रकाश रूप में देखना। लेकिन स्वयं को प्रकाश रूप में देखने की अवस्था में भी व्यक्तित्व का एक अस्तित्व बना रहता है, जिसका अंत या नाश नहीं होता। केवल चेतना के सभी बंधन टूट जाते हैं और मानव स्वयं को प्रकाश के रूप में, चैतन्य आत्मा के रूप में अनुभव करता है। अनेक ग्रन्थों या मतों में कहा गया है कि तपस्या, यज्ञादि कर्म करने से मनुष्य स्वर्ग लोक प्राप्त करेगा, देव बनेगा तथा स्वर्ग लोकों के परे और भी उत्तरोत्तर लोकों में जायेगा। ये हैं देवत्व की अवस्थाएँ। लेकिन इस दर्शन के अनुसार विधि के पालन से सामीप्य की अनुभूति होती है, शिव-तत्त्व की निकटता प्राप्त होती है, शिव-सामीप्य की अवस्था प्राप्त होती है, जिससे पुनः पतन न हो। इसी विचारधारा ने मोक्ष की विचारधारा को स्पष्ट किया है।

परिभाषा के अनुसार मोक्ष का अर्थ है सनातन सत्ता को प्राप्त करना। सनातन सत्ता एक ऐसी अवस्था है, जिसका न प्रारम्भ है और न अन्त, जो अनादि, अनन्त और असीम है। जो शुभ है, वही वास्तविक है। दुःख का अन्त होता है। जहाँ दुःख का अन्त होता है, वहाँ मोक्ष प्रारम्भ होता है। मोक्ष सम्बन्धी बातें जीवात्मा के स्तर की हैं। सुख और दुःख का अनुभव कौन करता है? शिव तो नहीं करता; आत्मा करती है। कौन आत्मा?

विद्येश्वर के रूप में तो नहीं ! सुख-दुःख का अनुभव वह आत्मा करती है, जो मनुष्य शरीर में बन्धन में है, जिसकी क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति पर आवरण पड़ा हुआ है। जब मनुष्य इन अनुभवों को पार कर सुख-दुःख से रहित अवस्था को प्राप्त करता है, तब मोक्ष का अनुभव होता है।

शिव-तत्त्व को शायद कोई व्यक्ति प्राप्त कर सके, क्योंकि शिव, पति, या कारण सत् है, अस्तित्ववान है; असत् नहीं, अस्तित्व हीन नहीं। उसकी सनातनता, उसकी अवस्था तथा उसकी अनुभूति मोक्ष अवस्था से भी भिन्न है। मोक्ष का अनुभव मनुष्य अपने जीवन काल में, शरीर, मन और इन्द्रियों के रहते हुए भी कर सकता है, लेकिन पति, कारण या शिव जन्म तथा मृत्यु से परे है। वह किसी प्रकार की सीमा या बन्धन में नहीं है। उसका अंश प्रत्येक आत्मा में, ज्ञान-रूप में विद्यमान है, जिसे साक्षी या द्रष्टा कहते हैं। शिव द्रष्टा या साक्षी के रूप में कार्य तथा कार्य–परिणामों को अपने नियन्त्रण में रखता है। इसीलिए वह अकल है। सकल, प्रलयाकल या विज्ञानाकल तो जीवन, माया या शक्ति के अन्दर आते हैं, लेकिन शिव-तत्त्व अकल है, जो किसी परिधि या सीमा में नहीं है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर लकुलीश पाशुपत दर्शन कार्य को कारण से भिन्न मानता है। कारण का सम्बन्ध है पति या शिव से और कार्य का सम्बन्ध है माया या शक्ति से।

कार्य से सम्बन्धित श्रेणियाँ

कार्य के अन्तर्गत तीन श्रेणियाँ आती हैं : विद्या, कला और पशु।

विद्या को इस दर्शन में दो श्रेणियों में बाँटा गया है : बोधस्व भाव और अबोधस्व-भाव। इसे बोध स्वभाव और अबोध स्वभाव भी कह सकते हैं। विद्या की मूल प्रवृत्ति, मूल स्थिति या मूल अवस्था अबोधस्व भाव की है। विद्या का जब स्वयं में ही मार्जन हो जाय तो गुण के रूप में वह अबोधस्व भाव की स्थिति है। जहाँ विद्या बोध स्वभाव या बोधस्व भाव के रूप में है वहाँ वह विवेकशक्ति है।

विद्या स्वयं में प्रकाश है; विद्या को प्रकाशित नहीं किया जाता। विद्या से पदार्थ के प्रकाशित होने पर बोधस्व भाव उत्पन्न होता है। यदि साधक पहचान ले कि सामने कौन हैं, तो इसे बोधस्व भाव कहेंगे। तात्पर्य यह कि साधक की जानकारी किसी के सम्पर्क में आ कर चेतन अवस्था में जागृति ले आई है। जब विद्या का सम्पर्क किसी तत्त्व या पदार्थ से होता है तब उसे एक नाम, रूप और गुण से युक्त देखते हैं। लेकिन जब विद्या का सम्पर्क उस पदार्थ या तत्त्व से नहीं होता तो ऐसा नहीं कि वह पदार्थ या तत्त्व नहीं है। यह जानकारी ही विद्या का चैतन्य होना होता है। चेतन अवस्था में जानकारी मिले तो वह बोध की अवस्था है।

बोध स्वभाव के विभाजन हैं : विवेक प्रवृत्ति और अविवेक प्रवृत्ति। प्रवृत्ति और वृत्ति में अन्तर है। वृत्ति अंतःकरण की परिवर्तित अवस्था है, और प्रवृत्ति में परिवर्तन

निहित है। वृत्ति का अर्थ है किसी मनोभाव को एक रूप में देखना; अन्तःकरण की किसी प्रक्रिया या अवस्था को एक सीमित रूप में देखना। शरीर के किसी अंग में फोड़ा हो जाता है, तो वह प्रभावित अंग होता है। अन्तःकरण तथा वृत्ति का सम्बन्ध यही है, अन्तःकरण शरीर तथा वृत्ति फोड़ा है। प्रवृत्ति एक ऐसी अवस्था है, जिसमें परिवर्तन की संभावना निहित है। प्रवृत्ति में परिवर्तन की संभाव्यता है। यह परिवर्तित या ठोस अवस्था नहीं है। विवेक प्रवृत्ति या अविवेक प्रवृत्ति विद्या से उत्पन्न होती है। इनमें यही अनुभव होगा कि कभी ज्ञान सही प्रकार का है और कभी गलत। सूर्य को देखकर पहचानते हैं कि यह सूर्य है, यह विवेक प्रवृत्ति है। यदि निर्णय करें कि सूर्य का आकार उतना ही बड़ा है जितना कि वह दिखाई पड़ता है तो यह अविवेक प्रवृत्ति होगी क्योंकि सूर्य उतना ही बड़ा नहीं जितना यहाँ से दिखलाई पड़ता है।

अविद्या है विद्या का अभाव और विद्या है स्वप्रकाशित ज्ञान। विद्या और विवेक में अंतर है। सूर्य का परिचय पहले से ही विद्या के रूप में, जानकारी के रूप में भीतर है। समुद्र को किसी ने कभी नहीं देखा हो तो समुद्र के किनारे पहुँच कर अथाह सागर को देखने से वह एक क्षण के लिये अवाक् हो जाता है। लेकिन शीघ्र ही समुद्र की विशालता और स्वरूप को स्वीकार भी कर लेता है। अतः विद्या है आन्तरिक अनुभव जो भीतर में पहले से है, और विवेक है बाह्य अभिव्यक्ति जो यथार्थ है। अविद्या में विद्या का अभाव है, अविवेक में विवेक का।

अबोधस्व भाव की अवस्था में विद्या किसी अभिव्यक्ति या तत्त्व के साथ सम्पर्क में नहीं है। ऐसा मान सकते हैं कि अबोधस्व भाव में विद्या अभिव्यक्ति के रूप में नहीं बल्कि, गुण, संस्कार, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, वास्तविकता और अवास्तविकता के रूप में विकसित होती है। अबोध अवस्था में धर्म-अधर्म और संस्कार की बात होती है। धर्म-अधर्म और संस्कार को अबोध अवस्था की विभिन्न स्थितियों के रूप में देखा गया है। जीवन में यह दर्शन मूल अवस्था में, प्रकाश अवस्था में है। बुद्धि के साथ सम्पर्क होने पर ज्ञान होता है कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है। बुद्धि बाह्य वातावरण से, सामाजिक परिवेश से, पारिवारिक विचारधारा से और संस्कृति से प्रभावित होती है तथा धर्म-अधर्म का बोध होता है जो माने गये हैं एवं जिनके द्वारा या जिनके सहयोग से जीवन में अभिव्यक्तियाँ होती हैं।

संस्कार जाने गये या अनुभवगम्य कर्म के सूक्ष्म परिणाम हैं। जाने गये का अर्थ है कि जिसे मनुष्य ने अपने जीवन में अनुभव किया है, और अनुभवगम्य का तात्पर्य है कि जिसका अनुभव हो सकता है, जो व्यक्तित्व की सीमा के भीतर हो; चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म, चाहे कारण। इन क्षेत्रों में कर्म के परिणाम संस्कार हैं, चूंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं के कर्मों के प्रति मनुष्य हमेशा सजग नहीं रहता। संस्कारों को भी वह नहीं जानता, जो परिणामस्वरूप एक प्रभाव के रूप में भीतर हैं।

कला को यहाँ दो रूपों में देखा गया है। पहला रूप है कार्य या अनुभव आश्रित कर्म, और दूसरा रूप है करण या अनुभव आश्रित माध्यम। अनुभव आश्रित कर्म में पंचभूतों के गुणों के विषय में चर्चा होती है, जिन्हें तन्मात्रा कहते हैं। प्रारम्भिक सृष्टि तो तन्मात्रा और पंचभूतों से ही होती है। सृष्टि में पहले मूल तत्त्वों का, गुणों का संग्रह होता है। कला में कार्य के अंतर्गत सूक्ष्म तन्मात्राओं और पंचमहाभूतों का सम्बन्ध है। कला के अन्तर्गत करण या माध्यम में कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण आते हैं। इस प्रकार करण या माध्यम के रूप में चौदह स्थितियाँ हो जाती हैं : ज्ञानेन्द्रियाँ–५, कर्मेन्द्रियाँ–५ और अन्तःकरण–४। इन चौदह बाह्य, शारीरिक या स्थूल माध्यमों के द्वारा कला के सूक्ष्म कार्यों को तथा अभिव्यक्तियों की सूक्ष्म अवस्थाओं को समझा जा सकता है।

पशु दो प्रकार के होते हैं : निरंजन और सांजन। प्रथम कोटि की पशु पदार्थ और इन्द्रिय बन्धन से परे होते हैं। यह पशु की उच्च अवस्था है जिसे विद्येश्वर के नाम से भी जाना जाता है। इस अवस्था में पदार्थ, इन्द्रियों और अन्तःकरण का बन्धन नहीं रहता। पशु का दूसरा रूप होता है सांजन या अंजन सहित। इस अवस्था की तीन विभक्तियाँ या श्रेणियाँ बतलाई जाती हैं। सांजन का अर्थ होता है पदार्थ, इन्द्रियों और अंतःकरण द्वारा प्रभावित। सांजन सामान्य, सांसारिक, भौतिक और लौकिक अवस्था है। प्रत्येक मनुष्य या जीव सांजन है; पदार्थ, इन्द्रिय और अन्तःकरण के बन्धन में बँधा है।

सांजन से शुद्ध अवस्था **संहृत पशु** की है। संहृत अवस्था आत्मा की उस अवस्था को कहते हैं, जो संहार या देहनाश के समय बना रहता है। शरीर के खत्म हो जाने पर जब बाह्य भौतिक पदार्थ, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के बन्धन छूट जाते हैं तब संहृत आत्मा की स्थिति प्राप्त होती है। संहृत आत्मा का पुनः-पुनः जन्म हो सकता है। अतः संहृत अवस्था पदार्थ और इन्द्रियों से परे है जो शरीर नाश के पश्चात् प्राप्त होती है।

संहृत से शुद्ध है **कैवल्यगत पशु** की अवस्था। यह अवस्था कला या प्रकृति के बन्धन से मुक्त होती है। इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद प्रकृति और कला के बन्धन, कार्य और करण के बन्धन, विद्या के दोनों रूपों के बन्धन स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

सांजन में पशु की तीसरी अवस्था है– **निष्ठ्योगयुक्त पशु**। इसको योगनिष्ठ पशु भी कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य है, योग से युक्त या योग में निष्ठ पशु। यह शिवसायुज्य, शिव या परम चेतना से मिलन या ऐक्य की अवस्था है; विद्येश्वर की अवस्था से शिव में प्रत्यावर्त्तन है।

पाँच प्रकार के पशुमल

मल को अभी तक विकारों के रूप में देखा गया है। यहाँ बतलाया गया है कि पशु जीवन में पाँच प्रकार के मल होते हैं : १. मिथ्या ज्ञान, २. अधर्म आचरण, ३. आसक्ति की अवस्था, ४. च्युति और ५. पशुत्व मल। मिथ्या ज्ञान का अर्थ भ्रान्त ज्ञान है। अधर्म

के आचरण का अर्थ स्वयं में स्पष्ट है। आसक्ति की अवस्था का अभिप्राय शक्ति हेतु मल है। च्युति का तात्पर्य पतन, बन्धन, अविकसित अवस्था या चेतना के विकास में बाधा से है। पशुत्व मल का सम्बन्ध आत्मनिष्ठ, स्वार्थपूर्ण विचारधारा से है। इन पशु मलों में विकार और अवस्था, दोनों का मिश्रण है।

पशु के लक्षण

पशु के निम्नलिखित लक्षण बतलाये गये हैं : (१) सर्वज्ञता का अभाव, (२) शक्ति का अभाव, (३) इच्छाशक्ति का अभाव, (४) सीमित ज्ञान, (५) ज्ञान एवं कर्म क्षमता का अभाव, (६) नियंत्रण शक्ति का अभाव, (७) व्यापकता का अभाव, (८) जीवनी शक्ति और शरीर में भेद-भाव, (९) भय का प्रभाव, (१०) जरा (बुढ़ापा), (११) व्याधि, (१२) मृत्यु और पुनर्जन्म, (१३) सीमित क्रियाशक्ति और (१४) शासन क्षमता का अभाव।

(१) मनुष्य कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता; यदि सर्वज्ञ हो जायेगा, तो पशु नहीं रहेगा। (२),(३) शक्ति या सामर्थ्य का अभाव तथा इच्छाशक्ति या संकल्पशक्ति की भी कमी रहती है। स्वयं पर नियन्त्रण और विश्वास नहीं रहता। (४) ज्ञान भी सीमित है। (५) मनुष्य की चेतना में एक बार जो कार्यक्रम बन जाता है उसी के अनुसार कार्य होता है। साथ ही अगर कार्य करना चाहें, तो तामसिकता या राजसिकता मनुष्य को घेर लेती है और कार्य सही रूप से सम्पादिन नहीं हो सकता। (६) मनुष्य में नियन्त्रण शक्ति, आत्मसंयम का भी अभाव रहता है। (७) व्यापकता का अभिप्राय ब्रह्माण्डीय चेतना से नहीं, वरन् विस्तृत चेतना से है। मानव चेतना विस्तृत नहीं, सीमित है। (८) मानव चेतना के दो आधार हैं– प्राण और वासना। दोनों एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं और शरीर से भी अभिन्न हैं। शरीर के द्वारा प्राण का आभास होता है तथा अन्तःकरण के द्वारा वासना का। साथ ही, अन्तःकरण के द्वारा प्राण का आभास होता है और शरीर के द्वारा वासना का। ये अन्तर्सम्बद्ध हैं। इन्हें अलग देखा या माना जाता है, क्योंकि इनके सम्बन्धों को मनुष्य नहीं समझ पाता। व्यावहारिक मोक्ष में ये एक ही हैं। शरीर से प्राण और वासना भिन्न नहीं हैं, प्राण से शरीर और वासना भिन्न नहीं हैं, और वासना से प्राण और शरीर भिन्न नहीं हैं। (९) जीवन में भय या असुरक्षा का भाव एक वृत्ति या अन्तर्बाधा के रूप में रहता है जो बार-बार व्यक्ति को सुख और भोग की ओर आकर्षित करता है। यदि भय या असुरक्षा का भाव मन से हट जाय, तो साधक इस अवस्था को, एक मुख्य बाधा को पार कर लेता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन जीवन के चार आधार हैं। यदि एक भय को ही समझ लें, तो जीवन का एक दोष पीछे छोड़ अपने को अधिक शुद्ध बना सकेंगे। (१०), (११) जरा और व्याधि शरीर विकास का परिणाम है। शरीर मूल तत्त्व नहीं, परिणाम है। शरीर प्राप्ति के समय से ही शरीर का नाश प्रारम्भ हो जाता है। पहले शरीर की एक अवस्था थी, अब वह बदल गई, परिवर्तन हो गया। जरा और व्याधि का तात्पर्य वार्धक्य से नहीं वरन् शारीरिक परिवर्तन से है : एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी अवस्था को प्राप्त करना। (१२)

मृत्यु को भौतिक शरीर का अन्त माना गया है। स्थूल रूप में मनुष्य मृत्यु तक ही पशुत्व का अनुभव कर सकता है। तदुपरान्त पशुत्व का अनुभव दूसरे रूप में, संस्कार रूप में करेगा। अभी सांजन रूप में जन्म, जीवन, मृत्यु और पुनर्जन्म का अनुभव हो रहा है। (१३) क्रियाशक्ति की चर्चा पूर्व में की गई है। (१४) शासन क्षमता के अभाव को पशु का अन्तिम लक्षण कहा गया है। शासन का तात्पर्य आत्मानुशासन से है। पशु अवस्था में इसका अभाव रहता है। इसीलिये योगसूत्रों में स्वयं को समझने के लिये कहा गया है, 'अथ योगानुशासनम्'।

ये सभी पशु अवस्था के लक्षण हैं। सम्प्रति मनुष्य इसी अवस्था में है।

मल हटाने के लिये निर्देश

लकुलीश पाशुपत दर्शन के अन्तर्गत पशुमल को हटाने के लिये कुछ विशेष निर्देश दिये गये हैं। उनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन, आचरण, व्यवहार, शिक्षा और दर्शन से है। वे निर्देश हैं– (१) गुरु-शिष्य सम्बन्ध, (२) चर्या, (३) जप और ध्यान, (४) सदा रुद्र-स्मृति, (५) प्रसाद या अनुग्रह तथा (६) देश या स्थान।

१. गुरु-शिष्य सम्बन्ध

गुरु-शिष्य सम्बन्ध को सान्निध्य या वास के नाम से जाना गया है। प्रारम्भिक अवस्था में जब तक मनुष्य को उचित निर्देश नहीं मिलता तब तक उसका बौद्धिक, आन्तरिक और आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता। समर्थ शिक्षक या गुरु ही निर्देश दे सकता है। निर्देश का तात्पर्य कक्षा की शिक्षा नहीं, बल्कि एक एकात्म सम्बन्ध से है जो दो व्यक्तियों के बीच स्थापित हो सकता है। आध्यात्मिक जीवन में साधक का सम्बन्ध गुरु के साथ जुड़ता है। गुरु साधक की अवस्था, मनोभाव और व्यक्तित्व को जान कर, समझ कर यथायोग्य निर्देश देते हैं, जो साधना के लिये उपयोगी सिद्ध हो।

यदि साधक अपने लिये किसी मार्ग का चयन करता है तो उसमें उसकी अपनी इच्छायें, कमजोरियाँ और पूर्वाग्रह भी हो सकते हैं। वह सोचता है कि मेरे लिये यह उपयुक्त है, उससे मुझे लाभ होगा, सिद्धि और पूर्णता की प्राप्ति होगी। बौद्धिक स्तर पर उत्पन्न होने वाले ये विचार पशुमल द्वारा ही उत्पन्न हो रहे हैं तथा गुणों के द्वारा प्रभावित हैं। तामसिक, राजसिक और सात्विक साधकों के जीवन में क्रमशः तामसिक, राजसिक और सात्विक साधना तथा दिनचर्या का सामञ्जस्य होता है, जिसके लिये गुरु-शिष्य के बीच आन्तरिक और एकात्म सम्बन्ध का होना आवश्यक है।

२. चर्या

दूसरा निर्देश चर्या है। चर्या का अर्थ होता है शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और लौकिक दृष्टि से अनुशासित जीवन यापन। यदि यौगिक दृष्टि से देखें तो चर्या में यम और नियम का समावेश है। यम और नियम के अभ्यास से मनुष्य अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अनुशासन स्थापित करने में सफल हो पाता है। इससे स्वयं को

एकाग्र करने, शुद्ध बनाने, चिन्तन को निर्मल बनाने तथा मानसिक विकारों को दूर करने के लिये प्रयास किये जा सकते हैं।

चर्या से सम्बन्धित अन्य विधियाँ हैं : दान, तप और व्रत। दान का तात्पर्य निर्धन को रुपया–पैसा, सम्पत्ति या सामान देने से नहीं वरन् वैसे समस्त कर्मों से है जो निःस्वार्थ भाव से किये जाते हैं, तथा जो सकारात्मक और उपयोगी हों। तप का अभिप्राय अपने जीवन में शारीरिक, आन्तरिक और आध्यात्मिक अनुशासन को उतारने एवं उनका पालन करने से है।

व्रत का सामान्य अर्थ होता है किसी विशेष त्योहार के समय किसी विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड को सम्पादित करना। इसके अन्तर्गत पूजा, उपवास आदि आ जाते हैं। पर यहाँ व्रत का अर्थ प्रबल संकल्प शक्ति से है। इसका अभिप्राय साधक की मानसिक प्रतिभा को अत्यधिक तीव्र और केन्द्रित बनाना है, ताकि प्रतिभा, शक्ति और संकल्प जागृत हो कर व्यक्तित्व को शुद्ध बनाने में सहयोगी सिद्ध हों।

३.जप-ध्यान

जप और ध्यान के अन्तर्गत मानसिक एकाग्रता, मन को अन्तर्मुखी बनाने की विधि, धारणा का अभ्यास, ध्यान का अभ्यास, प्रतीक पर चेतना को केन्द्रित करना, मन्त्र का ख्याल करना इत्यादि साधनाएँ हैं। मानव व्यक्तित्व या चेतना के भीतर में एक कार्य-योजना रहती है, जिसके आधार पर वह चिन्तन, मनन और कार्य करता है। योग या तन्त्र के अन्तर्गत एकाग्रता के अभ्यासों का उद्देश्य इस कार्य-योजना को बदलना है। यह एक मान्य विचारधारा है कि मनुष्य का मन एक सीमित क्षेत्र में ही कार्य करने में सक्षम होता है। जब मन को उस सीमित क्षेत्र से बाहर लाने का प्रयत्न किया जाता है, तो कार्य सम्पादन नहीं हो पाता, क्योंकि मन तो उस प्रकार प्रशिक्षित नहीं है। कम्प्यूटर में एक विशेष कार्यक्रम के प्रयोग के क्रम में दूसरे कार्यक्रम का प्रयोग नहीं कर सकते जब तक कि पहले को पूरा न कर लिया जाय। ठीक इसी प्रकार अंतःकरण के सभी अंगों– मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में एकाग्रता, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और मन्त्र के अभ्यास के द्वारा परिवर्तन लाया जाता है। इस प्रक्रिया में समय अवश्य लगता है क्योंकि पूर्व नियोजित कार्यक्रम को धीरे-धीरे ही समाप्त करना पड़ता है और नये कार्यक्रम को तैयार करना पड़ता है, जो व्यक्तित्व की उन्नति, प्रगति और विकास में सहायक होता है।

४. सदा रुद्र-स्मृति

चौथा निर्देश है 'सदा रुद्र-स्मृति'। इसे ईश्वर-प्रणिधान के रूप में समझा जा सकता है। मनुष्य को अपने जीवन में निराशावादी नहीं,आशावादी और आस्थावान बनना है। आस्था और आत्मविश्वास के अभाव में मनुष्य दिग्भ्रमित हो जाता है, सन्तुलन खो बैठता है। जीवन में आशावादिता लाने के लिये ईश्वर-प्रणिधान द्वारा आस्था, विश्वास और

श्रद्धा को जागृत किया जाता है । मनुष्य को यह विचार लेकर चलना पड़ता है कि मैं केवल एक माध्यम हूँ, अभिकर्त्ता हूँ, करानेवाला कोई और है । वह किस रूप में करा रहा है, इसका क्या परिणाम होगा, वही जानता है । जब इस प्रकार की भावना जागृत होती है, तब जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं । जब तक जीवन में निराशा है तब तक मनुष्य अपनी ही क्षमता और अक्षमताओं से संघर्ष करता रहता है ।

५. प्रसाद या अनुग्रह

पाँचवा निर्देश है प्रसाद या अनुग्रह । भक्ति और समर्पण के द्वारा अनुग्रह की प्राप्ति होती है । भक्ति और समर्पण की जागृति से अहं विगलित होता है, तब जीवन में दिव्य-शक्ति के प्रवाह का, अनुग्रह का, मनुष्य अनुभव करता है । अनुग्रह प्राप्ति के लिये तीन उपाय हैं– समर्पण, सरलता और भक्ति ।

६. देश या स्थान

छठा निर्देश है देश या स्थान के सम्बन्ध में । आत्मोन्नति के लिये उपयुक्त क्षेत्र का चयन करना आवश्यक है । कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं, जहाँ का वातावरण आत्मिक और आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है । वहाँ लोग एक लक्ष्य या उद्देश्य ले करके आते हैं और उपयुक्त वातावरण का सृजन करते हैं । मन्दिर में जाने से अच्छा लगता है, शांति मिलती है, कुछ काल के लिये अपनी समस्याओं को भूल जाते हैं, समस्याओं के निराकरण के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं । आश्रमों में भी एक विशिष्ट वातावरण होता है और वहाँ लोग एक उद्देश्य विशेष से जाते हैं । गुफाओं का भी एक विशेष वातावरण होता है । वहाँ आदमी सांसारिक और सामाजिक कोलाहल से दूर रहकर एकान्तिक जीवन में आत्म निरीक्षण कर सकता है । श्मशान में हर क्षण जीवन की नश्वरता का आभास होता रहता है । इससे धीरे-धीरे वैराग्य की उत्पत्ति और आसक्ति का नाश होता है । अतः इस संदर्भ में ऐसे-ऐसे स्थानों का वर्णन किया गया है, जहाँ रहकर मनुष्य अनित्य संसार की अनुपादेयता समझ कर अपने अन्दर की नित्य सनातनता की खोज करने के निमित्त उन्मुख हो जाता है ।

अवस्थाओं की अनुभूति

लकुलीश पाशुपत दर्शन में उन अवस्थाओं का भी वर्णन किया गया है, जिनकी अनुभूति उपर्युक्त निर्देशों का पालन करने वाले साधकों के जीवन में होती है । इन अवस्थाओं में १. व्यक्त, २. अव्यक्त और ३. जय को प्रमुख माना गया है ।

व्यक्त का अभिप्राय होता है परम्परा, पद्धति या साधना के लक्षणों को अपनाना । उदाहरणार्थ, शैव साधक शैव-परम्परा, शैव-पद्धति और शैव-साधना के लक्षणों को अपनाते हैं; वैष्णव साधक वैष्णव-परम्परा, वैष्णव-पद्धति और वैष्णव-साधना के लक्षणों को अपनाते हैं; शाक्त साधक शाक्त-परम्परा, शाक्त-पद्धति और शाक्त-साधना के लक्षणों

को अपनाते हैं। संन्यासी संन्यास साधना की परम्परा और साधना की पद्धति को ग्रहण करते हैं। ये अलग-अलग पद्धतियाँ सम्बद्ध साधक को अपने लक्ष्य का स्मरण दिलाती रहती हैं। एक चिह्न को अपनाने से स्वयं में, स्वयं की विचारधारा और व्यवहार में परिवर्तन घटने लगते हैं, लेकिन यह परिवर्तन तभी सम्भव है जबकि उस चिह्न, पद्धति और परम्परा के प्रति श्रद्धा, विश्वास और आस्था हो। अटूट श्रद्धा, विश्वास और आस्था की अवस्था को ही व्यक्त अवस्था कहते हैं। प्रत्येक साधक और संन्यासी को अपने ऊपर, अपनी परम्परा और पद्धति पर श्रद्धा होनी चाहिए, विश्वास होना चाहिए और इसके लिए गौरव का अनुभव करना चाहिए।

अव्यक्त अवस्था आगे बढ़ने पर आनेवाली दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में बाह्य चिह्नों का महत्व नहीं रह जाता, पर इनके त्याग के बाद भी सजगता का वही स्तर, वही भावना, विश्वास और भक्ति बनी रहनी चाहिये।

जय की अवस्था तीसरी अवस्था है। जय का तात्पर्य होता है इन्द्रिय–वासना, इन्द्रिय-भोग की इच्छा पर विजय प्राप्त करना।

जय प्राप्ति के बाद चौथी अवस्था है **च्छेद** की। च्छेद का तात्पर्य है संसार, सांसारिक भोग और सर्वस्व का त्याग। यह परमहंस अवस्था है। सर्वस्व त्याग की अवस्था में समस्त चाह, इच्छा, कामना और वासना तथा इनसे सम्बन्धित कर्म समाप्त हो जाते हैं।

इन सबका परिणाम है– मुक्ति। यह पाँचवीं और अन्तिम अवस्था है, जिसे **निष्ठा** अवस्था कहते हैं।

शुद्ध अवस्थाओं की प्राप्ति

लकुलीश पाशुपत दर्शन में उन शुद्ध अवस्थाओं का भी वर्णन किया गया है, जिनका अनुभव उपरोक्त अवस्थाओं से गुजरते हुए साधक करता है। शुद्ध अवस्थाएँ पाँच हैं : (१) अविधा लोप, (२) अधर्म लोप, (३) आसक्ति लोप, (४) अंतःकरण की चंचलता की समाप्ति और (५) पशुत्व लोप। उपरोक्त शुद्ध अवस्थाओं या स्थितियों के आधार पर अनुमान लगा सकते हैं कि साधक किस अवस्था को किस हद तक प्राप्त कर चुका है। इसके लिये या तो गुरु आवश्यक हैं या निश्चित निर्देशों का होना आवश्यक है।

आत्मनिरीक्षण से मालूम पड़ता है कि साधक के जीवन से अविद्या, अधर्म और आसक्ति का लोप हुआ या नहीं। साधक चिन्तन, मनन और साधना के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे और जाने कि जीवन से संकीर्णता का लोप हो गया, अंतःकरण की चंचलता समाप्त हो गई है, तो यह माना जा सकता है कि उसने शुद्ध स्थिति प्राप्त कर ली है। ये शुद्ध स्थितियाँ एक तरह से प्रगति के पड़ाव हैं जिनके द्वारा यात्रा तथा दूरी का अनुमान होता है।

बल या शक्ति

लकुलीश पाशुपत दर्शन में उस शक्ति, प्रेरणा या बल के विषय में कहा गया है, जो उपरोक्त शुद्ध अवस्थाओं की प्राप्ति के पश्चात् साधक को विकास के मार्ग में आगे ले जाते हैं। इस सम्बन्ध में १. गुरुभक्ति का बल, २. वासनाओं से मुक्ति, ३. समभाव, ४. धर्माचरण और ५. सत्याचरण की चर्चा की गई है।

साधक अपने गुरु या मार्गदर्शक के प्रति जिस श्रद्धा और विश्वास का अनुभव करता है, वही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। यदि गुरु के साथ एकात्म भाव की स्थापना हो जाती है, तो जीवन में निराशा का अनुभव नहीं होता। गुरु के दो रूप माने गये हैं : बाह्य रूप और आन्तरिक रूप। बाह्य रूप से वे साधक के स्थूल, बौद्धिक और भावनात्मक जीवन को ऊँचा उठाने में मदद करते हैं, निर्देश, सत्संग और साधना के द्वारा उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देते तथा मार्ग बतलाते हैं। गुरु के ये बाह्य रूप आलम्बन हैं, आधार हैं, जो साधक के आध्यात्मिक मार्ग में सम्बल के रूप में काम आते हैं। गुरु का दूसरा रूप होता है आन्तरिक। जब साधक और शिष्य के भीतर गुरु के प्रति आस्था उत्पन्न होती है, तब यह विश्वास आन्तरिक सजगता को जन्म देता है। गुरु का हर क्षण स्परण रहे तो साधक के सभी कर्मों के पीछे गुरु आधार बने रहते हैं। वही आधार साधक को भावानात्मक और आत्मिक रूप से आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है।

द्वितीय बल है वासनाओं से मुक्ति। इस बल की प्राप्ति साधना-काल के दौरान प्राप्त होती है। साधना काल में जब तक साधक स्वयं को नहीं पहचानता, अपनी त्रुटियों को दूर नहीं करता तब तक वह वासनाओं से मुक्त नहीं हो सकता। साधना के क्रम में जैसे-जैसे संस्कारों का क्षय होता है, तामसिकता की समाप्ति होती है, सात्विक गुणों में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे बाह्य वासनाएँ क्षीण होती जाती हैं। वासना समाप्ति के बाद आन्तरिक निर्मलता और शुद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है।

तीसरी शक्ति है– समभाव। इसका सम्बन्ध व्यवहार, क्रिया और प्रतिक्रिया से है। व्यक्ति अपने जीवन में किसी प्रकार की क्रिया नहीं करता, सदैव प्रतिक्रिया का ही मार्ग अपनाता है। सामाजिक और पारिवारिक परिस्थितियों तथा जीवन की समस्याओं से संघर्ष चलता रहता है। जिसे संघर्ष कहते हैं वही प्रतिक्रिया है। कर्म या क्रिया का प्रारम्भ तब होता है जब जीवन से संघर्ष छूट जाय। इसे समभाव कहते हैं। समभाव आन्तरिक संयम और संतुलन की अवस्था है, जो सबसे बड़ी सिद्धि और सबसे बड़ी शक्ति है। इसे प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। नकारात्मक विचार, कुभाव या दुर्भाव मानव जीवन को, कर्मों को, विचारों को प्रेरित करते रहते हैं। यदि अपने ही जीवन को देखें कि शुभ विचार, शुभ भावनाएँ एवं शुभ कर्म कितने हैं और अशुभ विचार, अशुभ भावनाएँ तथा अशुभ कर्म कितने हैं, तो मालूम पड़ेगा कि किसका पलड़ा भारी रहता है। अशुभ कर्म केवल

दूसरों से ही नहीं, स्वयं से भी सम्बद्ध होते हैं। यदि दोनों को सही दृष्टि से देखा जाय तो जीवन में सकारात्मक तत्त्व कम और नकारात्मक तत्त्व अधिक दिखलाई देंगे।

अगर साधक चाहे कि जीवन में सकारात्मक तत्त्व बढ़ें और नकारात्मक तत्त्व क्षीण हों, तो जीवन के जितने भी नकारात्मक तत्त्व हैं, उन्हें दबाना नहीं है। उन्हें दबाने से वे चेतना में अधिक प्रबल रूप धारण कर विस्फोट करते हैं। योग और तन्त्रशास्त्र में दमन अवैज्ञानिक है। दबाने नहीं, संयम की दृष्टि से नकारात्मक तत्त्वों का निराकरण करना है।

चौथा बल है धर्माचरण। धर्म का आचरण व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन को सन्तुलित बनाता है और मनुष्य की कार्मिक अभिव्यक्तियों तथा कार्मिक प्रतिक्रियाओं को शान्त करता है। मनुष्य अपनी कार्मिक अभिव्यक्तियों, कार्मिक प्रतिक्रियाओं या कर्म से प्रभावित रहता है, संस्कार से प्रभावित रहता है। धर्माचरण की पद्धति और शिक्षा का उद्देश्य है कि कार्मिक विकारों को कम करने या निर्मूल करने के लिये धर्म का पालन किया जाय। यहाँ प्रश्न है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या ? आजकल संगठित धार्मिक अवधारणा के आधार पर धर्म को परिभाषित किया जाता है। इसके अन्तर्गत एक व्यवस्थित धार्मिक विचारधारा, कर्मकाण्ड, उपासना, ज्ञानकाण्ड, उपासनागृह जैसे प्रतीक आ जाते हैं। लेकिन धर्म की वास्तविक परिभाषा इससे भिन्न होती है। जिन गुणों को व्यक्ति अपने में, अपने व्यक्तित्व में धारण करता है, वे ही धर्म है। मनुष्य क्या धारण करता है ? आचरण धारण करता है, कर्त्तव्यों को धारण करता है ? कर्तव्य (करणीय कर्म) की शक्ति धर्म है। इसे ही सनातन परम्परा या सनातन धर्म का नाम दिया गया है। कर्तव्य पालन का एक निश्चित उद्देश्य होता है। यह अपने अंतःकरण की खोज में लगे हुए साधक का सहायक सिद्ध होता है। इसका पालन करने से व्यक्ति अपने मूल तत्त्व को, आत्म तत्त्व को पहचान सकता है और बन्धन तथा विकारों को दूर कर सकता है। पर इसमें मानसिक और आन्तरिक स्पष्टता का होना आवश्यक है। जब तक यह स्पष्ट नहीं कि जीवन में किस प्रकार से धर्म का पालन हो, तब तक धर्माचरण नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति के लिये धर्म की अलग परिभाषा हो सकती है। अलग-अलग आयु के व्यक्तियों के लिये धर्म की अलग-अलग परिभाषा है। एक विद्यार्थी, एक गृहस्थ, एक विरक्त और एक अवकाश प्राप्त अधिकारी के लिये धर्म की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ होंगी। जीवन के हर क्षेत्र में आचरण, व्यवहार, कर्म और इच्छाएँ अलग-अलग होती हैं। इन्हें सही रूप से समझ कर अपने उत्थान के लिये इनका उपयोग करना धर्माचरण है। दूसरे शब्दों में, स्वयं की समझ, स्वयं के ज्ञान या अपने व्यक्तित्व के ज्ञान के अनुरूप कार्य करना धर्माचरण कहलाता है।

पाँचवां बल है– सत्य का आचरण, जो सबसे कठिन है। 'अश्वथामा हतो नरो वा कुंजरो वा' एक भ्रमोत्पादक वाक्य था, सत्य और असत्य दोनों का मिश्रण, उसका क्या

परिणाम हुआ ? एक कहावत है : सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ; अर्थात् सत्य बोलो जो कि प्रिय है, वह सत्य मत बोलो जो अप्रिय है। इस प्रकार सत्य में भी दो श्रेणियाँ हो गईं : प्रिय सत्य और अप्रिय सत्य। ऐसा क्यों ? सत्य तो अपरिवर्त्तनीय है। जो वास्तविक है वह तो हमेशा वास्तविक ही रहेगा। एक तरफ सत्याचरण करने के लिये निर्देश दिया जाता है और दूसरी तरफ कहा जाता है कि सत्य प्रिय और अप्रिय दोनों है। यह कैसे सम्भव हो सकता है ? जब व्यक्ति सत्य बोलने की क्षमता प्राप्त करता है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसके मन में जो भी बात आये उसे वैसे ही मुँह से उगल दे। वर्तमान परिस्थिति और परिवेश सत्य का सहारा या आधार है। सत्य को समझने के लिये साधक को अपने मस्तिष्क को विस्तृत और व्यापक और उन्मुक्त रखना पड़ता है। संकुचित विचारधारा से सत्य नहीं बोला जा सकता, वह अप्रिय हो जायेगा। संकुचित विचारधारा, संकुचित मानसिकता या सीमित मानसिकता से सत्य बोलना अशुभ है। यदि मन और हृदय विशाल हैं तो सत्य बोलना शुभ है। यह आत्मनिरीक्षण या आत्मविश्लेषण की अवस्था है।

भगवान बुद्ध के जीवन में एक महिला अपने मृत बच्चे को लेकर उनके पास आई और कहा "आप मेरे बच्चे को जीवित कर दीजिये।" बुद्ध कह सकते थे कि मृत प्राणी जीवित नहीं हो सकता है, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं कहा। उन्होंने कहा "मैं उसे जीवित कर दूँगा, लेकिन एक शर्त्त है, तुम किसी ऐसे घर से एक मुट्ठी सरसो ले आओ जिस घर में कभी किसी की मृत्यु न हुई हो।" वह महिला दिन भर दरवाजे-दरवाजे, घर-घर भटकती रही, लेकिन सरसो प्राप्त न कर सकी। उसकी शर्त्त सुनने के बाद कोई भी उसे सरसो देने के लिये तैयार नहीं होता था। वस्तुतः कोई भी ऐसा घर नहीं मिला जहाँ कभी-भी किसी की मृत्यु न हुई हो। वह बुद्ध के पास लौटकर आई और प्रणाम करके बोली "प्रभो, मैं समझ गई कि प्राणी की मृत्यु निश्चित है।" बुद्ध यदि कहते कि उसके मृत पुत्र को जीवित नहीं किया जा सकता है तो वह महिला निराश और हताश हो जाती, सदमा लगता, दुखी होती और स्पष्ट रूप से कहे गये सत्यज्ञान को नहीं समझ पाती। जब वही बात एक ढंग से कही गई तो उस महिला को सत्य का ज्ञान हो गया। यह है सत्य का एक तरीका। दुनियाँ में ऐसे अनेक लोग होते हैं, जो चाहते हैं कि कोई सिद्ध पुरुष उनके सिर पर हाथ रख दे और उनके तमाम कार्य हो जायें। जब सत्य को सही तरीके से कहा जाय तो पात्र भी उस सत्य को सही तरीके से ग्रहण करता है। जब गलत तरीके से कहा जाता है तो पात्र उसे ग्रहण नहीं करता। इसीलिये दो प्रकार के सत्य की बात कही गई है : प्रिय सत्य और अप्रिय सत्य।

सत्य या सत्य आचरण को समझना कठिन है। समझने के लिये विशेष प्रकार के गुरु और विशेष प्रकार के शिष्य का होना आवश्यक है। तन्त्र शास्त्र में बतलाया जाता है कि सत्य वर्तमान पर आधारित है; वर्तमान की परिस्थिति और पात्रता पर आधारित है।

दीक्षा

इन पंचशक्तियों को कैसे प्राप्त करें ? दीक्षा के द्वारा। दीक्षा के लिये किसी पदार्थ, द्रव्य या आधार का होना आवश्यक है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार सम्पूर्ण जीवन एक दीक्षा है। साधना करना, गुरु के सान्निध्य में रहना, स्वाध्याय करना, भक्ति करना या सेवा करना दीक्षा है। इसका आधार है ज्ञान। ज्ञान का अभिप्राय आत्मिक सजगता से है। साधक जो कर रहा है, साधक जो करने जा रहा है या गुरु से जो भी निर्देश उसे मिले हैं उसके द्वारा ही वह जीवन में आगे बढ़ सकता है। इस प्रकार जीवन का प्रत्येक क्षण सजगता से परिपूर्ण रहता है। जहाँ सजगता नहीं, वहाँ ज्ञान, दीक्षा, साधना और कर्म नहीं हो सकते। दीक्षा का तात्पर्य ज्ञान, चेतना या सजगता में वृद्धि है। यदि गुरु-शिष्य सम्पर्क के बाद सजगता में, चेतना में, ज्ञान में वृद्धि होती है, यदि मन्त्र ग्रहण करने के बाद चेतना में परिवर्तन होता है, यदि काषाय वस्त्र धारण कर एक अनुशासित जीवन बिताने से चेतना में परिवर्तन होता है, तब वह दीक्षा है।

दीक्षा का मूल धातु है दीक्ष्, जिसका अर्थ होता है समर्पण। जब व्यक्ति अपने आप को समर्पित कर एक निर्दिष्ट पथ पर चलने लगे, एक स्पष्ट लक्ष्य को, एक स्पष्ट भावना को, एक स्पष्ट विचार को अपनाये तब वह दीक्षा है। गुरु इन्हीं चीजों के लिये दीक्षा देते हैं। लेकिन चूँकि सामान्य जन का विचार, स्पष्ट नहीं रहता, भावना स्पष्ट नहीं रहती, लक्ष्य स्पष्ट नहीं रहता, इसलिये उन्हें आधार की आवश्यकता होती है। गुरु आधार रूप में एक मंत्र देते हैं। गुरु और मन्त्र में आस्था रहने से समर्पण का भाव जागृत होता है। तात्पर्य यह कि दीक्षा शब्द का अर्थ और परिणाम दोनों एक ही है। दीक्षा शब्द का अर्थ है समर्पण और दीक्षा का परिणाम भी होता है समर्पण।

दीक्षा की आवश्यकता

दीक्षा के परिणामस्वरूप ज्ञान में वृद्धि, विद्या में वृद्धि, चेतना का विस्तार, नित्यत्व की प्राप्ति या धारणा की अवस्था की प्राप्ति होती है। नित्यत्व या धारणा का अभिप्राय सतत् एकाग्रता से है। यह चेतना की जागरुकता या चेतना की स्पष्टता की स्थिति है। इससे निष्ठ अवस्था या ध्यान की प्राप्ति होती है। ध्यान में द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की अनुभूति होती है। नित्यत्व या धारणा में साधक इन तीनों का अलग-अलग ख्याल करता है, इन्हें अलग-अलग समझने का प्रयत्न करता है, लेकिन निष्ठ अवस्था या ध्यानावस्था में द्रष्टा, दृश्य और दर्शन अलग नहीं रहते, अन्ततः एक हो जाते हैं। इस ऐक्यानुभूति का परिणाम है सिद्धि; इस ऐक्यानुभूति का परिणाम है मुक्ति।

योग

लकुलीश पाशुपत दर्शन में कारण और कार्य के बाद योग का वर्णन किया जाता है। इस दर्शन में अष्टांग योग– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

और समाधि का समावेश किया गया है। मान्यता है कि अष्टांग योग का पालन करने से मनुष्य के व्यावहारिक, सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में सन्तुलन और सजगता की वृद्धि हो सकती है।

योग के दो पक्ष हैं; १. **दार्शनिक** और २. **व्यावहारिक**। दार्शनिक पक्ष के अनुसार योग का लक्ष्य शिव-सायुज्य की प्राप्ति है। इस अवस्था में मनुष्य की चेतना शिव-चेतना या कारण से एकाकार हो जाती है और समस्त प्रकार के द्वैत भाव समाप्त हो जाते हैं। निर्लिप्त अवस्था की प्राप्ति से मनुष्य भूत और भविष्य का द्रष्टा बन जाता है। उसके लिये देश, काल और परिस्थिति का बन्धन नहीं रहता।

इसे प्राप्त करने के लिये योग के व्यावहारिक पक्ष का अभ्यास आवश्यक है। योग के व्यावहारिक पक्ष का उद्देश्य है मनुष्य को वासनारहित बनाना। इसीलिये यौगिक क्रियाओं को दो भागों में विभक्त किया गया है : १. **बाह्य योग** या **क्रिया-लक्षण-योग** और २. **आन्तरिक योग** या **क्रिया-परम-लक्षण-योग**।

क्रिया-लक्षण-योग के अभ्यास के समय व्यावहारिक, भौतिक और सामाजिक रूप से यम और नियम का पालन होना चाहिये। यम और नियम व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं तथा पारिवारिक और सामाजिक परिवेश को दृढ़ बनाते हैं। मनुष्य स्वयं को तत्काल, एक क्षण में, सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं कर सकता, एक क्षण में वह सांसारिक भोगों का त्याग नहीं कर सकता। शनैः शनैः ऐसी अवस्था प्राप्त करनी चाहिये, जहाँ साधक त्याग, अनासक्त भाव एवं समभाव को जागृत करने में सहज रूप से सक्षम हो सके। जब तक चिन्तन, व्यवहार और कर्म की विधियाँ नहीं बदलतीं, आचरण नहीं बदलता तब तक आत्मशुद्धि की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। आत्मशुद्धि प्राप्त होने पर साधक के विचार, कार्य और व्यवहार सकारात्मक हो जाते हैं।

शरीर पर नियन्त्रण के लिये आसनों का वर्णन किया गया है, ताकि शरीर व्याधिमुक्त और विकार रहित होकर व्यक्तित्व के उत्थान में एक सकारात्मक भूमिका निभा सके। मन को शान्त, निर्मल और एकाग्र बनाने के निमित्त तथा उसकी सूक्ष्म अवस्था पर नियन्त्रण प्राप्त करने के हेतु प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। प्राणायाम के माध्यम से आन्तरिक चंचलता की समाप्ति होती है।

प्रत्याहार का अभिप्राय अन्तर्मुखी होने की क्षमता से है। इसे एक क्षमता या मानसिक अवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। मनुष्य का बहिर्मुखी होना स्वाभाविक है, अन्तर्मुखी होना अस्वाभाविक है। जब तक यम, नियम, आसन और प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा विचार, व्यवहार और कर्म में परिवर्तन नहीं होता, शारीरिक बाधाएँ समाप्त नहीं होती, मानसिक चंचलता शान्त नहीं होती, तब तक व्यक्ति पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। जिस दिन व्यक्ति अन्तर्मुखी हो जाय, वह वासना पूर्ण अवस्था को पार कर लेगा।

क्रिया-परम-लक्षणयोग : जब वासनाओं का प्रभुत्व समाप्त हो जाय तब आन्तरिक योग का अभ्यास शुरू होता है। लकुलीश पाशुपत दर्शन में इसे क्रिया-परम-लक्षण योग कहा गया है। यह आन्तरिक योग है, जिसके अंतर्गत तीन अभ्यास, योग के अन्तिम तीन अंग आते हैं : धारणा, ध्यान आर समाधि। इस दर्शन का स्पष्ट मत है कि जब तक बाह्य योग सिद्ध नहीं होता, तब तक व्यक्ति को धारणा और ध्यान में प्रवेश नहीं करना चाहिये।

विधि

लकुलीश पाशुपत दर्शन की चौथी विभक्ति विधि है। अभी तक प्रत्येक अवस्था में विधियों का वर्णन निश्चित रूप से किया गया है। हरएक अवस्था के दार्शनिक और व्यावहारिक, दोनों पक्ष बतलाये गये हैं। लेकिन उपरोक्त अभ्यासों और क्रियाओं के साथ-साथ इसमें विधि को अलग से प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार विधि के अन्तर्गत तीन आवश्यकताओं पर बल दिया गया है। वे हैं : १. तपस्वी-जीवन, २. भक्तिमार्ग की प्रधानता और ३. इन्द्रिय-निग्रह।

तपस्वी-जीवन सात्विकता से पूर्ण तथा आसक्तिरहित होना चाहिये। जब सब कुछ छोड़ना ही है, तो पैसा, परिवार और वस्त्र से क्या मतलब ? यदि व्यक्ति आवश्यकतानुसार जीवन व्यतीत करे, तो धन-संग्रह का क्या तात्पर्य ? केवल स्वार्थ-पूर्ति तथा इच्छा वृद्धि के लिये सम्पत्ति क्यों ? तात्पर्य यह कि तपस्वी को आसक्तियों से दूर रहना चाहिये।

तपस्वी के जीवन में भक्ति की प्रधानता होनी चाहिये। पूर्ण भक्ति के लिये समर्पण, विश्वास और ईश्वर प्रणिधान अति महत्वपूर्ण बिन्दु हैं। 'नाहं कर्त्ता, हरिः कर्त्ता, हरिः कर्त्ता हि केवलम्' की भावना सतत् बनी रहनी चाहिये।

इन्द्रिय निग्रह पर भी बल दिया गया है। चौदह इन्द्रियाँ– पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चार अंतःकरण पर नियन्त्रण होना आवश्यक है, जिससे जीवन में संयम तथा सामञ्जस्य बन सके।

दुःखान्त

लकुलीश पाशुपत दर्शन की पाँचवीं और अन्तिम विभक्ति है दुःखान्त। दुखान्त की स्थिति की प्राप्ति अभ्यास और साधना से सम्भव नहीं है। अभ्यास और साधना से तैयारी हो सकती है, लेकिन दुःखान्त तो अनुग्रह से ही संभव है। विकाररहित होने पर और शुद्ध अवस्था की अनुभूति प्राप्त होने पर अनुग्रह की प्राप्ति होती है। अनुग्रह ईश्वरीय शक्ति का आभास है। मनुष्य का पुरुषार्थ औ.र श्रम एक सीमित अवस्था या दूरी तक ही उसे ले जा सकते हैं। उसके आगे एक अदृश्य ईश्वरीय शक्ति ही हाथ पकड़कर ले जाती है।

दुःखान्त का अभिप्राय ज्ञान और वैराग्य अवस्था की प्राप्ति से नहीं, इसका अर्थ है क्लेशों का अन्त होना। दुःखान्त अवस्था को लकुलीश पाशुपत दर्शन ने दो भागों में

विभक्त किया है : १. **अनात्मक अवस्था** और २. **सात्मक अवस्था** । अनात्मक अवस्था में क्लेशमुक्ति और सात्मक अवस्था में ज्ञान और कर्मशक्ति की प्राप्ति है । मुक्ति, मोक्ष या दुःखान्त की दो अवस्थाएँ हैं : एक अवस्था है शून्यता की और दूसरी अवस्था है प्रकाश की । योग प्रकाशावस्था तक ले जाता है । अन्य विधियाँ और अन्य दर्शन शून्यता का बोध दिलाते हैं । तन्त्र में सायुज्य, सात्मक या प्रकाशावस्था है ।

अनात्मक अवस्था में साधक बन्धनमुक्त तो हो जाता है, लेकिन, उसकी आत्मिक शक्ति जागृत नहीं होती । बन्धनमुक्त होने के बाद वह आगे की अवस्था प्राप्त नहीं करता, जहाँ वह शक्तियों का नियंता, स्वामी हो जाय । बाह्य शक्तियों से मुक्ति मिल गई, लेकिन आत्मिक शक्तियों पर नियन्त्रण नहीं है । वह स्वयं को अधर में, मध्य अवस्था या शून्यावस्था में देखता रहता है ।

एक विचारधारा यह भी है कि जब साधक शून्यावस्था के पार जाय, तो वहाँ की अदृश्य तथा सूक्ष्म शक्तियों के बन्धन में फँस जायेगा और उनके अनुरूप कर्म करना होगा, चाहे वह सूक्ष्म स्तर पर हो या स्थूल स्तर पर । जो शक्ति, क्षमता या अवस्था प्राप्त होगी उसके अनुरूप ही कर्म करना पड़ेगा और कर्मों से पुनः प्रभावित होना पड़ेगा । इस मान्यता के आधार पर अनात्मक अवस्था के प्रचारकों का मत है कि यही अवस्था सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें किसी प्रकार की शक्ति, परिस्थिति या चेतना की अभिव्यक्ति से साधक प्रभावित नहीं होते हैं ।

दूसरा मत है कि शून्यावस्था में व्यक्ति ईश्वर से एकाकार नहीं हो सकता है । शून्यावस्था में उसकी एक अलग पहचान होती है, जो ब्रह्म, ईश्वर या परम तत्त्व की सत्ता से भिन्न होती है । इस अवस्था में सर्वज्ञता का अभाव है । शून्यावस्था में शक्ति का, सृजन और परिवर्तन का अभाव है । इस अभावपूर्ण अवस्था को प्राप्त करने पर चेतना का विकास या उत्थान उस सीमा तक ही होता है, आगे नहीं । भौतिक या स्थूल दृष्टिकोण से शून्यावस्था एक ऊँची अवस्था तो है, लेकिन इसमें चेतना और शक्ति का समन्वय नहीं हो पाता है । जब तक इनका समन्वय नहीं होता, व्यक्ति देवत्व की अनुभूति नहीं कर सकता है, देव नहीं बन सकता है । प्रकाश की अवस्था प्राप्त करने के बाद व्यक्ति देव बन जाता है । ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति की प्राप्ति के बाद ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त होती है, मनुष्य ईश्वर बन जाता है, नर से नारायण बन जाता है । यह है प्रकाश का मार्ग ।

४. विशिष्टाद्वैत शैव सिद्धान्त

विशिष्टाद्वैत शैव सिद्धान्त का स्थान चौथा है । विशिष्टाद्वैत में अद्वैत की कुछ विशेषताएँ बतलाई गई हैं ।

दसवीं शताब्दी में उत्पलाचार्य ने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञ कारिका' की रचना की जो काश्मीरी शैववाद का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है । इसमें अद्वैत की चर्चा एवं व्याख्या की गई है । तन्त्र शास्त्र के एक विख्यात विचारक और व्याख्याकार अभिनव गुप्त ने इस ग्रन्थ पर अपनी टीका लिखी जिसका नाम है 'विमर्शिनी' । उत्पलाचार्य के शिष्य और पीठाधिकारी थे श्रीकान्त । श्रीकान्त ने उत्पलाचार्य के शुद्ध अद्वैत सिद्धान्त को एक नये रूप में, कुछ विशेषताओं के साथ प्रस्तुत किया जिसका नाम हो गया विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त ।

श्रीकान्त के समकालीन एक अन्य विचारक रामानुज थे । रामानुज ने वैष्णव विचारधारा के अनुसार विशिष्टाद्वैत को परिभाषित किया । श्रीकान्त ने शैव विचारधारा को विशिष्टाद्वैत दर्शन के रूप में समझाया । अतः इस दर्शन में वैष्णव और शैव विचारधाराओं का कहीं-कहीं सम्मिश्रण दिखलाई देता है । इनका मत है कि एकता और अनेकता का अनुभव व्यक्ति जीवन के एक ही स्तर पर नहीं कर सकता । एकता को समझने, उसका अनुभव प्राप्त करने के लिये मन या चेतना की समझदारी या आन्तरिक क्षमता भिन्न होती है तथा अनेकता या भिन्नता के अनुभव को समझने के लिये चेतना की भिन्न अवस्था आवश्यक होती है । शैव और वैष्णव सिद्धान्त के अनेक प्रतिपादकों का मत था कि अद्वैत और द्वैत में ज्यादा अन्तर नहीं है । द्वैत की परिणति अन्ततः अद्वैत अवस्था में होती है; अनेकता के अनुभव का अन्त एकता में होता है । पशु और पाश, जीव और माया अनेकता या भिन्नता के रूप में हैं । इनका अन्तिम अनुभव अद्वैत अवस्था या शिव रूप में होता है । विचारकों का कहना था कि दोनों अवस्थाओं को समझने के लिये चेतना की ग्रहणशीलता अलग-अलग होती है । भिन्नता या द्वैत को चेतना के एक स्तर पर और एकता या अद्वैत की अवस्था को चेतना के दूसरे स्तर से समझने का प्रयत्न होना चाहिये ।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैतवादी भिन्नता में अभिन्नता को स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि आत्मा का निवास शरीर में होता है या अन्तःकरण की अनुभूति शरीर में होती है; लेकिन शरीर के भीतर रहते हुए भी इनका अस्तित्व अलग है, इनका अलग अनुभव है । आत्मा या अन्तःकरण को शरीर नहीं मान सकते और न शरीर को ही आत्मा या अन्तःकरण मान सकते हैं । एक अवस्था में होते हुए भी इनका अस्तित्व अलग है । एक शरीर, एक रूप और एक सीमा में रहते हुए भी इनका अस्तित्व अलग है ।

प्रत्येक पदार्थ में उसके विशेष गुण व्याप्त हैं । पदार्थ और गुण दोनों का ज्ञान साधक अलग-अलग प्राप्त करता है । यदि पदार्थ को देखें और गुण को स्वीकार न करें, तो भेद हो जायेगा । इसके परिणामस्वरूप पदार्थ के गुण को नहीं पहचान पायेंगे और ज्ञान अधूरा रह जायेगा । अतः जिस प्रकार से पदार्थ और गुण या शरीर और आत्मा भिन्न नहीं है, ठीक उसी प्रकार से अद्वैतावस्था में पशु, पाश और पति भिन्न नहीं हैं; लेकिन कार्य, गुण और अवस्था के कारण इनका अलग-अलग अनुभव होता है ।

सोलहवीं शताब्दी के एक सन्त थे 'अप्पय दीक्षित'। उन्होंने उपरोक्त विचारों का विश्लेषण करते हुए कहा कि श्रीकान्त मूलतः अद्वैतवादी थे, लेकिन पदार्थ और उसके गुण, शरीर और आत्मा के गुण या भेद को समझाने के लिये उन्होंने विशिष्टाद्वैत मार्ग का चयन किया।

अनेक विचारकों का मत था और है कि वेद और आगम तन्त्र परस्पर विरोधी हैं। लेकिन श्रीकान्त ऐसा नहीं मानते थे। उन्होंने अथर्वशीर्ष उपनिषद्, कालाग्निरुद्र उपनिषद् और बृहज्जाबाल उपनिषद् के उद्धरणों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि इन मूल वैदिक ग्रन्थों में शैव चिन्हों और शैव साधनाओं का वर्णन किया गया है। उन्होंने कहा कि वेद और शैव आगम एक-दूसरे का विरोध नहीं करते हैं।

इस सिद्धान्त में लकुलीश पाशुपत दर्शन की विचारधारा मान्य है और काश्मीर शैव विचारधारा के भी कुछ अंश दिखलाई पड़ते हैं। इसमें लकुलीश पाशुपत दर्शन के तीन प्रधान कारणों– पशु, पति और पाश तथा काश्मीर शैव विचारधारा के ३६ गौण कारणों एवं तीन विकारों या मलों – पशुत्व विकार या पशुत्व मल, कर्म विकार या कर्म मल को स्वीकार किया गया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष का तात्पर्य है शिव सायुज्य या शिव सारूप्य अर्थात् शिव तत्त्व से एक होना या शिव के समान हो जाना। मोक्ष की बन्धनयुक्त अवस्था में साधक ब्रह्माण्ड और चेतना की गुप्त और सूक्ष्म शक्तियों का स्वामी बन जाता है तथा ईश्वरीय अवस्था को प्राप्त करता है। शक्ति या माया शिव-तत्त्व का मूल गुण है।

शिव सभी प्रकार की सीमाओं से मुक्त है; इसीलिये महान् है। परम शक्ति या आद्याशक्ति शिव की अर्द्धांगिनी है, जिसके कारण अनुभव आश्रित भिन्नताओं की सृष्टि होती है। अनुभव आश्रित सृष्टि का अर्थ है – व्यक्त सृष्टि जिसमें निर्जीव सृष्टि भी आती हैं तथा सजीव सृष्टि में पशु-पक्षी, कीट-पतंग और मनुष्य आदि हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, सजीव, निर्जीव, व्यक्त और अनुभवगम्य सृष्टि की रचयिता शिव की अर्द्धांगिनी परम शक्ति है। स्थूल, दृश्य, व्यक्त या अनुभवगम्य जगत शिव-तत्त्व के भीतर सूक्ष्म अनुभवों या अवस्थाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं। सम्पूर्ण जगत शिव-तत्त्व के सूक्ष्म विचार या इच्छा की अभिव्यक्ति है।

भिन्नता या अनेकता का अनुभव भ्रान्ति नहीं है, सत्य है। वेदान्त में कहा गया है 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।' यहाँ कहा जा रहा है 'शिव सत्य, जगत सत्य।' सृष्टि को मिथ्या या भ्रान्ति के रूप में देखना है। पदार्थ और गुण, सूर्य और प्रकाश, आत्मा और शरीर के बीच के जो सम्बन्ध हैं, वे ही शिव और समस्त व्यक्त सृष्टि के बीच हैं। समस्त भिन्नताओं के रहते हुए भी शिव अभिन्न हैं।

इस सिद्धान्त का कहना है कि शिव ही ब्रह्म है। वृहत्वात्, अर्थात् वृहत्, विशाल या अनन्त होने के कारण शिव ब्रह्म है। शिव को पुनः ब्रह्मणत्वात् कहते हैं, अर्थात् ज्ञेय

होने के कारण, जानने योग्य होने के कारण ब्रह्म हैं। शिव मंगलमय हैं, कल्याणकारी हैं। इनके द्वारा कभी किसी प्रकार का अमंगल नहीं हो सकता।

शिव पंचकृति या पंचकर्म हैं – सृष्टि, पालन, संहार, निरोध और अनुग्रह। जिस प्रकार समुद्र की लहरें, बुलबुले, फेन आदि समुद्र से अलग नहीं होते, उसके ही अंग माने जाते हैं, ठीक उसी प्रकार से भिन्नता और अनेकता का आभास होते हुए भी प्रत्येक पदार्थ में, चाहे वे सजीव हों या निर्जीव, शिव की अनुभूति व्याप्त है। इसका सम्बन्ध केवल रूप से नहीं है। शक्ति के द्वारा रूप, नाम और पदार्थ में परिवर्तन हो सकता है। लेकिन जो मूल तत्त्व है, रूप, नाम और पदार्थ का जो मूल गुण है, उसमें परिवर्तन नहीं होता और वह शिव है। तात्पर्य यह है कि बाह्य रूप, नाम, अभिव्यक्ति और भिन्नता या अनेकता को देखकर यह नहीं कह सकते कि शिव परिवर्तनशील है।

यदि शक्ति को शिव का अभिन्न अंग माना गया है, तो शक्ति में किसी प्रकार के रूपान्तरण या परिवर्तन का तात्पर्य होगा शिव की अवस्था में भी परिवर्तन; अतः शिव अपरिवर्तित कैसे रह सकते हैं ? इसके उत्तर में विशिष्ट अद्वैतवादी कहते हैं कि अभिन्नता का तात्पर्य पूर्ण या परम एकता नहीं होता। अभिन्नता का अर्थ है कि दोनों एक साथ रहते हैं, एक साथ चलते हैं, एक की विचारधारा दूसरे को प्रभावित करती है, एक के निर्देश का दूसरा पालन करता है, लेकिन दोनों एक नहीं हैं। पूर्ण या परम एकता का अभिप्राय मात्र एक सत्ता से है, लेकिन अभिन्नता का तात्पर्य अलग-अलग सत्ता के बीच अटूट, घनिष्ठ सम्बन्ध और संयोग से है। अभिन्नता के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये मिट्टी और मिट्टी के बर्तन का उदाहरण है। वे दोनों अभिन्न हैं क्योंकि बर्तन का निर्माण मिट्टी से हुआ है, बर्तन का आधार मिट्टी है। निर्माण के क्रम में मिट्टी का नाम और रूप बदल गया है। एक से दूसरे पदार्थ में परिवर्तन या रूपान्तरण हो गया है, लेकिन मूल तत्त्व वही है। यह अभिन्नता है। इसी प्रकार भिन्नता का तात्पर्य अलग अस्तित्व से है जिसका बोध अलग होता है।

संहार के संबंध में इस दर्शन में कहा गया है कि जब भौतिक सृष्टि का अंत होता है तो पदार्थ, नाम और रूप समाप्त हो जाते हैं, उनका अन्त हो जाता है। आत्मा और स्थूल कारणों से नाम और रूपों का अन्त हो जाता है। अनुभवाश्रित ज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ है कि संहार के बाद पशु और पाश का अस्तित्व अनुभव आश्रित ज्ञान की सीमा के बाहर चला जाता है किन्तु इस अवस्था में पशु और पाश, जीव और माया का अन्त नहीं होता, केवल स्थूल कारण का अन्त होता है। स्थूल के अंत से सूक्ष्म कारण का अन्त नहीं होता है। सूक्ष्म कारण की समाप्ति के लिये अलग अवस्थाएँ और अलग प्रक्रियाएँ हैं।

जीव के बारे में कहा गया है कि पशुत्व के कारण ही जीव का सम्बन्ध शरीर, इन्द्रियों और प्राण से होता है। यदि जीव में पशुत्व की स्थिति नहीं आये, तो इसका

सम्बन्ध शरीर, प्राण और इंद्रियों से नहीं होगा । जीव तब एक इकाई के रूप में, आत्मा के रूप में विद्यमान रहेगा । चूँकि जीव भौतिक शरीर पर आश्रित रहता है, अतः बाह्य कर्म और अनुभव उसे प्रभावित करते हैं और वह पुनः पुनः जन्म लेता है । सदा से यह कहा गया है कि मनुष्य के पुनर्जन्म का कारण उसके कर्म हैं । पूर्व-अनुभव, कर्म और आकांक्षाएँ ही उसके पुनर्जन्म का कारण बनती हैं । कर्म के कारण जीव अनेक शरीरों को प्राप्त करता है और अनेक शरीरों को त्यागता है । वह माया के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर अपने अस्तित्व का एक भ्रान्तिपूर्ण परिचय प्राप्त करता है । जीव का मूल अस्तित्व है आत्मा, लेकिन परिचय प्राप्त करता है जीवात्मा का । उसका मूल अस्तित्व है शिव तत्त्व, लेकिन परिचय प्राप्त करता है आत्मा का ।

मोक्ष के बारे में विशिष्टाद्वैत शैव दर्शन कहता है कि ब्राह्मण विचारधारा के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिये चालीस प्रकार के कर्मकाण्ड, विधि और यज्ञों की आवश्यकता होती है । ये मोक्ष दिलाने में सहायक सिद्ध होते हैं । इन समस्त कर्मकाण्डों, विधियों और यज्ञों का प्रारम्भ भौतिक स्तर से होता है, लेकिन अन्तिम आहुति आत्मयज्ञ में होती है । बाहर के विधि-विधान अंतःकरण एवं चेतना को संवेदनशील और ग्रहणशील बनाने में सक्षम होते हैं । एक विशेष भावना को, एक अवस्था को उत्पन्न करते हैं । भौतिक क्रिया या भौतिक विधि बाह्य या भौतिक अवस्था के विकारों को हटा कर शुद्ध अवस्था दिलाने में सहायक होती हैं । इस शुद्ध अवस्था की प्राप्ति के बाद अन्तिम यज्ञ होता है आत्मयज्ञ या आत्मानुसन्धान । आत्मानुसन्धान या आत्मयज्ञ में कृपा या अनुग्रह ही मनुष्य को मुक्ति के मार्ग में स्थापित कर सकता है ।

५. विशेषाद्वैत शैव सिद्धान्त

पाँचवा प्रमुख शैव सिद्धान्त है विशेषाद्वैत शैव सिद्धान्त । इसका एक दूसरा प्रचलित नाम है 'वीर शैव दर्शन ।' आज यह लिंगायत मत के नाम से दक्षिण भारत में प्रचलित है । इतिहासकारों के अनुसार 'वीर शैव मत' के आधुनिक संस्थापक राजा विज्जल के ब्राह्मण मंत्री वासव थे । चालुक्य वंश के राजा विक्रमांक की मृत्यु के पश्चात् उनके सेनापति विज्जल ने स्वयं को चालुक्य साम्राज्य के अधिकांश भागों का राजा घोषित कर दिया । सेनापति विज्जल, जो बाद में राजा विज्जल हुआ, जैन मत का अनुयायी था । राज्य हड़पने और स्वयं को राजा घोषित करने के बाद उसने चाहा कि पूरे राज्य में जैन मत का प्रचार हो, अतः उसने शैव मत के विरुद्ध, जो राज्य का प्रचलित दर्शन था, युद्ध आरम्भ कर दिया । उसने शैव मतावलम्बियों को सताया तथा अकारण जेलों में बन्द किया तथा जबर्दस्ती मतपरिवर्तन भी करवाया । अंत में जनता ने धार्मिक विद्रोह कर दिया । यह विद्रोह अस्त्र-शस्त्र से नहीं, दार्शनिक और अहिंसक था । लोग अपने शरीर में, विशेषकर

गले या सिर में, एक छोटा शिवलिंग धारण करने लगे । शिवलिंग का तात्पर्य उन्होंने अपने जीवन से लगाया, उनके लिये शिवलिंग के हटने या टूटने का अर्थ था जीवन की समाप्ति या मृत्यु । विद्रोह के समय यह भाव रखने के कारण इस मत का नाम वीरमत पड़ा । इस प्रकार शिवलिंग को अपना प्राण मानकर धारण करने वाले लिंगायत कहलाने लगे और इस मत का एक नाम लिंगायत हो गया । इस आन्दोलन के प्रणेता राज्यमंत्री वासव थे । इसीलिये वासव को वीर शैव मत के आधुनिक संस्थापक के रूप में माना गया है ।

इस मत के आचार्य

वीर शैव मत में अन्य आचार्यों यथा रेवणाचार्य, रेवणसिद्ध, मरुल, एकोराम, श्रीपति और पंडिताराध्य के नाम उल्लेखनीय हैं । उन्होंने इस दर्शन को एक स्पष्ट विचारधारा दी । कहना कठिन है कि ये आचार्य अतीत में कब हुए थे, लेकिन माना जाता है कि नौवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच इन्होंने वीर शैव मत को प्रचलित किया ।

पौराणिक दृष्टिकोण से महर्षि अगस्त्य और उनकी पत्नी रेणुका विशेषाद्वैत शैव मत के प्रणेता के रूप में माने जाते हैं । अतः प्राचीनता की दृष्टि से कहा जा सकता है कि यह मत महर्षि अगस्त्य के समय से ही प्रचलित रहा है । बाद में उत्थान-पतन अवश्य हुआ होगा ।

आचार्यों में प्रमुख हैं श्रीपति । उन्होंने इस दर्शन पर अनेक भाष्य लिखे हैं जिनमें 'श्रीपति भाष्य' और 'जीवन मुख्य लिंगायत' प्रमुख हैं । 'जीवन मुख्य लिंगायत' में कहा गया है कि अपने शरीर में शिवलिंग को अपना जीवन समझ करके धारण करो । यह संकल्प लो कि जब तक जीवित रहोगे, शिवलिंग को अपने शरीर से अलग नहीं होने दोगे । इस मत में अनेक विचारधाराएँ जिनमें सामान्य, मिश्र और शुद्ध – तीन प्रमुख हैं । सामान्य और मिश्र के अनुयायी शिव और विष्णु को आराध्य मानकर उनकी पूजा करते हैं । शुद्ध शैव सम्प्रदाय के लोग मात्र शिव को ही आराध्य मानते हैं । शुद्ध शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत वीर मत भी आता है । लिंगायत भक्तिमार्गी हैं; वे जातिभेद नहीं मानते । जिसने एक बार लिंग धारण कर लिया वह शिव-रूप हो जाता है । इसीलिये लिंगायतों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र नहीं मिलेंगे । वे केवल एक ही जाति को मानते हैं और वह है लिंगायत । वीर शैव सम्प्रदाय सभी प्रमुख २८ शैवागमों को स्वीकार करता है ।

विशेषाद्वैत शैव सिद्धान्त के अनेक नाम हैं : १. शुद्ध द्वैताद्वैत, २. सहेश्वराद्वैत, ३. विशेषाद्वैत, ४. शिवद्वैत, ५. सर्वश्रुतिसार माता, ६. शक्ति विशिष्टाद्वैत और ७. वीर शैव ।

शुद्ध द्वैताद्वैत नाम इसलिये पड़ा कि इसमें भक्ति की प्रधानता है । शिवसायुज्य की प्राप्ति के लिये भक्तिमार्ग की शिक्षा है । कहना है कि भक्ति में दो भाव रहते हैं : द्वैताद्वैत या द्वैत से अद्वैत । भक्त और भक्ति का विषय या तत्त्व, समर्पण कर्ता और जिसको

समर्पित किया हो तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान और भाव अन्ततः एक हो जाते हैं। भक्त स्वयं को भक्ति के तत्त्व में बदल देता है। इस अवस्था में परिणति होती है, सायुज्य नहीं। जिस प्रकार एक नदी सागर में मिलकर अपना नाम रूप त्याग सागर का रूप प्राप्त करती है, ठीक उसी प्रकार समर्पण कर्त्ता स्वयं को समर्पित कर देता है।

सहेश्वराद्वैत या सह ईश्वर अद्वैत में जगत का मूल कारण या प्रधान कारण ईश्वर या पति है। पति से ही सृष्टि का क्रम उद्भूत होता है और पति में ही सृष्टि का विलय होता है। सृष्टि में अनेक भिन्नताएँ दिखलाई देती हैं। बीज से एक वृक्ष उत्पन्न होता है, वृक्ष में अनेक शाखाएँ, पत्तियाँ, फूल और फल निकलते हैं तथा नष्ट होते हैं। अन्त में पुनः फल से बीज की अवस्था प्राप्त होती है और उस बीज से फिर वही प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस प्रकार शिव आदि हैं और अन्त हैं। ईश्वर की वही अनुभूति सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। इसीलिये सहेश्वराद्वैत या सह ईश्वर अद्वैत नाम पड़ा है।

विशेषाद्वैत तीसरा नाम है। इसके अनुयायी शंकराचार्य की 'निर्विशेषाद्वैत' विचारधारा का विरोध करते हैं। निर्विशेषाद्वैत का तात्पर्य है असत् या काल्पनिक और विशेषाद्वैत का अर्थ है विशेष रूप से सत् या यथार्थ। वे निर्गुण ब्रह्मवाद के विरोध में सगुण ब्रह्मवाद का प्रचार करते हैं। वे जगत मिथ्या की विचारधारा का विरोध करते हैं। कहना है कि यदि जगत मिथ्या है तो बीज से उत्पन्न वृक्ष भी मिथ्या है। बीज का अस्तित्व वृक्ष के अस्तित्व से अलग हो नहीं सकता। यदि बीज को वृक्ष से अलग मानें, तो कहना ठीक है कि 'ब्रह्म सत्यं, जगत मिथ्या।' लेकिन यदि वृक्ष को बीज की परिणति मानें, तो यह कहना भ्रामक है कि जगत मिथ्या है।

इनका दूसरा विरोध व्यावहारिक सत्य और परमार्थ सत्य के भेद से भी सम्बन्धित है। व्यावहारिक सत्य जीवन और सृष्टि से सम्बन्धित प्रकरण, विचार और प्रत्यक्ष अनुभव है। परमार्थ सत्य का अर्थ अव्यक्त, अतीन्द्रिय जगत की अनुभूति से है। वेदान्त व्यावहारिक सत्य को एक दूसरे से भिन्न मानता है। विशेषाद्वैत के अनुयायी इस भिन्नता या भेद का विरोध करते हैं। कहते हैं कि व्यावहारिक सत्य और परमार्थ सत्य एक हैं, अभिन्न हैं लेकिन इनके अनुभव प्राप्त करने के स्तर अलग-अलग हैं। व्यावहारिक सत्य और परमार्थ सत्य को इन्होंने क्रमशः शुद्ध द्वैत और शुद्ध अद्वैत नाम दिया है। शुद्ध द्वैत और शुद्ध अद्वैत का अनुभव प्राप्त करने के लिये भिन्न प्रकार की चेतना का होना आवश्यक है। एक ही प्रकार की चेतना से शुद्ध द्वैत और शुद्ध अद्वैत का अनुभव नहीं कर सकते। कहते हैं कि साधक पहले शुद्ध द्वैत को समझे और यह समझ में आ जाय, तब शुद्ध अद्वैत को समझने का प्रयास करे। दोनों को समझने का तरीका भिन्न होगा। अपनी वर्तमान बुद्धि, विचार, चिन्तन और चेतना से तो शुद्ध द्वैत को ही नहीं समझ पायेंगे। अतः शुद्ध अद्वैत की तो बात ही छोड़ दीजिये। मनुष्य जीव और शिव को भले ही एक ही रूप में माने, लेकिन इनमें शुद्ध द्वैत और शुद्ध अद्वैत की अवस्था में अन्तर का बोध

होता है। आत्मा और शिव-तत्त्व में मूलतः कोई अन्तर नहीं है, लेकिन आत्मा आणविक है और शिव तत्त्व वृहत, विस्तृत और व्यापक है। आत्मा में ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति सीमित अवस्था में विद्यमान है और शिव स्वरूप में सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमानता का ज्ञान होता है। इस प्रकार अनुभव के दो आयाम हो जाते हैं– एक है सीमित और दूसरा है असीम। अतः भक्तिमार्ग के द्वारा पहले द्वैत को समझें तदुपरान्त अद्वैत या असीम के क्षेत्र में प्रवेश करें।

शिवद्वैत चौथा नाम है। शिवद्वैत और सहेश्वराद्वैत में नाम का साम्य है तथा दोनों के अर्थ के अनुसार शिव ही अन्तिम सत्य है। बीच के सत्य अनेक हो सकते हैं, लेकिन अन्तिम सत्य शिव है। जीवन और जीव शिव की ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के परिणाम हैं। यदि शिव में इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति उत्पन्न नहीं होती तब वह हमेशा अपने सनातन स्वभाव में ही स्थिति रहता है; जीवन और जीव का अनुभव नहीं होता। इसलिये पशु और माया कुछ नहीं हैं; मात्र शिव ही एक अन्तिम सत्य है।

सर्वश्रुतिसार माता पाँचवां नाम है। इस विशेषाद्वैत दर्शन में सभी ग्रन्थों तथा दर्शनों के मूल सिद्धान्तों का समावेश है।

शक्ति विशिष्टाद्वैत छठा नाम है। शिव को उन्होंने जगत का कारण माना है और शक्ति को दृश्यमान एवं अनुभवगम्य जगत का कारण। शिव मूल या बीज रूप में जगत का कारण है और शक्ति वृक्ष, शाखा, पत्ते, फूलों और फलों के रूप में दृश्यमान जगत का कारण है। विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुयायियों की धारणा है कि अन्तिम अवस्था में आत्मचेतना को प्राप्त कर लेने से पदार्थ और रूप का भेद समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ, नाम और रूप का अन्तर आत्मचैतन्य की स्थिति में समाप्त हो जाता है, लेकिन आत्मचेतना की स्थिति में वास्तविक और औपचारिक पक्षों एवं सम्भावित और भौतिक पक्षों में अन्तर होता है। शिव-तत्त्व में पूर्णता के सम्भावित और भौतिक क्षणों की अनुभूति होती है और शक्ति तत्त्व में पूर्णता के वास्तविक और औपचारिक क्षणों का समावेश है। इसीलिये शिव को 'जगत का कारण' माना गया है और शक्ति को 'दृश्यमान कारण।'

वीर शैव दर्शन या **वीर शैव मत** सातवाँ नाम है। वीर शब्द का प्रयोग लिंगायतों से जुड़ा हुआ है। इस नाम का ऐतिहासिक और आधुनिक कारण वासव से प्रारम्भ होता है, लेकिन प्राचीन परम्परा का प्रारम्भ अगस्त्य और रेणुका के संवाद से होता है। इस संवाद का उल्लेख 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इसके अनुसार 'वी' का अर्थ है विद्या। विद्या का तात्पर्य जीव और शिव के ऐक्य के ज्ञान से है। दूसरा ग्रन्थ क्रियासार है जिसके अनुसार 'वी' का तात्पर्य विकल्प से और 'र' का अभिप्राय 'रहित' या 'बिना'

से है। 'क्रियासार' में बतलाया है कि शिव भक्ति या शिव दर्शन विकल्प रहित, पूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ होना चाहिये।

दार्शनिक मान्यताएँ

विशेषाद्वैत में तीन प्रधान कारणों – पशु, पाश और पति को स्वीकार किया गया है। पाश के अन्तर्गत पशुत्व, माया और कर्म – तीनों को मल के रूप में देखा गया है। संभवतया वैदिक विचारधारा तथा शैव तांत्रिक विचारधारा को समान बतलाने के लिये माया शब्द पर और माया की व्याख्या पर अधिक बल दिया गया है।

अन्य शैव सिद्धान्तों के अनुसार ३६ कारणों को भी स्वीकार किया गया है। पाँच शुद्ध कारण **(१) शिव, (२) शक्ति (३) सदाशिव, (४) ईश्वर** और **(५) शुद्ध विद्या** हैं। (१) शिव और (२) शक्ति से सम्बन्धित विचारधारा स्पष्ट है। (३) सदाशिव का सम्बन्ध विद्येश्वर से है। सदाशिव के बाद है (४) ईश्वर और उसके बाद है (५) शुद्ध विद्या। यहाँ ईश्वर का सम्बन्ध आत्मा से और विद्या का सम्बन्ध ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति की शुद्ध, विकार एवं विषय रहित अवस्था से है।

इसके पश्चात् सात शुद्धाशुद्ध – शुद्ध और अशुद्ध कारण **(१) माया, (२) काल, (३) नियति, (४) कला, (५) विद्या, (६) राग** और **(७) पुरुष** आते हैं। पुरुष या जीवात्मा माया, काल, नियति, कला, विद्या और राग के नियन्त्रण में कार्यरत है। तदुपरान्त २४ अशुद्ध कारण जिनके अन्तर्गत व्यक्त प्रकृति; प्रकृति के तीन गुण – सत्व, रज और तम; पाँच भूत; पाँच तत्त्व; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। विशेषाद्वैत के अनुसार प्रकृति के ३ प्रमुख रूप हैं : शुद्ध रूप या शक्ति, मध्यवर्ती रूप या माया और अशुद्ध रूप या प्रकृति। शुद्ध, अव्यक्त और निर्गुण अवस्था में शक्ति शिव-तत्त्व के समान है। परिणति की अवस्था में या जब शक्ति का विकास अव्यक्त से व्यक्त हो तो वह माया का रूप धारण करती है। विकास के समय जिन विभिन्न पदार्थों, रूपों और गुणों का अनुभव होता है वे प्रकृति के रूप हैं। इसमें अंतःकरण – मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार शामिल हैं।

पशु और मोक्षावस्था की तुलना में कहना है कि पशु, पति से पूर्णतः भिन्न है। यदि पशु शिव से भिन्न नहीं रहता तो वापसी के लिये साधनाओं की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्रों, गुरुओं या सन्त-महात्माओं द्वारा दिये गये निर्देशों का तात्पर्य ही है कि पशु रूप में शिव की अनुभूति नहीं हो सकती। मनुष्य शरीर या मन में उस चैतन्य, अव्यक्त और अदृश्य सत्ता की अनुभूति सम्भव नहीं है। इसीलिये ईश्वर तत्त्व या शिवसायुज्य की प्राप्ति हेतु मनुष्य को कर्म, ज्ञान और उपासना की पद्धतियाँ अपनानी आवश्यक हैं। समस्त दर्शनों और विचारधाराओं में कर्म, ज्ञान और उपासना की चर्चा की गई है। जब तक मनुष्य इन तीनों से नहीं गुजरता तब तक शिव की प्राप्ति सम्भव नहीं।

मोक्ष की चार अवस्थाएँ

मोक्ष की चार अवस्थाएँ : **(१) सालोक्य, (२) सामीप्य, (३) साम्य** और (४) **योग या सायुज्य** हैं। सालोक्य का अर्थ है लोक की प्राप्ति, सामीप्य का निकटता, साम्य का अभिप्राय है, गुणों को अपनाना और चौथी अवस्था है योग या सायुज्य।

मनुष्य संसार में रहता है; प्रयास, पुरुषार्थ, कर्म और साधना के सहयोग से वह सालोक्य प्राप्त करता है। बाहर के लोग यदि आश्रम में आकर रहें तो उनके लिये वह सालोक्य होगा। वे पहले जिस अवस्था में थे, अब उस अवस्था में नहीं, एक दूसरी अवस्था में, एक दूसरे परिवेश में हैं। सालोक्य मुक्ति की प्रथम अवस्था है। सालोक्य के बाद आती है सामीप्य की अवस्था। इसका तात्पर्य है सालोक्य की प्रेरणा या अनुभव से केन्द्र के निकट आना। सामीप्य में गुणों को अपनाने की स्थिति है; केन्द्र के गुणों को या ईश्वरीय गुणों को अपनाना। गुणों को अपनाने के पश्चात् जब 'मैं' का ज्ञान धीरे-धीरे क्षीण होने लगता है तब योग या सायुज्य की अवस्था प्राप्त होती है।

योग के छः प्रकार

छः प्रकार के योग की चर्चा की गई है जिसका नाम है 'षट्का'। योग के अन्तर्गत **(१) वर्ण, (२) पद, (३) मन्त्र, (४) कला, (५) भुवन** और **(६) तत्त्व** हैं। सायुज्य की इस अंतिम अवस्था में इन छः प्रकार की योग अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।

वर्ण का तात्पर्य वर्णभेद या जाति भेद से नहीं है, वरन् यह कारण स्तर पर आत्मा के अस्तित्व को पहचानना है। आत्मा के भेद – सकल, अकल, निरञ्जन इत्यादि पूर्व में बतलाये जा चुके हैं। पहले ज़ानना है कि कारण लक्षण क्या है, मनुष्य किस अवस्था में है ? अगर मनुष्य सायुज्य की अवस्था तक पहुँचा है, तब इन सब बातों का क्या तात्पर्य है ? इस प्रसंग में ख्याल रखिये कि स्थूल प्रयास की एक सीमा होती है। स्थूल प्रयास के द्वारा मनुष्य शरीर से प्रकृति तक की अवस्था में कर्म और पुरुषार्थ करता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म प्रयास होते हैं। सूक्ष्म प्रयास शुद्धाशुद्ध की अवस्था में किये जाते हैं; जिसका क्षेत्र माया से पुरुष तक होता है। पुरुष अवस्था में राग, नियति, कला इत्यादि को पार करते-करते साधक शुद्ध विद्या की स्थिति में आता है। शुद्ध विद्या प्रधान कारणों में गिनी जाती है।

शुद्ध विद्या की प्राप्ति भी सायुज्य की अवस्था है और इस सायुज्य अवस्था में अधिक गहराई तक जाना है। शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव – यह वापसी का क्रम है। इसी वापसी में शुद्ध विद्या के अन्तर्गत वर्ण और पद का ज्ञान होता है। शक्ति प्राप्ति की श्रेणियाँ या स्तर पद हैं। तत्पश्चात् ईश्वरत्व अवस्था के अनुभव के लिये मन्त्र की चर्चा की जाती है।

तदुपरान्त कहा जाता है कि सदाशिव की अवस्था में सम्पूर्ण कलाओं पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति शुद्ध बन जाता है या शुद्धता की स्थिति को प्राप्त करता है। भुवन का अर्थ होता है संसार, ब्रह्माण्ड या जगत। भुवन का तात्पर्य है शक्ति तत्त्व से एक

होकर आद्यशक्ति को प्राप्त करना; यह अनुभव करना कि मैं शक्ति-स्वरूप बन गया। तत्त्व से तात्पर्य तत्त्व या शिव तत्त्व की प्राप्ति से है। इस प्रकार अन्तिम सायुज्य की सूक्ष्म भिन्नताएँ यहाँ स्पष्ट की गई हैं।

अनुग्रह

अनुग्रह के भी छः प्रकार हैं : **१. श्रवण, मनन, निदिध्यासन, २. दोनों का एक साथ प्रकाशन, ३. शिव-शक्ति योग, ४. परोक्ष दर्शन, ५. कल्याण विभूति** और **६. तुरीयावस्था**।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा बुद्धि, भावना और अन्तर्मन में परिवर्तन होता है। इससे भक्ति का एक आधार निर्मित होता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा मानसिक, भावनात्मक और विचारात्मक प्रतिक्रिया पर नियन्त्रण प्राप्त होता है और उनमें रूपान्तरण होता है, जिससे विकार, अशुद्धियाँ या मल दूर हो जाते हैं। इसे अनुग्रह की एक स्थिति माना गया है।

अनुग्रह की दूसरी स्थिति है : "मैं और वह, दोनों का एक साथ प्रकाशित होना"। यहाँ 'मैं' के साथ पुरुषार्थ होता है। जब एक बार अनुभव होने लग जाय कि **'वह'** तो प्रकाशित है ही, और उसे **'मैं'** प्राप्त करना चाहता हूँ, तो स्वयं को उस स्तर पर लाने का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है। "जिस प्रकार से वह शुद्ध है, जिस प्रकार से वह पवित्र है, उसी प्रकार मैं भी शुद्ध और पवित्र हो जाऊँ, उसी प्रकार प्रकाशित हो उठूँ," यह भाव प्रबल हो जाता है। सांसारिक जीवन में यह शक्तिपात द्वारा सम्भव है। एक साधक या शिष्य के तैयार होने से गुरु शक्तिपात के द्वारा शिष्य के भीतर प्रकाश को जागृत कर देते हैं, प्रकाश के आवरण को हटा देते हैं, और आत्मिक अनुभूति होने लगती है कि "मैं और वह एक हैं।"

अनुग्रह की तीसरी अवस्था है शिव-शक्ति योग। शिव-शक्ति योग को एक भावात्मक या सूक्ष्म रूप में नहीं, बल्कि व्यावहारिक रूप में देखें। षट्चक्र भेदन को समझाते हुए कहा जाता है कि अपनी चेतना को मूलाधार से उठाकर सहस्रार पर ले जाइये जहाँ मूलाधार की शक्ति का योग ध्यानस्थ शिव से होता है। इस शिव-शक्ति योग को अनुग्रह का रूप दिया गया है, लेकिन इसके लिये प्रयास करना पड़ता है, कुण्डलिनी योग की साधना करनी पड़ती है। कुण्डलिनी योग के अभ्यास से शिव-शक्ति योग का अनुग्रह सम्भव हो सकता है।

परोक्ष दर्शन चौथा अनुग्रह है। इसका अर्थ है चेतना के विभिन्न स्तरों और अवस्थाओं में आवागमन की सुविधा। तात्पर्य है कि साधक इच्छानुसार स्वयं को चेतना के स्थूल या सूक्ष्म लोक या स्तर में ले जाय। इसे मन और चेतना की क्षमता पर नियन्त्रण कह सकते हैं, जो शिव-शक्ति योग के बाद ही सम्भव है, क्योंकि यहाँ पर पहले

से ही शक्ति का उत्थान करके शिव के साथ योग करा दिया है। साधक में यह क्षमता आ जाती है कि वह चेतना के किसी भी स्तर में, लोक में चाहे वह चक्रों का लोक हो या चक्रों के ऊपर का लोक हो, स्वयं को ले जाय।

पाँचवाँ अनुग्रह है कल्याण विभूति। विभूति का अर्थ होता है शक्ति, क्षमता या सिद्धि। अतः कल्याण विभूति का तात्पर्य कल्याण करने की क्षमता या कल्याण करने की शक्ति है। जब हमारे द्वारा दूसरों का कल्याण हो तो वह कल्याण विभूति की स्थिति है।

तुरीयावस्था छठा और अन्तिम अनुग्रह है। इसका अर्थ है मोक्ष की प्राप्ति। अनुग्रह की उपरोक्त छः स्थितियों में सांसारिक और सामाजिक जीवन से साधक का जीवन, साधक के जीवन से सिद्ध का जीवन और सिद्ध के जीवन से एक मुक्त आत्मा के जीवन का दिग्दर्शन होता है। श्रवण -मनन-निदिध्यासन मनुष्य का व्यावहारिक और सामाजिक जीवन है। 'मैं और वह का प्रकाशन', गुरु की अनुकम्पा और शिव-शक्ति योग है साधनात्मक जीवन। परोक्ष दर्शन है साधनात्मक जीवन की सूक्षम अवस्थाओं पर नियन्त्रण। कल्याण विभूति है सिद्धत्व की प्राप्ति और तुरीयावस्था है मोक्ष की प्राप्ति।

६. नन्दिकेश्वर शैव सिद्धान्त

नन्दिकेश्वर शैव सिद्धान्त छठा प्रमुख सिद्धान्त है। नन्दिकेश्वर ऋषि थे। मान्यता के अनुसार वे पाणिनि, पतंजलि और वशिष्ठ के समकालीन थे। किंवदन्ती है कि एक बार पाणिनी, पतंजलि, वशिष्ठ, नंदिकेश्वर आदि पाँच-छः ऋषि साध बैठकर संस्कृत-चर्चा कर रहे थे। कुछ नियम स्पष्ट नहीं हो रहे थे, अतः उन्होंने महेश्वर का ध्यान किया। ध्यान के फलस्वरूप शिवजी प्रकट हुए तथा उनके प्रश्नों को सुनकर, अपना डमरू बजा दिया और अन्तर्ध्यान हो गये। डमरू की आवाज एक ध्वनि या नाद या श्रुति रूप में थी। पाणिनि ने उस ध्वनि या नाद को स्वरों और व्यंजनों में बाँधकर एक स्वरूप दिया, जिसे हम लोग माहेश्वर सूत्र के नाम से जानते हैं। कुछ बातें पाणिनि की समझ में नहीं आई और वे नन्दिकेश्वर से चर्चा करने लगे। नन्दिकेश्वर ने सम्पूर्ण संस्कृत व्याकरण और शैव सिद्धान्त को केवल २६ सूत्रों में पाणिनी को समझा दिया। ये सूत्र 'नन्दिकेश्वर कोशिका' नामक ग्रन्थ में लिखित हैं। अद्वैतवादी शैव दर्शन का यह ग्रन्थ संस्कृत तथा संस्कृत व्याकरण का आदि ग्रन्थ माना जाता है।

यह सम्प्रेषण विद्या है, जिसका अर्थ सूक्ष्म या बीज रूप में कोई बात बता देना या समझा देना होता है। उस बीज को देखकर उससे उत्पन्न होने वाले वृक्ष के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी रूप में नन्दिकेश्वर ने पाणिनि को संस्कृत का सूत्र ज्ञान दिया। नन्दिकेश्वर के २६ सूत्रों में प्रथम दो सूत्र व्याकरण से सम्बन्धित हैं जिनके आधार पर पाणिनि ने माहेश्वर सूत्रों की रचना की। इन्हें आज प्रत्याहारों के नाम से जानते हैं।

सम्भवतः अद्वैतवाद के प्रथम प्रणेता या प्रवर्तक नन्दिकेश्वर ही थे। काश्मीर शैव मत भी अद्वैतवाद का ही दर्शन है। उस दर्शन में नन्दिकेश्वर ने शैव दर्शन के अनेक सूत्रों और विचारधाराओं का समावेश किया गया है। पाशुपत दर्शन, लकुलीश पाशुपत दर्शन या विशिष्टाद्वैत दर्शन का विकास नन्दिकेश्वर के बाद ही होता है। पुनः इन दर्शनों में विभाजन हो जाते हैं, परिवर्तन होता हैं, भिन्नताएँ आ जाती हैं और सभी चिन्तक अपनी-अपनी व्याख्या देते हैं।

दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में उपमन्यु नाम के एक व्याख्याकार ने 'तत्त्वविमर्शिनी' में 'नन्दिकेश्वर कोशिका' के २६ सूत्रों पर टीका लिखी। उपमन्यु की व्याख्या का काश्मीर शैव मत पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। काश्मीर शैव मत के विद्वानों, चिन्तकों, विचारकों और प्रवर्तकों में क्षेमराज, उत्पल, अभिनव गुप्त और सोमानन्द प्रमुख माने गये हैं। उन्होंने 'स्पन्दकारिक' और 'त्रिका' जैसे ग्रन्थों में इन्हीं सूत्रों के आधार पर अद्वैतवाद को आगे बढ़ाया।

प्रमुख मान्यताएँ

नन्दिकेश्वर शैव सिद्धान्त में तीन प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं, जो अध्यात्मवाद के तीन लक्षणों के समान हैं। **(१) आध्यत्मिक जीवन और आध्यात्मिक साधना** से अन्तिम आत्मिक सत्य की प्राप्ति होती है। (२) साधक को **सत्य का अनुभव** होता है। (३) साधना का आधार **श्रद्धा** है। इस प्रकार आध्यात्मिक जीवन, आध्यात्मिक साधना और श्रद्धा का उल्लेख किया है। मात्र इतना कहा गया है कि आध्यात्मिक जीवन और आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है। व्यक्ति विशेष को इस प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं किया गया है। इसका यह कारण हो सकता है या यह मान सकते हैं कि बिना व्यक्ति के भी सत्य की एक ही अवस्था है। व्यक्ति के जीवन से खोज का प्रारम्भ होता है। लेकिन अवस्था एक ही है, जिसका सम्बन्ध है अपने आध्यात्मिक जीवन और आध्यात्मिक साधना के साथ।

इस आध्यात्मिक जीवन और आध्यात्मिक साधना का सम्बन्ध केवल मनुष्य से ही नहीं है, सभी पदार्थों का – चाहे वह सजीव हो या निर्जीव – एक आध्यात्मिक क्षेत्र होता है। पशु, पक्षी और वनस्पतियों में भी आध्यात्मिक अवस्था की अनुभूति हो सकती है। जो व्यक्त है, चाहे वह जड़ हो या चेतन, उसकी उत्पत्ति का कारण तो अदृश्य, अव्यक्त शिव ही है। जब उत्पत्ति का कारण एक है, तो चाहे सृष्टि सजीव हो या निर्जीव, कहीं न कहीं उसका अंश अवश्य ही दिखलाई देगा, अनुभव होगा। वस्तुतः उस सत्य का अंश पत्थर में छिपी चेतन अवस्था में भी है; पशु पक्षी और वनस्पति में भी है। प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थ का एक आध्यात्मिक जीवन, एक आध्यात्मिक क्षेत्र होता है। उस आध्यात्मिक जीवन या आध्यात्मिक क्षेत्र का सम्बन्ध शिव से रहता है।

जो व्यक्ति आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिये तैयार हो जाय, आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करे, आध्यात्मिक साधना को अपनाये, वह अवश्य ही सत्य को प्राप्त करता है। पद्धति है प्रयत्न की। साधक द्वारा एक मार्ग, एक जीवन-पद्धति और एक साधना को अपनाया जाना कर्म और पुरुषार्थ का लक्षण है। कर्म और पुरुषार्थ के बिना साधक आध्यात्मिक जीवन को नहीं अपनाता है।

दूसरी, प्रवृत्ति है– श्रद्धा। श्रद्धा ही साधना का आधार है। केवल श्रद्धा और विश्वास ही हमें आगे बढ़ाते रहते हैं। श्रद्धा में अनेक अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। एक केन्द्र है आत्मविश्वास। श्रद्धा का दूसरा केन्द्र है शिक्षक या गुरु। श्रद्धा का तीसरा केन्द्र है साधना। श्रद्धा का चौथा केन्द्र स्वयं ईश्वर है।

अद्वैतवाद

अद्वैतवाद के वर्णन में, दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। दोनों के प्रयोग से यह अनुमान लगा सकते हैं कि उन्होंने अद्वैतवाद को सही रूप में प्रस्तुत किया है। कोई वैष्णव हो, तो परम सत्ता को ब्रह्म के रूप में देखे, शैव हो तो शिव रूप में देखे।

इस सिद्धान्त में अद्वैतवाद को सूत्र रूप में बतलाया गया है। **'अ'** प्रथम स्वर है, सर्वव्यापी है; इसके बिना सब व्यंजन और स्वर अधूरे रहते हैं। किसी अक्षर के उच्चारण के लिये **'अ'** का रहना आवश्यक है। जिस प्रकार **'अ'** सर्वव्यापी है उसी प्रकार ब्रह्म या शिव तत्त्व भी सर्वव्यापी है। जीवन में ऐसा कोई भी क्षण या अनुभव नहीं जहाँ ईश्वर या शिव न हो या उसकी सत्ता का अनुभव न हो। वह सर्वत्र है और उसका रूप है प्रकाश का।

'इ' चित्रकला है, ब्रह्मशक्ति है और पूर्णतः स्वतंत्र है। इसका दूसरा नाम है चित्ति। चित्ति या चित्रकला, ब्रह्मशक्ति या शिवशक्ति एक ही शक्ति के विभिन्न नाम हैं।

शक्ति ब्रह्म या शिव से स्वतंत्र है। हर अक्षर, व्यंजन या शब्द के साथ 'इ' कार का उतना प्रयोग नहीं होता जितना 'अ' कार का होता है। 'इ' कार का प्रयोग आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं होता है। जब किसी अक्षर को एक विशेष रूप देना हो तब 'अ' को हटाकर 'इ' जोडा जाता है। इस प्रकार ब्रह्म की ही सत्ता या अनुभव को व्यक्त करने के लिये उसके वास्तविक रूप को हटाकर उसमें शक्ति का रूप जोड़ा गया है। 'क' में 'इ' जोड़ दीजिये तो 'कि' बोलेंगे, 'क' 'इ' नहीं बोलेंगे। यहाँ 'अ' का लोप हो गया है। 'अ' सूक्ष्म हो जाता है और 'इ' प्रकट हो जाता है। इस प्रकार जगत में व्यक्त अनुभूति हमेशा शक्ति की ही होती है, ब्रह्म की नहीं।

चित्रकला या शक्ति का अधिष्ठाता या व्यक्त अवस्था में ईश्वर के जिस रूप का आभास हो सकता है वह 'उ' है। शक्तिपति 'उ' है। इस प्रकार ये तीन प्रधान श्रेणियाँ, प्रकार, विभक्तियाँ और कारण हैं। इससे पहला प्रत्याहार सूत्र– अ, इ, उ, ण् – निर्मित होता है।

इसके बाद ऋ और लृ आते हैं जिनका तात्पर्य क्रमशः मन और कार्य से है। सामान्यतः मन, बुद्धि या चित्त को प्रकृति का भेद मानते हैं। मन ब्रह्मरूप और कार्यशक्ति है। मन का क्षेत्र सूक्ष्म तथा अव्यक्त है; मन का व्यक्त अनुभव किसी को नहीं, मन के कार्य का अनुभव होता है। विचारों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि विचार ही मन है; किसी भावना को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि भावना ही मन है। मन एक सूक्ष्म लोक है। इसीलिये मन को ब्रह्म माना गया है और कार्य को शक्ति। कार्य के बाह्य रूप को माया कहा गया है। माया केवल मनोवृत्ति है। मन की वृत्ति का नाम है माया। मनोवृत्ति में सभी प्रकार के कार्य आ जाते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण कर्म, माया के अधीन हैं। जिन्हें मनुष्य राग, नियति आदि मानता है वे कर्मों के ही विस्तार हैं। नियति कर्म है। यदि कर्म नहीं तो नियति नहीं। यदि कर्म नहीं तो आसक्ति और राग भी नहीं। माया या मनोवृत्ति के विस्तार आगे के राग भी नहीं। माया या मनोवृत्ति के विस्तार आगे के अक्षर हैं। 'ऋ लृ क्' सूत्र में ब्रह्म और माया, मन और कर्म का दर्शन सन्निहित है।

७. रसेश्वर शैव सिद्धान्त

रसेश्वर शैव सिद्धान्त दर्शन नहीं, विज्ञान है, रसायन शास्त्र है। इसके प्रयोग से शरीर को शुद्ध और अमर बनाया जाता है। इसके अनुयायी महेश्वर या परम चेतना के साथ आत्मा के सम्बन्ध को मानते हैं। कहते हैं कि जीवन में मुक्ति, शरीर और शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है। जब तक शरीर स्वस्थ नहीं होता तब तक मुक्ति प्राप्त करना असम्भव है। शरीर को जरा, व्याधि और मृत्यु के प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयास किया जाता है।

प्राचीन काल में आध्यात्मिक जीवन के अनुयायी और साधक शारीरिक रोग या व्याधि से ग्रस्त होकर कभी-कभी अकाल मृत्यु के भी शिकार होते थे। इससे साधकों में निराशा उत्पन्न हुई होगी कि व्याधिग्रस्त शरीर से तो व्यक्ति साधना भी नहीं कर सकता तथा साधना-क्रम टूट भी जाता है। अतः साधकों ने शारीरिक स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये अनेकों उपायों का प्रयोग कर योग तथा पारदविज्ञान को अपनाया जिसे रसायन शास्त्र भी कहते हैं। उनके प्रयास के परिणामस्वरूप ही पारद और अबरख का उपयोग औषधि के रूप में शुरू हुआ।

किंवदन्ती के अनुसार अबरख शक्ति के शरीर से और पारद शिव के शरीर से उत्पन्न हुआ है। पौराणिक कथा है कि एक बार अग्नि शिव के वीर्य को लेकर चल पड़ा। वह वीर्य इतना गर्म और भारी हो गया कि अग्नि उसे धारण न कर सका। उस शिव-वीर्य या शिव-स्राव का तीन अंश पानी में गिरा और एक अंश भूमि पर। जो अंश पानी में गिरा उससे स्कन्द का जन्म हुआ जो देवताओं के सेनापति बने। एक अंश जो

जमीन पर गिरा उसे निकालने के लिये देवताओं ने हजारों योजन तक भूमि को खोदा। पारद जमीन की सतह से लगभग २५ हजार फीट नीचे मिलता है। पारद और अबरख दोनों को शुद्ध कर व्यवहार करने से शरीर पूर्ण व्याधिरहित और पवित्र होकर अमरत्व को प्राप्त करता है।

पारद स्वयं में एक विष है, यदि कोई उसे खा ले तो उसकी जीवन-लीला समाप्त समझिये। पारद को मूल रूप में ग्रहण नहीं किया जाता है। पारद को एक निश्चित तापक्रम पर एक निश्चित समय तक जलाया जाता है। उससे जो पारद भस्म तैयार होता है उसे अन्य तत्त्वों के भस्म, जैसे स्वर्ण भस्म या रजत भस्म के साथ मिलाकर ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार तैयार भस्म को सुई की नोक के बराबर मात्रा में वर्षों तक लेना पड़ता है। बौद्धों ने भी पारद प्रयोग किया है और बौद्ध दर्शन में पारद विज्ञान या रसायन विज्ञान का वर्णन मिलता है। नागार्जुन एक बौद्ध विचारक थे। कहानी है कि नागार्जुन ने मिस्र से पारद लाकर उसे सिद्ध किया। सिद्धों में नागार्जुन का भी नाम आता है। वैष्णव दर्शन में भी पारद विज्ञान, रसोपनिषद् इत्यादि अनेक ग्रन्थ हैं। तन्त्र शास्त्र के ग्रन्थों में इस विषय पर चर्चा की गई है। शिव पुराण सहित अन्य पुराणों एवं उपनिषदों में ८४ सिद्धों की चर्चा मिलती है। ये सभी ८४ सिद्ध, रससिद्ध हैं। रससिद्ध का तात्पर्य यह कि उन्होंने पारद प्रयोग कर अमरत्व प्राप्त किया था। आदि शंकराचार्य के परम गुरु गौड़पादाचार्य भी एक सिद्ध थे तथा उन्होंने पारद पर शोध किया था।

ग्रन्थों से मालूम पड़ता है कि पारद की शुद्धि के दो लक्षण हैं : १. लौह शुद्धि और २. देह शुद्धि। लौह शुद्धि का अर्थ है लोहे को सोने में बदलना। यदि पारद को एक निश्चित स्तर तक शुद्ध किया जाय और उस शुद्ध तत्त्व से लोहे का स्पर्श हो तो लोहा सोना बन जाता है। आजकल अनेक तांत्रिक लोहे को सोना बनाने का दावा करते हैं। यह काल्पनिक नहीं, एक तथ्यात्मक सत्य है और सिद्ध लोग ऐसा कर सकते हैं। कई उपनिषदों एवं तंत्रों में इस प्रक्रिया को समझाया भी गया है। 'श्रीसूक्त' मन्त्र समूह में पारद को शुद्ध करने की विधि बताई गई है।

लौह शुद्धि के बाद देह-शुद्धि की चर्चा होती है। इसकी सफलता के लक्षण 'वाग्भट्ट संहिता' में २३ सिद्धों के वर्णन के प्रसंग में बताये गये हैं। लौह शुद्धि और देह शुद्धि को प्राप्त करने की विधियो का वर्णन प्रसार्णव तन्त्र, प्रश्नोपनिषद, रसमहोदधि जैसे अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है।

यह रसायन विज्ञान यौगिक अभ्यासों के पूरक के रूप में प्रचलित हुआ। इसकी मूल विचारधारा थी कि जब साधक का शरीर शुद्ध रहेगा तो वह किसी भी प्रकार के अभ्यास को सुगमता से करने में सक्षम हो जायेगा और बिना किसी बाधा के अभ्यास में पूर्णता प्राप्त कर लेगा।

ग्रन्थों में कहा गया है कि रसायन प्रयोग से सर्वप्रथम शरीर व्यधिरहित होता है। उसके बाद यदि व्यक्ति साधना कर इस जीवन में मोक्ष प्राप्त कर ले, तब वह अमर हो सकता है, सशरीर शिव-सायुज्य प्राप्त कर सकता है। लेकिन यदि उसकी नियति, भाग्य या कर्म में यह नहीं है कि वह इस जीवन में मोक्ष प्राप्त करे, या परिस्थितियों के कारण वह उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सके, तो उसके शरीर का नाश होगा, उसका शरीर विखण्डित हो जायेगा, एक बाल तक नहीं बचेगा। किसी को भी पता नहीं चलेगा कि उसका शरीर कहाँ पर गायब हो गया। उसका शरीर वस्तुतः आकाश में विलीन हो जाता है। इस प्रकार एक रस-साधक विशिष्ट प्रकार की मृत्यु को प्राप्त करता है। यह सामान्य मृत्यु नहीं है, जिसमें शरीर बिछावन पर पड़ा है और पंछी उड़ गया पिंजरा छोड़कर। कबीर का नाम भी रस-सिद्धों में आता है।

इस सम्बन्ध में धार्मिक मान्यता के अनुसार एक रस-सिद्ध या रस-साधक के लिये पारद शिवलिंग की आराधना का विधान है। इस प्रकार की साधना में शिवलिंग को धारण कर वैष्णव मन्त्र का, लक्ष्मी मन्त्र का जप करना होता है, शैव मन्त्र का नहीं। रस-दीक्षा का भी विधान है। गुरु अपने शिष्य को रस-दीक्षा देता है, जिसमें शिष्य को लक्ष्मी का बीज मन्त्र प्रदान कर पूजा-पद्धति को समझाता है। पूजा पद्धति के अन्तर्गत रसलिंग पूजा विधान, अभिषेक विधान, मन्त्र जप विधान आदि आते हैं। इन साधनात्मक प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद ईश्वर की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का कहना है कि जो इस प्रकार की साधना अपनाता है उसे अवश्यमेव मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रसेश्वर दर्शन का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है, जो इसके सिद्धान्तों तथा प्रक्रियाओं को क्रमबद्ध और स्पष्टरूप से बतावे। वस्तुतः यह एक दर्शन था भी नहीं, लेकिन द्वैतवाद के प्रचारकों में यह प्रक्रिया प्रचलित थी। 'रसार्णव' ग्रन्थ में शक्तिपात या अनुग्रह, पाश, ईश, सदाशिव इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इनके प्रसंगों में द्वैतवाद की विचारधारा को अपनाया गया है।

ईश्वर के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए रस-साधक सिर्फ इतना ही कहते हैं कि "सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सूक्ष्मरूपो निरंजनः, इच्छया कुरुते सृष्टि इच्छया संहरेत् जगत्।" ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वकर्त्ता तथा सूक्ष्म रूप वाला है, निरंजन है; वह इच्छा से सृष्टि करता है और इच्छा से जगत का संहार करता है। दूसरे मन्त्र "यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्चयः " में "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" का भाव है। एक अन्य मन्त्र "वेश्च यश्च सर्वस्य मयोनित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः" का अर्थ है कि जो कुछ भी दिखलाई देता है वह सर्व से ही उत्पन्न हुआ है, सर्व में ही विलीन होता है, सर्व ही सर्व है। ईश्वर-चर्चा के इन मन्त्रों में ईशावास्योपनिषद् का भाव दिखलाई देता है।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने योग को मुक्ति का माध्यम माना। दर्शन है द्वैतवादी, साधना पद्धति के रूप में है योग और धार्मिक पद्धति है रसलिंग पूजा।

मुक्ति के विषय में कहते हैं "अजरामर देहस्य शिवतादात्म्यवेदनं, जीवनमुक्तिर्महादेवी देवानामपि दुर्लभम्"। अभिप्राय यह कि शरीर को अजर-अमर बनाकर जब शिव के समान होने का ज्ञान प्राप्त हो जाय, तब जीवन में मुक्ति प्राप्त होती है, जो देवताओं के लिये भी अति दुर्लभ है। यहाँ शिव के समान होने की बात कही जा रही है, शिवरूप होने की बात नहीं की जा रही है। मैं शिव नहीं हूँ, लेकिन शिव के समान हूँ। अतः यहाँ पर द्वैत का रूप स्पष्ट रूप से दिखलाई दे रहा है।

८. काश्मीर शैव सिद्धान्त

आठवें प्रमुख दर्शन काश्मीर शैव सिद्धान्त का आधार अभिनव गुप्त द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थ 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञ विमर्शिनी' है। उत्पलाचार्य ने जिस दर्शन का निर्माण किया, उसी दर्शन की विस्तृत व्याख्या अभिनव गुप्त ने अपने इस ग्रन्थ में की, जो अद्वैत दर्शन का आधार माना गया है।

अद्वैत दर्शन कितना प्राचीन है या सर्वप्रथम किस काल में इसका प्रचार हुआ कहना कठिन है। इस दर्शन के कोई एक प्रणेता नहीं थे, जिनके जीवन-काल को आधार मानकर इसका प्रवर्त्तन काल निर्धारित किया जाय। अनेक चिन्तकों ने अलग-अलग समय पर इस दर्शन पर अपने विचार व्यक्त किये और 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञ विमर्शिनी' के आधार पर इस दर्शन को आगे बढ़ाया।

इस सिद्धान्त का मूल दर्शन यह है कि चेतना और अनुभव के स्तर अलग-अलग होते हैं। चेतना शिव तत्त्व है और चेतना शक्ति और शिव के सहयोग से उत्पन्न भी है। इस अव्यक्त और व्यक्त चेतन अनुभूति की अलग-अलग अवस्थायें हैं। अनुभूति के विभिन्न स्तरों एवं चेतना की विभिन्न अवस्थाओं को समझाने का भी प्रयास किया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि अध्यात्मवाद को परम्परागत, दार्शनिक और शास्त्रीय विधि से नहीं समझाकर यह दर्शन इन्हे व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक रूप में समझाने का प्रयत्न करता है ताकि यह पता चले कि व्यक्तिगत चेतना के स्तर पर, जीवन के दैनिक कार्यों एवं पारिवारिक तथा सामाजिक क्षेत्र में, व्यक्ति किस प्रकार आध्यात्मिक जीवन और आध्यात्मिक अवस्थाओं को समझ सकता है।

इस दर्शन का प्रचार विशेषकर सातवीं, आठवीं और नौवीं शताब्दी में रहा था, जब बौद्ध विचारधारा भी प्रबल रूप से समाज की मानसिकता को प्रभावित कर रही थी। इसीलिये काश्मीर शैव सिद्धान्त में बौद्ध विचारों की चर्चा तथा समावेश हुआ है और बहुत से विचारों का खण्डन भी हुआ है।

उत्पलाचार्य अद्वैत दर्शन के प्रणेता थे। उन्होंने अपने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञ कारिका' नामक ग्रन्थ में मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि सर्वोच्च तत्त्व का ज्ञान केवल आभास मात्र है। काश्मीर शैव मत के अनेक चिन्तकों ने इसी आभासवाद की व्याख्या करते हुए भक्तिमार्ग को समझाया है। भक्तिमार्ग में नवधा भक्ति पर विशेष बल दिया है और उसमें भी अन्तिम तीन अवस्थाओं– दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन – को प्रमुखता दी है। भक्ति के अतिरिक्त कृपा या अनुग्रह पर भी बल दिया है।

आठ शैव दर्शनों की चर्चा में अनुग्रह की चर्चा विशेष रूप से पायी जा रही है। अनुग्रह या ईश्वर कृपा तन्त्र शास्त्र का मूल मन्त्र है। व्यक्ति अनेक प्रकार से प्रयास कर सकता है; भक्ति, योग, ध्यान या आत्मचिन्तन का मार्ग अपना सकता है, लेकिन अनुग्रह को इन सबसे प्रमुख और विशेष माना गया है। साधक कितना ही पुरुषार्थ क्यों न करें, अनुग्रह के बिना उच्च अवस्था या मोक्ष की अवस्था को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। भक्ति और अनुग्रह के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए आभासवाद के पाँच अंगों या पहलुओं को समझाया है : **(१) पूर्वावस्था, (२) तर्क, (३) उदाहरण, (४) प्रयोग** और **(५) निष्कर्ष**। इन्हीं अवस्थाओं से गुजरने के पश्चात् शिव-तत्त्व को समझा जा सकता है।

'व्यापक' चेतना की चर्चा भी विशेष रूप से होती है। व्यापक चेतना का तात्पर्य ब्रह्माण्डीय चेतना या शिव-चेतना से है जिसके दो प्रकार होते हैं : **(१) परा या उच्च (विश्वोत्तीर्ण)** और २. **व्यक्त (विश्वमाया)**। विश्वोत्तीर्ण चेतना को अध्यात्मवाद के संदर्भ में तथा विश्वमाया चेतना को मनोवैज्ञानिक स्तर पर समझाया गया है। विश्वमाया जीवन का मनोविज्ञान है। यह वह मनोवैज्ञानिक स्थिति या अवस्था है, जिसमें साधक चेतना के और चेतना द्वारा आभास के अनेक स्तरों को अनुभव कर सकते हैं। चेतना की प्रत्येक स्थिति में अनुभव के आधार पर कर्म होते हैं, चाहे वे शरीर के लिये हों या मन के लिये या परिवार के लिये या समाज के लिये।

विश्वोत्तीर्ण चेतना को आध्यात्मिकता से जोड़कर समझाया गया है कि यह प्रकृति के परे, माया के परे, शक्ति के परे की अवस्था है, जिसमें किसी प्रकार का कलंक नहीं। लेकिन इस परा चेतना को समझने के लिये भी आभासवाद के पाँच प्रकारों को सूक्ष्म रूप से समझना आवश्यक है। विश्वोत्तीर्ण या परास्थिति चेतन नहीं, चेतना, है; और विश्वमाया चेतना नहीं, चेतन है।

विश्वोत्तीर्ण या परा चेतना अपनी स्वतन्त्र अवस्था को, अपनी अव्यक्त और सर्वशक्तिमान अवस्था को, एवं अपनी सर्वज्ञता की अवस्था को **ज्ञानशक्ति, स्मृति** और **अपोहन** के रूप में व्यक्त करती है। ज्ञानशक्ति है ज्ञान का पक्ष, स्मृति है अभिज्ञान का क्षेत्र और अपोहन है विभेदीकरण। अभिज्ञान क्षेत्र में पदार्थों को एक रूप में नहीं, उनके विभिन्न रूपों में देखते हैं। यह है अपोहन या विभेदीकरण की स्थिति। यह परा चेतना

अपने आपको अन्तर्निहित ज्ञान या ज्ञानशक्ति के रूप में, स्मृति क्षेत्र या अभिज्ञान-क्षेत्र के रूप में और अपोहन या विभेदीकरण के रूप में प्रकट करती है ।

जब साधक ज्ञानशक्ति, स्मृति और अपोहन का जीवन में अनुभव करता है, तब इस अनुभव से आभास की अवस्थाओं का योग और वियोग होता है, कहीं सम्पर्क जुड़ता है और कहीं टूटता है । उदाहरण के लिये, जब हम आसमान में बादलों को देखते हैं, तो आभास अवस्था का योग होता है । बादल देखकर आभास होता है कि इन बादलों से वर्षा होगी या वर्षा नहीं होगी । सभी प्रकार के बादल तो बादल ही हैं, लेकिन एक प्रकार के बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान, दूसरे प्रकार के बादलों को देखकर वर्षा न होने का अनुमान, तीसरे प्रकार के बादलों को देखकर तूफान आने का या ओला गिरने का अनुमान होता है । यह ज्ञान शक्ति, स्मृति और अपोहन का योग है । इनके योग से प्रत्यक्ष अनुभव या प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है और वियोग होने पर भ्रान्ति या गलत ज्ञान उत्पन्न होता है । आभास अवस्थाओं में योग तथा वियोग से पदार्थ (ऑबजेक्ट) और विषय (सबजेक्ट) का ज्ञान होता है, जो कर्म के लिये, कर्म की उत्पति के लिये आवश्यक हैं ।

इस विचारधारा में शैव दर्शन को व्यावहारिक, सैद्धान्तिक, स्वैच्छिक और मनोवैज्ञानिक विधियों से समझाया गया है । इनका कहना है कि शरीर और मन में अन्तर है । शरीर को मन नहीं मान सकते और मन को शरीर नहीं मान सकते । जिस प्रकार शरीर और मन में अन्तर है, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म में भी अन्तर है । यदि ज्ञान और कर्म में अन्तर का अनुभव हो, तो सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमान की स्थिति में भी अन्तर है । कुछ मतों एवं दर्शनों में सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमान की अवस्थाओं को प्रमुख विभक्तियाँ, प्रमुख गुण, प्रमुख श्रेणियाँ या प्रकार माना गया है । इन्हें ईश्वर का मूल गुण माना गया है । लेकिन काश्मीर शैव मत के अनुयायी ऐसा नहीं मानते हैं । कहते हैं कि ईश्वर का प्रमुख गुण सर्वशक्तिमानता है । सर्वशक्तिमान कहने से यह अर्थ भी निकलता है कि उसमें सर्वज्ञता को प्राप्त करने की भी क्षमता है । इसलिये सर्वज्ञता सर्वशक्तिमान होने का परिणाम है ।

मनुष्य ज्ञान की अपेक्षा कर्म को अधिक स्पष्टता से देख सकता है । ज्ञान को स्पष्ट रूप से नहीं देख सकता, किन्तु कर्म को स्पष्ट रूप से देख सकता है । कर्म की धारणा केवल बाह्य वस्तु या बाह्य पदार्थ पर ही आधारित नहीं है । कर्म तभी सफल होता है जब उस पर विषयगत पकड़ हो । विषयगत पकड़ का तात्पर्य व्यक्तिगत समझदारी और व्यक्तिगत चिन्तन से है । वास्तव में कर्म तभी सफल होता है जब ज्ञान के क्षेत्र में व्यक्ति कर्म की प्रक्रिया को सही प्रकार से समझे, चिन्तन करे, विश्लेषण करे और उसके बाद कर्म करे । अतः ज्ञान के क्षेत्र में समझना सामान्यतः अचेतन प्रक्रिया है, चिन्तन की क्रिया

नहीं । चिन्तन की क्रिया तब होती है जब उसके प्रति, उस अनुभव या अवस्था के प्रति व्यक्ति सजग बने ।

कर्म की पकड़ के बारे में कहते हैं कि यदि व्यक्ति ज्ञान के क्षेत्र में चिन्तन कर नियोजन करे तब पूरी पद्धति स्पष्ट रूप से दिखलाई देगी । अधिकांश रूप में होता है कि मनुष्य किसी परिस्थिति को देखकर अन्तश्चेतना में ही प्रतिक्रिया को अनुभव करता है और बाह्य रूप से प्रतिक्रिया करता है । व्यक्ति बैठकर यह कभी नहीं सोचता कि मुझे इस प्रकार का कर्म करना है, अतः इसके लिये मुझे इस प्रकार का क्रम अपनाना है या उस प्रकार के क्रम का अनुकरण करना है । यहाँ चिन्तन, चिन्तन के बाद प्रक्रिया और प्रक्रिया के बाद कर्म पर जोर दिया गया है । इन्हें अलग-अलग रूप में अनुभव करना है । कर्म प्रारम्भ करने के पूर्व भीतर में एक स्पन्दन उत्पन्न होता है । वह स्पन्दन इच्छा है । अन्तर्स्पन्दन ने एक कर्म के लिये प्रेरित किया है । यदि अन्तर्स्पन्दन के प्रति सजग बन जायें तो इसमें चेतना का अंश दिखलाई देता है, लेकिन यदि इसके प्रति सजग न रहें तो इसमें नैसर्गिक प्रवृत्ति का अंश दिखलाई देता है ।

काश्मीर शैव मत का अन्तिम बिन्दु है 'प्रत्यभिज्ञ' । प्रत्यभिज्ञ का तात्पर्य होता है प्रमाण । इस प्रकार ईश्वर प्रत्यभिज्ञ का अर्थ होता है 'ईश्वर प्रमाण' । ईश्वर प्रमाण को व्यावहारिक तर्क से तथा कर्म, ज्ञान और चेतना के अलग-अलग रूपों को समझकर जानने का प्रयत्न किया है । उद्देश्य यह है कि अन्त में अपने मूल और वास्तविक स्वरूप को आभास के द्वारा पहचाना जाय, ज्ञान के द्वारा नहीं ।

★ ★ ★

शाक्त तन्त्र

सामान्यतः समस्त तन्त्र दर्शनों का उद्देश्य एक ही रहता है । चाहे शैव तन्त्र हो या शाक्त तन्त्र; गाणपत्य तन्त्र हो या सौर तन्त्र, प्रत्येक का लक्ष्य है कि मनुष्य अपने जीवन को समझकर अपने जीवन से मल और विकारों को हटाकर अपने वास्तविक मूल स्वरूप का अनुभव करे । लेकिन विभिन्न मतों एवं दर्शनों में इस उपलब्धि के लिये जो साधनात्मक पद्धतियाँ और क्रम बताये जाते हैं, उनमें अन्तर दिखलाई देता है । उदाहरण के लिये शैव मत में पशु, पाश और पति तीन प्रधान कारण बतलाये गये हैं । **पशु** का प्रयास रहता है कि **पाश** के बन्धन से मुक्त होकर **पति** को प्राप्त करें । पति है शिव । शैव तन्त्र में मूल रूप से शिव तत्त्व प्रधान है । शैव तन्त्रों में जो भी विधि, दिनचर्या या योग का तरीका अपनाया जाता है उनका उद्देश्य रहता है कि साधक भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से गुजरते हुए सनातन अवस्था को प्राप्त करे । इस क्रम में बीच की स्थितियों के प्रति सजग रहना होता है, कहीं रुकना नहीं होता । शैव दर्शन में शक्ति की चर्चा केवल प्रसंगवश होती है । लक्ष्य होता है शक्ति जागृत कर विद्येश्वर रूप की प्राप्ति और अंततः शिव स्वरूप की प्राप्ति ।

शाक्त मत में शिव-तत्त्व को ही प्राप्त करने के लिये शक्ति को प्रधान माना गया है । शक्ति के जागरण तथा शक्ति के अनुग्रह से ही साधक शिव-अनुग्रह को प्राप्त करने में सक्षम हो सकता है । जब तक साधक शक्ति को समझ नहीं लेता, जब तक शक्ति का जागरण नहीं होता, जब तक शक्ति की अनुकम्पा साधक पर नहीं होती तब तक साधक पाश या बन्धन में पड़ा रहेगा, आगे नहीं बढ़ सकेगा । इसीलिये शाक्त-तत्त्व को प्रधानता दी गई है ।

शाक्त मत के अनुसार शिव-तत्त्व परिणामावस्था है । परिणाम का अनुभव प्राप्त करने के लिये शक्ति को जागृत किया जाता है । विभिन्न शैव सिद्धान्तों की चर्चा के प्रसंग में देखा गया है कि उनमें शक्ति के विभिन्न स्वरूपों को स्पष्ट रूप से नहीं समझाया है । पति की विभिन्न अवस्थाओं एवं रूपों को समझाया गया है तथा शक्ति को मात्र उसकी शक्ति या उसकी माया के रूप में समझाया गया है, जो शिव की इच्छानुसार कार्य करती है । शैव दर्शनों में पशु प्रधान है जो क्लेश सहता है, जो कर्म और भोग करता है ।

मातृ-स्वरूप

शाक्त मत के प्रतिपादकों और चिन्तकों के विचारानुसार शक्ति तत्त्व को प्राप्त करना सुगम है, क्योंकि शक्ति मातृस्वरूपा है। यदि शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व को पिता और माता के रूप में देखें, तो कोमलता, स्नेह, वात्सल्य, करुणा और प्रेम का भाव किसमें ज्यादा दिखलाई देता है ? पिता में या माता में ? निश्चित रूप से माता में। मनुष्य के जीवन में पिता की धारणा एक शिक्षक या अभिभावक के रूप में होती है, जो अपनी संतान का मार्गदर्शन करते हैं तथा उनको अनुशासित करते हैं और दण्ड भी देते हैं। पिता से माता समान वात्सल्य, करुणा, प्रेम और स्नेह की अपेक्षा नहीं हो सकती है। पितृस्वरूप बुद्धिप्रधान है और मातृस्वरूप भावना प्रधान।

शाक्तमत के विचारकों ने चिन्तन-मनन कर इस मातृस्वरूप को विकसित किया है। मातृस्वरूप के प्रेम, वात्सल्य और स्नेह को प्राप्त करने के लिये श्रद्धा, भक्ति और स्वयं को समर्पित कर देने की आवश्यकता है। पिता अपने संतान की अवहेलना कर सकता है, त्याग सकता है, लेकिन माता ऐसा कदापि नहीं कर सकती।

औपनिषदिक और तांत्रिक परिभाषायें

उपनिषदों में शक्ति को माया के रूप में समझाया गया है। कहा गया है शक्ति स्वयं माया का निर्माण करती है और मायारूप में, माया क्षेत्र में भ्रमण करती रहती है। जब वह शक्ति माया क्षेत्र में भ्रमण करती है, तब व्यक्तावस्था या प्रकृति के रूप में दिखलाई पड़ती है। जब शक्ति अपनी माया को समेटती है तो स्वरूप बदल जाता है। शक्ति का खेल है– माया या व्यक्तावस्था और सौम्य एवं शान्त अवस्था है शक्ति का मूल स्वरूप। श्वेताश्वर उपनिषद के अनुसार शक्ति में तीन गुण– **बल, क्रिया** और **ज्ञान** – स्वाभाविक रूप से अन्तर्निहित होते हैं। यहाँ 'इच्छा' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है; इच्छा के बदले 'बल' का प्रयोग किया गया है। इच्छा या चाह के पक्ष को उपनिषदों ने शिव या ब्रह्म के साथ जोड़ दिया है। उसकी इच्छा से प्रकृति या माया का रूप लेकर शक्ति संसार की सृष्टि करती है। यह विचार स्पष्ट है कि यहाँ शक्ति का स्वरूप क्रिया का हो जाता है। क्रिया को शक्ति से भिन्न नहीं मान सकते। शक्ति का दूसरा रूप 'ज्ञान का' है जिसका सम्बन्ध क्रिया के साथ रहता है। बिना ज्ञान के क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती है। ज्ञान रहता है, चाहे चेतन में हो या अचेतन में, स्थूल में हो या सूक्ष्म में। ज्ञान के कारण क्रिया की उत्पत्ति होती है। शक्ति का तीसरा गुण है, बल। बल का तात्पर्य सामर्थ्य या – ''बल'' क्षमता से है; बल का सम्बन्ध शरीर की मांसपेशियों की शक्ति से नहीं है; मन की संकल्पशक्ति, इच्छाशक्ति और मनोबल से नहीं है। बल है आन्तरिक क्षमता या आत्मबल। श्वेताश्वर उपनिषद् में 'स्वाभाविकी ज्ञान बलः क्रिया' – वाक्य से शक्ति को समझाया गया है।

शाक्त तन्त्र में शक्ति के स्वरूप का वर्णन है, "त्वं शक्तिरेव जगतां अखिल प्रभवा" अर्थात् तुम ही हो इस जगत की शक्ति, जो अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि और संहार करने में सक्षम है । "त्वं निमित्तं च सकलं खलु भाव मात्रम्" अर्थात् तुम ही हो निमित्त । शक्ति निमित्त है, प्रधान है । "त्वं क्रीडसि निज विनिर्मित मोह जाले ।" तुम स्वयं के द्वारा निर्मित मोह जाल में क्रीड़ा करती हो, अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप धारण करती हो । जिस मोह-जाल या माया-जाल का अनुभव मनुष्य करता है वह तुम्हारे द्वारा ही निर्मित है, तुम्हीं उसका अनुभव करती हो । "नाट्ये यथा विहरते स्वकृते नटो वै ।" जिस प्रकार से एक नट अपना तमाशा दिखलाता है, ठीक उसी प्रकार से तुम भी अपना खेल दिखलाती हो और दूसरों को भी नचाती हो । इन मंत्रों में शक्ति की अवधारणा बतलाई गई है । इतना स्पष्ट है कि इन मन्त्रों में शक्ति के सभी स्वरूपों और कार्यो का वर्णन आ गया है ।

दस महाविद्या

शाक्त तन्त्र में शक्ति के दस मूल रूप तथा दस मूल साधना पद्धतियाँ हैं जो दस महाविद्या के नाम से जाने जाते हैं : **१. काली, २. तारा, ३. षोड़शी, ४. भुवनेश्वरी, ५. भैरवी ६. छिन्नमस्ता, ७. धूमावती ८. वगला या बगला ९. मातंगी** और **१०. कमला** । इन्हें दस महाविद्या के रूप में सम्बोधित किया गया है । विद्या शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है जानना, समझना । महाविद्या का अर्थ होगा– श्रेष्ठज्ञान या उच्चतर ज्ञान । विद्या के दो रूप हैं – **अपरा विद्या** और **परा विद्या** । अपरा विद्या को मन, बुद्धि, चित और अहंकार के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, लेकिन परा विद्या को ग्रहण करने के लिये मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रिय और प्राण काम में नहीं आते । परा विद्या आत्मानुभूति की एक अवस्था है; प्राप्ति की, उपलब्धि की एक अवस्था है । परा विद्या को ही यहाँ महाविद्या के रूप में समझाया गया है ।

सांख्य दर्शन में मन्त्र है "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां ।" अजा है प्रकृति और अज है पुरुष । एक प्रकृति ने स्वयं को रक्त, श्वेत और कृष्ण रूपों में अभिव्यक्त किया हैं । इसी विचार को उपरोक्त दस महाविद्या में समझाया गया है । प्रथम तीन विद्याओं में काली है कृष्ण, तारा है श्वेत और श्रीविद्या या श्रीदेवी है लोहित । कृष्ण का अर्थ है काला, श्वेत का सफेद या उजला, लोहित है रक्त के समान लाल रंग । दस महाविद्या को समझने के लिये, दस प्रकार की परा विद्याओं को ग्रहण करने के लिये सर्वप्रथम शक्ति के त्रिगुणात्मक रहस्य को प्रथम तीन विद्याओं में बतलाया गया है । ये विद्यायें साधनात्मक हैं, दार्शनिक नहीं ।

विद्याओं का वर्गीकरण

इन विद्याओं को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है । वे हैं : **१. कौल या शाक्त, २. मिश्र** और **३. समय** ।

कौल शब्द कुल् धातु से बना है । इसका अर्थ होता है 'शक्ति' । कुल शब्द का निर्माण शक्ति की विचारधारा पर किया गया है । इस संदर्भ में कुल का तात्पर्य परम्परा या वंश से नहीं है । कुल-पद्धति का पालन करने वाले या कुल-साधना करने वाले कौल कहे जाते हैं। उन्हें शाक्त भी कहा जाता है । कौल वर्ग के अनुयायी आचार्य अल्लक अथवा भालरत्न को कौल मत का प्रणेता मानते हैं । कहना कठिन है, इन दोनों में पूर्वापर कौन थे । यह भी कोई नहीं जानता कि दोनों नाम दो व्यक्तियों के हैं या एक के । अलग-अलग कौल सम्प्रदायों में अलग-अलग मान्यता है । कौल दर्शन का विकास संभवतः पाशुपत दर्शन के समय ही हुआ । अल्लक पाशुपत दर्शन के आचार्य विश्वरूप के शिष्य थे । इसलिये कुछ चिन्तकों का विचार है कि अल्लक ने पाशुपत दर्शन को समाज द्वारा मान्यता दिलाने और मातृशक्ति के रूप को आगे लाने के लिये कौल मत का प्रचार किया । यही कारण है कि कौल मत और पाशुपत सिद्धान्तों में समानता दिखलाई देती है ।

कौल मत से सम्बन्धित लगभग ५४ तन्त्र ग्रन्थ और संहितायें हैं, जिनमें 'कौल निर्णय', 'कौल तन्त्र', 'कुलार्णव तन्त्र' आदि प्रमुख हैं। कौल साहित्य में आर्णव, यामल, निर्णय तथा अन्य अनेक प्रकार की संहितायें और ग्रन्थ आते हैं । कुछ लोगों के अनुसार ये कौल ग्रन्थ ६४ हैं । अन्य लोगों के अनुसार इनकी संख्या १०० से अधिक है ।

मिश्र मत का शाक्त दर्शन में विशेष महत्व है । इस मत में काली, तारा और त्रिपुर सुन्दरी की साधना होती है । शाक्त विद्याओं को मिश्र मत के अन्तर्गत तीन भागों में विभाजित किया गया है, जिन्हें कादि, हादि तथा सादि कहा जाता है । इनके मन्त्र क्रमशः क ए इ ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ह ल ह्रीं हैं । जो बीज मन्त्रों से बने हैं । कादि मन्त्र प्रथम भाग है जिसका प्रारम्भ 'क' से होता है । कादि का अर्थ है 'क' जिसके आदि में हो । हादि का अर्थ है जिसके आदि में 'ह' हो तथा सादि वह है जिसके आदि में 'स' हो । इन्हीं तीन मन्त्रों से तीन महाविद्याओं का विकास हुआ है ।

कादि विद्या का सम्बन्ध काली से है । काली विद्या दस महाविद्याओं में सबसे पहली विद्या है । हादि विद्या का सम्बन्ध त्रिपुर सुन्दरी या श्रीदेवी से है और सादि विद्या का सम्बन्ध तारा से है । कादि विद्या का बंगाल में, हादि विद्या का काश्मीर में और सादि विद्या का तिब्बत और केरल में अधिक प्रचार हुआ ।

इन तीन मन्त्रों को उत्तराम्नाय मन्त्र कहा जाता है । उत्तर भारत के बंगाल, मिथिला, काश्मीर और तिब्बत के क्षेत्रों में इनका प्रचार था । इन तीन महाविद्याओं की पूजा पद्धति में विशेष अन्तर नहीं है । पूजा पद्धति लगभग समान है, अन्तर केवल देवी, देवी के मन्त्र, देवी के यन्त्र और देवी के ध्यान में रहता है ।

'समय मत' शाक्त दर्शन का तीसरा वर्ग है । यह ब्रह्मवादी आचार से युक्त माना जाता है । समय मत की पाँच प्रमुख संहितायें हैं : वशिष्ठ संहिता, शुक संहिता, सनत संहिता, सनन्दन संहिता और सनतकुमार संहिता । इनका प्रमुख ग्रन्थ है 'शुभागम पंचक' । समयमार्गी आद्यशक्ति भगवती की आराधना करते हैं । यह मत वैदिक आचारों से परिपूर्ण है । इस मत के आधार हैं : भक्ति और उपासना, यम और नियम का पालन; ध्यान, जप और तप का अभ्यास । इस मत का दर्शन शिव और शक्ति पर नहीं बल्कि ब्रह्म और माया पर आधारित है । इसमें ब्रह्म को सनातन सत्ता के रूप में तथा माया को भगवती या आद्यशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । ब्रह्म तत्त्व को भगवती आराधना के माध्यम से प्राप्त करने की विधि बतलाई गई है । इसके अन्तर्गत सात्विक साधना आती है । ऐसा प्रतीत होता है कि शाक्त मत और वैदिक परम्परा को जोड़ने के निमित्त समय मत प्रतिपादित किया गया था । यह माना जा सकता है कि जिस काल में इसका विकास हुआ उस समय सम्भवतः तन्त्र के अन्य दर्शन – शैव, सौर, गाणपत्य आदि पतनोन्मुख थे । अतः शाक्त मत को वेदोक्त करने के लिये समय मत प्रतिपादित किया गया ।

दस महाविद्याओं की पृष्ठभूमि

दस महाविद्याओं का आध्यात्मिक विज्ञान गहरा और विचित्र है । शैव तन्त्रों में भगवान शिव गुरु हैं और माता पार्वती शिष्या हैं । शाक्त तन्त्र में शिव शिष्य और शक्ति गुरु हैं । यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध भी विचित्र है । शिव-रूप है शान्त और सौम्य तथा शक्ति-रूप उग्र है । शक्ति के ये रूप कभी-कभी इतने उग्र हो जाते हैं कि स्वयं शिव को भय होता है ।

दस महाविद्याओं के सम्बन्ध की अनेक कथाओं में एक कथा सर्वाधिक स्वीकार्य है । एक बार भगवान शंकर माता पार्वती से रुष्ट हो गये और वहाँ से जाने लगे । वे जिस मार्ग पर, जिस दिशा में जा रहे थे उसी मार्ग पर माता पार्वती रूप बदलकर खड़ी हो गईं और शिवजी को आगे बढ़ने से रोक दिया । तब शिवजी मार्ग बदलकर दूसरी दिशा में चले । माता पार्वती वहाँ भी दूसरा रूप धारण कर खड़ी हो गईं । इस प्रकार भगवान शंकर दसों दिशाओं में जाते हैं और दसों दिशाओं में माता पार्वती भिन्न-भिन्न रूपों में मार्ग रोके खड़ी हैं । अन्त में शिवजी हताश हो जाते हैं । इस प्रकार उत्पन्न होती हैं दस मातृ-रूप तथा विद्याएँ । ये दस विद्याएँ दस इन्द्रियों और दस प्रकार की आन्तरिक ग्रहण-शीलता से सम्बन्धित हैं ।

प्रत्येक विद्या अपने आप में पूर्ण है, किन्तु तन्त्र मत के अनुसार प्रत्येक विद्या का अलग-अलग अभ्यास करना और अभ्यास द्वारा पूर्णता प्राप्त करना आवश्यक है । प्रत्येक विद्या ब्रह्मविद्या के एक आयाम को दर्शाती है । ब्रह्मविद्या को समझने के लिये स्वयं को एक क्षेत्र में परिपूर्ण बनाना पड़ता है ।

दस गुण

दस महाविद्याओं के दस अलग-अलग गुण भी हैं जो प्रतीकात्मक हैं । उनमें से प्रत्येक के गुण इस प्रकार हैं : १. काली–प्रचण्ड शक्ति, २. तारा–शब्द शक्ति, ३. त्रिपुर सुन्दरी–सौन्दर्य और आनन्दानुभूति, ४. भुवनेश्वरी–द्रंष्टाशक्ति, ५. छिन्नमस्ता–संहार या मारण शक्ति, ६. धूमावती–मूढ़शक्ति या मूढ़ावस्था, ७. वगलामुखी–स्तंभन शक्ति, ८. कमला–संयम शक्ति, ९. मातंगी–क्रीड़ा शक्ति और १०. भैरवी–पुण्यशक्ति।

उच्च चेतना की अभिव्यक्तियाँ

ये सभी शक्तियाँ उच्च चेतना की अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ और गुण हैं, जिनके द्वारा सृष्टि-कार्य सम्भव होता है । इनके समस्त आयामों को समझना आवश्यक है । किसी व्यक्ति को पहचानने के लिये उसके आचरण और व्यवहार को देखना और समझना आवश्यक होता है । किसी एक लक्षण को देखकर व्यक्ति को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता । किसी व्यक्ति के व्यवहार और विचार देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि वह उत्तेजित प्रकृति का है; क्रोधी है, विलासी या सत्विक है; बहिर्मुखी या अन्तर्मुखी है; वाचाल या मितभाषी है, एकान्तप्रिय है आदि । व्यक्तित्व की विभिन्न अभिव्यक्तियों को देखकर किसी व्यक्ति को समझा जा सकता है । ये शक्तियाँ भी उच्च चेतना की अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ हैं, इसीलिये कहा गया है कि एक को समझकर ही दूसरे में प्रवेश करना है । दर्शनों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीवन में जैसे-जैसे साधक चेतना की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाता है, वैसे-वैसे चेतना और आन्तरिक अभिव्यक्तियों के साथ एक सम्बन्ध स्थापित होता है ।

तीन श्रेणी के देवी-देवता

तन्त्र शास्त्र में देवी-देवताओं की तीन श्रेणियाँ होती हैं : **१. निम्न, २. मध्यम** और **३. उच्च** ।

निम्न कोटि के देवी-देवता मार्ग में अवरोध खड़ा करते हैं । उनका लक्ष्य है प्रकृति को कायम रखना, सृष्टि को बनाये रखना । अतः जो साधक प्रकृति या सृष्टि के क्षेत्र से ऊपर उठना चाहता है, उसे वे रोकते हैं । उनका यह कार्य मार्ग के गति-अवरोधकों जैसा ही है । ये भूत-पिशाच और योगिनी निम्न कोटि की आत्मायें या देवी-देवता हैं । इनको सिद्ध करने या इनके सहयोग से साधक की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती ।

मध्यम कोटि के देवी-देवता साधक को नीचे भी गिरा सकते हैं और ऊपर भी ले जा सकते हैं– इनमें दोनों क्षमतायें हैं । ये साधक के मनोभाव को पकड़ते हैं । यदि इनसे सहायता लेनी है या इनका उपयोग करना है, तो सर्वप्रथम इनको जानना आवश्यक होता है । इस वर्ग के देवी-देवता साधक से कहते हैं, वर माँगो ! वे व्यक्ति की आकांक्षा को पकड़ते हैं । यदि साधक की आकांक्षा शुद्ध है, पवित्र है, तो उसे ऊपर की ओर ले जाते हैं । यदि साधक की आकांक्षा अपवित्र है, अशुद्ध है, तो उसे अधोगति देते हैं ।

उच्च कोटि के देवी-देवताओं में देवी के दस रूप आते हैं। निम्न कोटि, मध्यम कोटि और उच्च कोटि के देवी-देवताओं से सम्बद्ध साधनाओं को क्रमशः निम्न साधना, अपरा साधना और परा साधना कहा जाता है। देवी के ये दस रूप परा साधना से सम्बन्धित हैं। यदि किसी देवी से एक साधक का सम्बन्ध बैठता है, तो यह सम्बन्ध इतना गहरा हो जाता है कि वह हर क्षण अपने आपको उस देवी के संरक्षण में देखता है। साधक की समस्त शारीरिक, मानसिक और भौतिक इच्छायें समाप्त हो जाती हैं। रामकृष्ण परमहंस एक तान्त्रिक उपासक थे। काली के साथ उनका गहरा सम्बन्ध था। माँ से उनका वार्तालाप होता था; माँ की याद कर वे भाव विभोर हो जाते थे। माँ से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। उनकी भौतिक इच्छायें समाप्त हो गई थीं। जब साधक और देवी या देवता के बीच उच्चतर सम्बन्ध स्थापित होता है, तो शरीर या सिद्धि का कोई महत्व नहीं रहता। भौतिक जीवन का भी कोई महत्व नहीं रहता। भारत में ऐसे अनेक सन्त-महात्मा हुए हैं। वामा खेपा बंगाल के एक प्रसिद्ध अघोरी तान्त्रिक थे। रामप्रसाद ने भी अपने जीवन में शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया था। तन्त्र का लक्ष्य है उच्च कोटि के देवी-देवताओं से सम्बन्ध स्थापित करना, उच्च अवस्थायें प्राप्त करना। तन्त्र शास्त्र कभी भी निम्न या मध्यम कोटि के देवी-देवताओं से सम्बन्ध जोड़ने की अनुमति नहीं देता, वरन् इसका विरोध करता है।

१. महाविद्या : काली

दस महाविद्याओं में प्रथम महाविद्या काली है। काली का वर्णन ऋग्वेद में भी आया है। ऋग्वेद में काली को रात्रि देवी के रूप में देखा गया है, जो अन्धकार को लाती है, सभी प्रकार के रूपों को विलीन करती है तथा भय उत्पन्न करती है। अन्धकार में मांगलिक कार्य और पाशविक कार्य, दोनों होते हैं। रात्रि देवी को उषा देवी की बहन के रूप में बतलाया गया है। रात्रि के बाद ही तो उषा आती है। अतः वेदों में इन्हें बहन के रूप में देखा गया है, जो हमेशा एक दूसरे के साथ रहती हैं, एक-दूसरे का अनुसरण करती हैं। जब काली की कल्पना की गई तो रात्रि देवी का सिद्धान्त, अवधारणा, विचार या दर्शन काली में सम्मिलित किया गया।

काल, कालशक्ति : परम तत्त्व की परिणति अव्यक्त से व्यक्त में कैसे होती है ? इसका अनुमान कैसे होता है ? परम तत्त्व की परिणति को किसी घटना क्रम से, जिसमें गति और क्रिया हो, समझ सकते हैं। यदि माना जाय कि अदृश्य से दृश्य होने के लिये पहले शक्ति ने स्वयं को किसी तत्त्व-रूप में रूपान्तरित किया, तो इस परिवर्तन को एक घटना कहेंगे। इस रूपान्तरण या परिवर्तन को देखकर अनुमान लगा सकते हैं कि किस प्रकार से यह घटना-क्रम हुआ होगा या किस प्रकार की क्रिया हुई होगी। इस घटना-क्रम या क्रिया का अनुमान काल की परिधि या काल के क्षेत्र में होता है। यदि काल या समय को किसी घटना या क्रिया से हटा दें तो उसका महत्व नहीं रहेगा। कोई घटना घटी,

इसका तात्पर्य है कि पूर्व में यह घटना घटी है। तब से केवल काल-बिन्दु बदल गया है। इस काल के सिद्धान्त या अवधारणा के द्वारा ही एक विषयगत सजगता या सिद्धान्त को वस्तुगत अनुभव के रूप में बदलते देख सकते हैं। इस काल की शक्ति है काली।

शिव को काल के रूप में माना जाता है। शिव का एक नाम है महाकाल। काल के तीन चरणों 'त्रेधा निदधे पदम्' का अनुभव सृष्टि में होता है, चाहे वह सजीव सृष्टि हो या निर्जीव। काल के तीन चरण हैं– भूत, वर्तमान और भविष्य। इन्हें काल-चक्र भी कहते हैं, जो सनातन चलता रहता है। सृष्टि में, प्रजा में, काल चक्र का अनुभव एक क्रम से हो रहे परिवर्तनों के माध्यम से होता है। इन परिवर्तनों का आभास सदा होते रहता है। उदाहरणार्थ– जन्म के समय शरीर का एक रूप होता है, यौवन के समय दूसरा और वृद्धावस्था में एक अन्य रूप। यह एक सृष्टि क्रम है। किसी को भी वृद्ध शरीर में जन्म लेते नहीं देखा गया है, किसी वृद्ध को युवा बनते नहीं देखा गया है। यदि ऐसा होता तो काल-क्रम नहीं रहता, क्रमिक अनुशासन और विकास नहीं रहता। भविष्य वर्तमान बनता है और वर्तमान भूतकाल बनता है। एक जीवन की सृष्टि में सृष्टि की प्रजा में, चाहे वह वनस्पति हो, पशु-पक्षी हो या मनुष्य एक सीमा रहती है, एक आयु रहती है। इस आयु के क्रम में काल शक्ति का अनुभव होता है जिसे काली कहते हैं।

जीवन में प्रधान शक्ति कालशक्ति ही है। इसके सहयोग से विकास होता है, प्रगति और परिणति होती है। भूत, वर्तमान और भविष्य के आधार पर चेतन-विकास के अनुसार कालशक्ति निर्णय लेती है कि इस शरीर में, इस रूप में इतना अनुभव, ज्ञान पर्याप्त है। इससे अधिक अनुभव, ज्ञान प्राप्त करने के लिये अब दूसरे शरीर की, दूसरे रूप की आवश्यकता है। जहाँ सीमित जीवन की चर्चा होती है, वहाँ शाश्वत या सनातन जीवन सम्भव नहीं हो सकता। यदि कोई चाहे कि जो पेड़ आज लगा है वह सृष्टि के अन्त तक बना रहे, तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि आयु तथा काल पर किसी का नियन्त्रण नहीं रहता।

मृत्यु को भी काल नाम से संबोधित किया जाता है। मृत्यु के देवता हैं यम। यम का अर्थ होता है नियन्त्रण या निरोध। मृत्यु के देवता यम जीवन के काल-चक्र को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। दूसरे शब्दों में, काल-चक्र में सृष्टि की सीमा तथा विस्तार को यम नियन्त्रित करते हैं। अतः यम के भयानक रूप की कल्पना निराधार है। यम वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक अवधारणा है, जो काल की अवधारणा को नियन्त्रित कर सृष्टि को संचालित करता है। काली काल की इसी अवधारणा या पक्ष की शक्ति है– निरोधक शक्ति या नियन्त्रक शक्ति।

कालचक्र सनातन है। उसे कोई नियन्त्रित नहीं करता। यम सृष्टि, मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति, पदार्थ तथा भौतिक जीवन के अन्य समस्त क्षेत्रों के परिवर्तन क्रम को, व्यक्त या दृश्य अवस्था को नियन्त्रित करते हैं। अव्यक्त सनातन है, सतत् गतिशील है, संहार के समय उसका रूप दूसरा हो जाता है। इसी सनातन, अव्यक्त और अनुभवातीत

काल सिद्धान्त को समझने हेतु तन्त्र में काली-आराधना या काली-उपासना की पद्धति है। कालशक्ति का अनुभव करना विद्याओं की प्रथम साधना, क्रिया और अनुशासन है।

काली के विभिन्न रूप और नाम

काली के अनेक रूप और नाम हैं। उनमें **१. स्पर्शमणि काली, २. चिन्तामणि काली, ३. सन्तति प्रदा काली, ४. सिद्धिदा काली, ५. गुह्य काली, ६. हंस काली, ७. दक्षिण काली** और **८. भद्रकाली** प्रमुख हैं।

स्पर्शमणि का तात्पर्य उस तत्त्व से है जो किसी अन्य पदार्थ, तत्त्व या वस्तु के सम्पर्क में आकर उसे बदल दे, रूपान्तरित कर दे। उदाहरणार्थ, यदि पारस का स्पर्श लोहे से हो जाय तो लोहा सोना बन जाता है। यही तात्पर्य है स्पर्शमणि का। यदि स्पर्शमणि काली का स्पर्श हो तो साधक मणि बन जायेगा। यह अनुग्रह है, कृपा है। **चिंतामणि काली** का अर्थ है कि काली साधना में काली चिन्तन या स्मरण मात्र से ही साधक का जीवन परिवर्तित हो जाय। **संततिप्रदा काली** का अभिप्राय संतति या संतान देने वाली काली से नहीं वरन् नवजीवन प्रदान करने वाली काली से है, जो साधक को एक अवस्था से ऊपर दूसरी अवस्था में ले जाय, नवजीवन प्रदान करे। **सिद्धिदा काली** सभी प्रकार की सिद्धियाँ तथा भूत, भविष्य और वर्तमान पर विजय प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करती है। **गुह्य काली** शक्ति का अदृश्य, अव्यक्त और गहन रूप है। **हंसकाली** अच्छे और बुरे के भेद को देखने, समझने तथा उन्हें एक दूसरे से अलग करने वाली है। **गुह्य काली** को आध्यात्मिक उत्थान और पतन के कारक के रूप में देखा गया है। चेतना के विकास के अनुसार वह किसी को ऊपर उठा सकती है या पुनः काल-चक्र के चक्कर में भेज सकती है। **दक्षिण काली** संसार पर विजय प्राप्त कराती है, साधक को दिग्विजयी बनाती है। **भद्रकाली** साधक का मंगल या कल्याण करती है।

वास्तविक रूप

काली का वास्तविक रूप है :

> शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीं।
> चतुर्भुजां खड्ग मुण्ड वराभयकरां शिवाम् ॥
> मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वा दिगम्बरां।
> एवं संचितयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥

इस मन्त्र के अनुसार **शवारूढ़ा** काली का प्रथम रूप है शवारूढ़ा, अर्थात् जो शव पर आरूढ़ है। शव सृष्टि की नश्वरता का प्रतीक है। तन्त्र में सम्पूर्ण संसार को महाश्मशान के रूप में देखा गया है। श्मशान में शव ही रहता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि शवरूप है और शव पर शक्ति आरूढ़ है।

एक पौराणिक कथा के अनुसार युद्ध के पश्चात् जब देवी का क्रोध शान्त नहीं हो रहा था और वे क्रोधावेश में संहार करती जा रही थीं तब भगवान शंकर उनके रास्ते में

लेट गये और जब शक्ति का पैर शंकरजी पर पड़ा तो उन्हें आभास हुआ कि वे क्या कर रही हैं। यह एक पौराणिक कथा है, लेकिन इसका एक प्रतीकात्मक रहस्य है। शिवतत्त्व में इच्छाशक्ति का उत्थान होता है और उस व्यक्त इच्छाशक्ति का दमन करना, इच्छाशक्ति पर निरोध की अवस्था प्राप्त करना शक्ति का कार्य है। चेतना की परिणति पर शक्ति का नियन्त्रण रहता है, क्योंकि शिव चेतन तत्त्व है। व्यक्त चेतना पर नियन्त्रण बनाये रखना तथा उसे विकसित करते रहना शक्ति का कार्य है, इसलिये चेतन तत्त्व शिव पर शक्ति आरूढ़ है।

शिव शब्द में आधारभूत शब्द है 'शव'। शव में 'इ' की मात्रा जुड़ी है। नन्दिकेश्वर दर्शन में बतलाया गया है कि शिव है 'अ'। 'अ' का तात्पर्य होता है 'अयम्', 'इ' का तात्पर्य होता है 'इयम्'। शव में यदि 'इ' शक्ति का प्रतीक जोड़ दें तो शव हो जाता है शिव। शिव से 'इ' को हटा दें तो शव ही पड़ा रह जाता है। जब शक्ति नहीं तो शिव का अस्तित्व मात्र शव है। इसलिये शिव को शव रूप में भी देखा गया है। शव रूप में किसका ज्ञान होता है ? सम्पूर्ण सृष्टि पंचतत्त्वों से निर्मित है, चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म। शरीर में अग्नि तत्त्व का एक भिन्न रूप है। शरीर में पृथ्वी तत्त्व का एक भिन्न रूप है। पर बाहर की मिट्टी और शरीर के पृथ्वी तत्त्व में अन्तर है। तत्त्वों के रूप अलग हैं। इस प्रकार विभिन्न व्यक्त तथा अव्यक्त रूपों में पंचतत्त्वों की अवधारणा है। इन पंचतत्त्वों पर कालशक्ति का नियन्त्रण है; कालीशक्ति इसकी अधिष्ठात्री देवी है। यही तात्पर्य है 'शवारूढ़ा' का।

महाभीमां शक्ति का दूसरा नाम है। भीम का तात्पर्य अति विशाल रूप से है। शक्ति का स्वरूप किसी एक क्षेत्र में सीमित नहीं हो सकता। यह शक्ति प्रत्येक अणु के भीतर है और सम्पूर्ण सृष्टि के अणु -अणु में व्याप्त है। संभव है, शक्ति के लिये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक अणु मात्र ही हो। शरीर के आन्तरिक अणुओं में भी शक्ति का निवास है तथा शक्ति की कोई सीमा नहीं, वह निःसीम है, अनन्त है।

घोरदंष्ट्रा

देवी के दाँत बड़े भयानक हैं। दाँत खाने और चबाने के काम में आते हैं। समस्त सृष्टि की भक्षण और पाचन क्रिया का सम्पादन शक्ति द्वारा हो रहा है। सृष्टि का कोई व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ भक्षण तथा पाचन क्रम से छूट नहीं सकता, मुक्त नहीं हो सकता। भक्षण और पाचन प्रक्रिया से गुजरने के बाद भोजन का मूल स्वरूप बदलता है। चावल, दाल, रोटी सब्जी आदि की भिन्नता समाप्त हो जाती है। काली भक्षण करने वाली, पचाने वाली और भेद को समाप्त करने वाली शक्ति है।

हसन्मुखी का तात्पर्य देवी के हँसते हुए मुखमण्डल से है। हँसते हुए, प्रसन्न मुख में आनन्द का भाव होता है। आन्तरिक संतुष्टि या आन्तरिक उल्लास की अवस्था में प्रसन्नता

का अनुभव होता है। जब मनुष्य की कोई इच्छा या कामना पूर्ण होती है तब उल्लास या आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार हसन्मुखी का तात्पर्य आनन्दानुभूति से है।

चतुर्भुजा खड्ग मुण्ड वराभय करा शिवा अर्थात् काली के चार हाथ हैं। एक हाथ में खड्ग, दूसरे में मुण्ड, तीसरे में खप्पर है और चौथा हाथ अभयमुद्रा में है। खड्ग गर्दन काटने के काम आता है। जीवन को समाप्त करने, अहंकार को नष्ट करने, सृष्टि-क्रम में परिवर्तन लाने, वर्तमान अस्तित्व, पहचान या व्यक्तित्व को पूर्णतः समाप्त करने के निमित्त खड्ग का व्यवहार होता है। एक मुण्ड को अपने हाथ में लिये हुए हैं। यह मुण्ड जीव-अहं तथा आत्मा की भिन्नता का प्रतीक है। एक नदी के जल और एक कटोरी के जल में तात्विक रुप से वस्तुतः भिन्नता नहीं रहती है। अलग-अलग स्थान तथा पात्र में होने के कारण भेद दिखलाई देता है, लेकिन पानी तो पानी ही है। इसी प्रकार आत्मा का वास्तविक रूप एक ही है, चाहे उसे जीवात्मा कहें या परमात्मा। काली के हाथ का मुण्ड जीवात्मा की पहचान है, व्यक्तित्व या इकाई का प्रतीक है। देवी के एक हाथ में रक्त भरा खप्पर है। यदि शरीर से प्राण निकल जाय तो शेष क्या बचेगा ? मृत्यु निश्चित है। शरीर को जीवन प्रदान करने वाला प्राण है। रक्त का प्रतीकात्मक सिद्धांत प्राण का सिद्धान्त है। काली प्राण पीती हैं, प्राण को पचा लेती हैं। प्राण शक्ति को यदि स्वतन्त्र छोड़ दें, तो वह अनेक रूप अपनाता जायेगा। रक्तबीज की कहानी सर्वविदित है। उसका एक बूंद रक्त जमीन पर गिरता तो उसके जैसा ही एक नया दानव तुरन्त खड़ा हो जाता था। तात्पर्य यह कि यदि रक्त की हजार बून्दें जमीन पर गिर जायें तो हजार दानव खड़े हो जायेंगे। यहाँ रक्त, पृथ्वी और दानव प्रतीकात्मक हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का अभिप्राय यह है कि प्राण और पंच तत्त्वों के मिलन से सृष्टि होती है। काली उस प्राण रूपी रक्त को जमीन पर नहीं गिरने देती, खप्पर में लेकर पी जाती हैं। जीवन को अनियन्त्रित रूप से विकसित नहीं होने देना है। यदि जीवन को सकरात्मक तथा सृजनात्मक रूप से विकसित होना है, तो उसका एक क्रम होना चाहिये, एक पद्धति होनी चाहिए।

देवी का चौथा हाथ अभय मुद्रा में है। वे साधकों को आश्वस्त कर रही हैं कि, पुत्र ! निर्भय रहो, तुम्हारा कल्याण हो रहा है।

मुण्डमालधरा देवी अर्थात् देवी ने मुण्डों की माला धारण की है। तन्त्र ग्रन्थों के अनुसार यह ८४ नरमुण्डों की माला है। माला के ये ८४ नरमुण्ड ८४ लाख योनियों के प्रतीक हैं। काली में प्रत्येक योनि को संहार करने की क्षमता है। 'देवी' का अभिप्राय स्वयं प्रकाशित शक्ति से है।

ललज्ञिह्वा है लपलपती हुई जीभ। काली की जीभ लम्बी होती है। उस जीभ से सभी प्रकार के कार्यों का सम्पादन होता है। जीभ पाश का काम करती है और हुंकार के काम भी आती है। जीभ का सम्बन्ध ध्वनि और मन्त्रशक्ति से है। हुंकार काली के बीजाक्षर मन्त्र से सम्बन्धित है। वह मन्त्र स्वयं में सर्वशक्तिमान है।

दिगम्बरा देवी अर्थात् आवरण रहित अवस्था में हैं। काली को अन्य देवियों की तरह साड़ी, आभूषण इत्यादि नहीं पहनाया गया है। वह एक ऐसी शक्ति है, जिसका कोई आवरण नहीं। वस्त्र वस्तुतः मूल रूप या वास्तविक रूप को छिपाता है। काली दिगम्बरा हैं। उसके दो रूप नहीं हैं। उनका अनुभव एक ही रूप में होता है। दिगम्बरा का यही अर्थ है कि कालशक्ति का अनुभव एक ही अवस्था में हो सकता है।

एवं संचितयेत् कालीं श्मशानालय वासिनी में श्मशानालय शब्द प्रयुक्त हुआ है। आलय का अर्थ होता है घर या निवास स्थान। काली का वास श्मशान में है। क्षणभंगुरता के कारण यह सम्पूर्ण सृष्टि ही श्मशान है। अतः काली समस्त सृष्टि में व्याप्त हैं। हमें इसी सर्वव्यापी शक्ति का चिन्तन-मनन और उपासना करनी चाहिए।

दो प्रमुख रूप

काली के समस्त रूपों में दो रूप **१. दक्षिण काली** और **२. भद्र काली** प्रमुख हैं। **१.** दक्षिण काली का सम्बन्ध है शवारुढा या शव पर आरुढ़ काली से। रामकृष्ण परमहंस दक्षिण काली की आराधना करते थे। दक्षिण काली के विग्रह के कारण ही मंदिर का नाम दक्षिणेश्वर पड़ा है। **२.** भद्र शब्द का अर्थ होता है-सौम्य, कोमल। घोर, कठोर और रौद्र रूप के बावजूद काली में कोमलता और सौम्यता है। उनकी कोमलता या सौम्यता साधक को शिव-तत्त्व की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध होती है। तान्त्रिक भद्रकाली की मूर्त्ति अपने घरों में रखते हैं। भद्रकाली पृथ्वी पर खड़ी हैं और दक्षिण काली शवारूढ़ हैं।

काली और कुण्डलिनी

योग शास्त्र की कुण्डलिनी शक्ति कालशक्ति का ही प्रतीक एवं अंश है। कुण्डलिनी शक्ति मूलाधर चक्र में काल-सर्पिणी के रूप में साढ़े तीन कुण्डली मारकर सोई हुई है। यह सर्पिणी शक्ति जागृत होकर चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार तक चढ़ती है। चक्रों के भेदन द्वारा एक के बाद दूसरी अवस्था का नाश होता है। योग में परिवर्तन की, एक अवस्था से ऊपर उठकर दूसरे को प्राप्त करने की, नाश की प्रक्रिया को काली की ही एक प्रक्रिया, काली की ही एक अभिव्यक्ति माना जाता है।

काली यन्त्र

काली यन्त्र में एक के भीतर एक, पाँच अधोमुखी त्रिकोण होते हैं। त्रिकोण के मध्य में एक बिन्दु और त्रिकोण के चारों तरफ तीन वृत रहते हैं। वृत के चारों तरफ अष्टदल कमल है। पुनः अष्टदल कमल के चारों तरफ एक वृत्त तथा इस वृत्त के चारों तरफ एक चतुर्भुज रहता है।

बीज मन्त्र

काली का बीज मन्त्र 'क्रीं' है। वाममार्गी परम्परा के अनुसार इस मन्त्र विद्या की शिक्षा एवं दीक्षा केवल एक योगिनी ही दे सकती है। यह भी निर्देश है कि काली साधना को केवल साधक ही करे।

साधना

काली साधना के बारे में कहा गया है "नायं आत्माबलहीनेन लभ्य:" जिस व्यक्ति में आत्मबल का अभाव है वह इस साधना को नहीं करे । जिस साधक के मन में निराशा, दुविधा और अशान्ति है तथा जो चार मुख्य अभिवृत्तियों –आहार, निद्रा, भय, मैथुन से अत्यधिक प्रभावित है, इस साधना को नहीं कर सकेगा । तन्त्र शास्त्र के अनुसार तीन प्रकार के साधक होते हैं । पशुभाव, वीरभाव और देवभाव वाले । वीरभाव से मुक्त साधक ही इस साधना को करे तथा अन्य भाव वाले साधक नहीं करें, यदि करेंगे तो नकारात्मक परिणाम भुगतना पड़ेगा । साधक को आन्तरिक भय का सामना करना होता है । जब भय का नाश हो तब निडर, निर्भय, वीरभाव से युक्त साधक को सिद्धि की प्राप्ति होती है ।

वीर साधक को काली साधना के दौरान एकान्त की आवश्यकता होती है । काली साधना या प्रथम विद्या की साधना प्रायः श्मशान में की जाती है । जब काली रूप में शक्ति जागृत हो उठती है, तो सम्पूर्ण संसार एक श्मशान भूमि का रूप ले लेता है । श्मशान का तात्पर्य उस स्थान से नहीं जहाँ मुर्दे जलाये जाते हैं, वरन् वह स्थान जहाँ नश्वरता अपना नृत्य कर रही है, जहाँ अमरत्व का कोई स्थान नहीं ।

तन्त्र में एक साधना — शव साधना है । शव-साधक एक मुर्दे पर बैठता है तथा मन्त्र जप, ध्यान और देवी की आराधना करता है । एक सामान्य व्यक्ति यदि किसी शव पर बैठे तो उसकी हालत क्या होगी ? शव के ऊपर बैठकर ही शव हो जायेगा । भय का सामना करना, भयवृत्ति पर विजय प्राप्त करना शव-साधक का उद्देश्य होता है । 'भय' काल का एक अंश है । काल का भय बीज रूप में हर व्यक्ति के भीतर मौजूद है, जो अनेक रूपों में प्रकट होता है । सामान्य तर्क की दृष्टि से शव में जीवन नहीं है, अतः अनिष्ट हो नहीं सकता । लेकिन शव देखने या शव पर बैठने से साधक की भावना बदल जाती है, मानसिक चंचलता आ जाती है, निडर व्यक्ति भी घबरा जाता है, पत्तों में सरसराहट होने से हृदय की गति रूक जाती है । इस प्रकार साधना भंग होती है और साधक लंगोटी उठाकर भाग निकलता है । इसीलिए यह साधना वीर साधकों के अतिरिक्त अन्य के लिये वर्जित है ।

ग्रन्थ

प्रथम महाविद्या से सम्बद्ध लगभग ३० तन्त्र ग्रन्थ हैं । इनमें प्रमुख है 'महाकाल संहिता' । महाकाल संहिता के दो खंड : १ काम-कला खण्ड और २. गुह्य काली खण्ड हैं । काम-कला का तात्पर्य यौन सम्बन्धी विचारों या कार्यों से नहीं, इस बात से है कि साधक अपने भीतर की कामना, इच्छा और आसक्ति के बीज को देखे, समझे, निराकरण करे और शुद्ध बने । गुह्य काली खण्ड में काली तत्त्व के मूल रूप को पहचानने की शिक्षा दी गई है ।

२.महाविद्याः तारा

कालशक्ति काली, परिवर्तन और परिणति की प्रतीक हैं। इनके बाद तारा महाविद्या का वर्णन आता है। ताराशक्ति आध्यात्मिक उपलब्धि, शुभ इच्छा, सनातन विद्या और ज्ञान का प्रतीक हैं। तारा अक्षोभ्य की शक्ति है। भगवान शंकर का एक नाम अक्षोभ्य है। पौराणिक कथा के अनुसार समुद्र मंथन के समय विष निकलने से सम्पूर्ण लोक क्षुब्ध हो उठा था। एक मात्र शिव ने ही अपना सन्तुलन नहीं खोया। इसीलिये शिव को अक्षोभ्य, जो कभी क्षुब्ध नहीं हो, कहा गया है।

बौद्ध परम्परा में भगवान बुद्ध को भी अक्षोभ्य कहा जाता है। बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्ति के पूर्व उनके समक्ष अनेक दानव प्रकट हुए थे। ये दानव प्रतीकात्मक हैं। तात्पर्य यह है कि बुद्ध की इच्छा, वासना, कामना आसक्ति प्रबल और प्रचण्ड रूप में प्रकट हुईं, लेकिन वे अपने ध्यान में निमग्न रहे। इसलिये उन्हें भी अक्षोभ्य नाम दिया गया है।

भारतीय सनातन परम्परा में शिव के नीलकण्ठ रूप को अक्षोभ्य कहा जाता है। शिव ऋषि भी हैं, जिसका अर्थ होता है द्रष्टा या साक्षी। तारा उनकी शक्ति है। जब व्यक्ति जीवन में विचलित नहीं होकर साक्षी भाव धारण करता है, तब उसकी उपलब्धि निश्चय ही आध्यात्मिक रहती है। उसकी इच्छा शुभ रहेगी; किसी का अशुभ नहीं चाहेगा। उसके भीतर में ज्ञान जागृत होगा। तारा इसी ज्ञान का प्रतीक है।

तन्त्र में तारा को प्रज्ञापरामिता के नाम से सम्बोधित किया गया है। यह नाम हिन्दू और बौद्ध, दोनों ही तन्त्रों में आता है। इसका अर्थ होता है भवसागर को पार करानेवाली। जिसकी शक्ति और कृपा से मनुष्य भवसागर पार कर ले, वह है तारा।

पूर्व काल में तारा की आराधना सर्प, हाथी, शेर और चीते जैसे जानवरों, चोर और हत्यारे मनुष्यों तथा जल तत्त्व के भय को दूर करने के लिये की जाती थी। इसीलिए अनेक स्थानों में तारा को जल तत्त्व की देवी मानते हैं। समुद्री यात्री यात्रा प्रारम्भ करने के पहले तारा की आराधना किया करते थे।

तारा शब्द 'तृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है तारना, पार करना। आकाश के तारों को भी इस अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं। तारों को देखकर, पहचानकर मनुष्य दिशा का बोध प्राप्त करता है। तारा का उद्देश्य है कि मनुष्य अपनी अज्ञानता दूर कर ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाय, अज्ञान रूपी संसार सागर को पार कर ले।

वेदों में तारा को वाक् या वाक्शक्ति के रूप में देखा गया है। जब मनुष्य बोलना चाहता है, अपने विचार को प्रकट करना चाहता है, अपने ज्ञान का प्रयोग करना चाहता है, तो वाणी का सहारा लेता है। वाणी के बिना वह अपने विचार तथा मानोभावों को

प्रकट नहीं कर सकता । अतः वाणी को भी ज्ञान या विद्या का एक अंग माना गया है । तारा देवी इस वाक्शक्ति का प्रतीक हैं । यह तारा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है ।

सनातन दर्शन में यह मान्यता है कि परम चेतना की स्वेच्छा से सृष्टि-क्रम प्रारम्भ होता है । सृष्टि-क्रम के प्रारम्भ में एक स्पन्दन की उत्पत्ति होती है । स्पन्दन को नाद कहते हैं । इससे अन्य अनेक ध्वनियाँ, तरंगे और स्पन्दन उत्पन्न होते हैं । सृष्टि-क्रम का यह प्रथम चरण है । वेदों में कहा गया है 'अथ सृष्टि पूर्वे शब्द सृष्टिः ।' अर्थात्, तत्त्व, पदार्थ, भौतिक जगत एवं तन्मात्राओं की सृष्टि के पूर्व शब्द की सृष्टि होती है । प्रथम नाद अनुज्ञाक्षर प्रणव या 'ॐ' है । ॐ को तारा का बीज मन्त्र माना गया है, इसीलिये ॐ को तारक मन्त्र भी कहते हैं : 'तारकनाम स्मरणं तापत्रय संहरणम् ।' इस मूल नाद की सिद्धि से मनुष्य भवसागर से तर जाता है । इस नाद के अनुभव या ज्ञान को सम्पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि माना जाता है । भौतिक जगत में प्राप्त बौद्धिक ज्ञान या मनः चतुष्ट्य द्वारा ग्रहण किया गया ज्ञान अर्द्धज्ञान है, क्योंकि इनका सम्बन्ध चेतना की व्यक्त तथा स्थूल अवस्थाओं से है । जब चेतना की सभी अवस्थाओं में समान ज्ञान प्राप्त हो, तो उसे पूर्ण ज्ञान कहते हैं । इस स्थिति में चेतन, अवचेतन तथा अचेतन अवस्थाओं में समान रूप से विद्या ग्राह्य होती है । अतः जहाँ विद्या का ग्रहण समान रूप से होता है तथा चेतना में किसी प्रकार की विभक्ति का अनुभव नहीं होता वह जागृत चेतना है, जागृत ज्ञान है । इसी कारण से वेदों, उपनिषदों तथा तन्त्र शास्त्र में प्रणव मन्त्र को एक उच्च स्थान दिया गया है । माण्डूक्य उपनिषद् में ॐ की तीन मात्राओं -अ, उ , म का अभिप्राय क्रमशः चेतना की तीन अवस्थाओं –जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति से है । तन्त्र की तारा को वेदों में वाक्शक्ति, उपनिषदों में प्रणवशक्ति तथा पुराणों में गौरी के नाम से सम्बोधित किया गया है । मूल नाद या मूल स्पन्दन से ही विद्या और वाणी का जन्म होता है । वाणी का तात्पर्य होता है व्यक्त करने की क्षमता, जिसके लिये बुद्धि तथा जिह्वा का होना आवश्यक है । यह इसकी भौतिक या शारीरिक आवश्यकता है । सन्त, महात्मा, त्यागी और ज्ञानी लोग मौन द्वारा भी विद्या या ज्ञान को व्यक्त कर सकते हैं । व्यक्त करने की इस क्षमता का सम्बन्ध जिह्वा या बुद्धि से ही नहीं है, यह तो व्यक्तित्व की एक प्रतिभा है, चेतना की जागृत अवस्था है । यह मौन अभिव्यक्ति भी तारा महाविद्या से सम्बद्ध है ।

तारा की आराधना विशेषकर महाचीन, मिथिला, बंगाल, आसाम और काश्मीर में प्रचलित है । इन क्षेत्रों में प्रचलित होने के कारण इस विद्या को कौलमत के अंतर्गत वाममार्ग में स्वीकार किया गया है । शाक्त मत में जिस प्रयोजन से वाममार्ग का उल्लेख किया गया है वह प्रयोजन भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है । वाममार्ग के माध्यम से जीवन की साधना बतलाई गई है, सम्पूर्ण जीवन – क्रम तथा जीवन के प्रत्येक कर्म को देखकर

उनके पीछे निहित उद्देश्य को बतलाया गया है। वाममार्ग तन्त्र में सभी कर्मों को समान मान्यता मिली है। दूसरे पथ या दक्षिणमार्ग में ध्यानात्मक पद्धतियों को ही मान्यता मिली है। कौल मत में महिला गुरु की आवश्यकता तथा शैव मत में पुरुष गुरु की आवश्यकता बतलाई गई है। इस प्रकार प्रत्येक मत का एक सिद्धान्त, विचार, दृष्टिकोण और क्रियाविधि है, जिसे समझनेवाले समझते हैं और नहीं समझने वाले नहीं समझते। अतः तन्त्र शास्त्र के अध्ययन में मन के सभी भावों को हटाकर निष्पक्ष भाव से विषय वस्तुओं को जानने-समझने का प्रयास करना चाहिये।

तारा के रूप

तन्त्र शास्त्र में तारा के छः रूपों को स्वीकार किया गया है। वे हैं : **(१) उग्रतारा, (२) नील सरस्वती, (३) एकजटा, (४) शुक्ल तारा, (५) नील तारा** और **(६) चित्रा**।

(१) उग्रतारा आद्य स्थिरता में उत्पन्न स्पन्दन है और वह स्पन्दन, वह नाद अपने आपमें परिपूर्ण रहता है। उग्रतारा काली के समान शव पर विराजमान हैं तथा पचास नरमुण्डों की माला पहनीं हुई हैं, जिनसे रक्त टपकता रहता है। ये पचास नर-मुण्ड पचास प्रकार की ध्वनियों के प्रतीक हैं, जिनका उल्लेख संस्कृत वर्णमाला में मिलता है। ॐ तारक मन्त्र का स्थान आज्ञा चक्र है। ॐ मंत्र आदि नाद या आद्य स्पन्दन का प्रतीक है। इस मन्त्र को पशयिन्त वाक् भी कहते हैं जिसका अर्थ होता है देखने वाला या साक्षी। अतः ॐ वह साक्षी नाद है, जो स्वयं अनेकों में विभाजित होकर भी स्वयं में एक बना रहता है। इसे अनुज्ञाक्षर कहते हैं, क्योंकि इसी से विस्तार क्रम प्रारम्भ होता है।

मूलाधार से आज्ञा चक्र तक के समस्त चक्रों के दलों की कुल संख्या पचास है तथा उनमें से प्रत्येक दल पर संस्कृत का एक वर्ण बीज मंत्र के रूप में अंकित है। उग्रतारा इन्हीं पचास नर-मुण्डों या मन्त्रों की माला पहने हुई हैं। वे आद्यस्थिरता में स्पन्दन उत्पन्न करने वाली शक्ति हैं। इस आद्य स्थिरता में प्रथम अभिव्यक्ति है नाद की, जो प्रणव है। प्रणव से, प्रणव की साधना से, प्रणव की सिद्धि से अज्ञान मिटता है, ज्ञान की प्राप्ति होती है; अविद्या मिटती है, विद्या की प्राप्ति होती है; मृत्यु का नाश होता है, अमरत्व की प्राप्ति होती है।

उग्रतारा का बीज मन्त्र 'ॐ ह्रीं स्त्रीं हुं फट्' है।

२. नील सरस्वती है वाक्शक्ति, समझने और बोलने की क्षमता, ग्रहण करने और व्यक्त करने की क्षमता। सरस्वती को विद्या और वाणी की देवी मानते हैं। सरस्वती तारा का एक रूप है। तन्त्र में देवी को नील सरस्वती कहा जाता है। 'नील' गगन या अन्तरिक्ष का प्रतीक है। इस प्रकार नील सरस्वती का तात्पर्य अन्तरिक्ष में या अन्तरिक्ष से उत्पन्न स्पन्दन ज्ञान से है। मनुष्य ध्वनि, तरंग या स्पंदन को अन्तरिक्ष से ही ग्रहण करता है। तरंग की कोई सीमा नहीं है। वह श्रव्य, अश्रव्य और अति अश्रव्य हो सकती है,

लेकिन ध्वनि या नाद का अनुभव आकाश या अन्तरिक्ष में होगा। नील सरस्वती के रूप में तारा घोर, गहन अज्ञान के अंधकार को चीरती हुई विद्या रूपी प्रकाश है।

नील सरस्वती का बीज मन्त्र 'ह्रीं स्त्रीं हुं' है।

(३) एकजटा तारा का तीसरा रूप है। वे मुक्तकेशी नहीं हैं। मुक्तकेशी का तात्पर्य होता है खुले बाल वाली। एकजटा का अर्थ होता है कि सभी बाल एक वेणी में सिमटे हुए हैं। देवी ने सभी प्रकार की शक्तियों को अपने आप में समेट रखा है। ये शक्तियाँ यहाँ ध्वनि तरंगों के रूप में दिखलाई देती हैं। अवधारणा यह है कि प्रणव मन्त्र से या प्रणव नाद से ही सभी प्रकार की तरंगें, ध्वनियाँ और अक्षर उत्पन्न होते हैं और जब इनका लोप होता है, तो ये उसमें ही समाहित हो जाते हैं। ये क्षत-विक्षत नहीं होते, बिखरते नहीं हैं; अपने मूल में ही समा जाते हैं। इस प्रकार मूल से निकलने और मूल में प्रविष्ट हो जाने की जो कला है या इसका जो नियम और अनुशासन है वह है एकजटा। वह एक नियन्त्रक शक्ति है। उससे ही सब उत्पन्न होते और सब उसमें ही विलीन हो जाते हैं।

एकजटा का बीज मन्त्र 'ह्रीं स्त्रीं हुं फट्' है।

(४) शुक्ल तारा के रूप में तारा निरंजना है। उसमें आद्यस्पन्दन के गुण मूल रूप में दिखलाई देते हैं। नील तारा के रूप में वह सृष्टि के गर्भ में उतरती है और चित्रा के रूप में वह शक्ति स्वयं को अनेक रंगों में व्यक्त करती है।

(५) नील तारा का तात्पर्य है अव्यक्त से व्यक्त की ओर यात्रा के क्रम में शक्ति ने व्यक्त के गर्भ में प्रवेश किया है। श्वेता या श्वेता तारा इसका मूल रूप है।

(६) चित्रा रूप में हर पदार्थ में ध्वनिशक्ति रूप में विद्यमान रहती है। बौद्ध परम्परा में तारा के इक्कीस रूपों का वर्णन किया गया है। बौद्ध मत में उसके स्थूल गुणों को सामने लाया गया है। लेकिन सनातन तन्त्र में तारा के उपरोक्त छः रूपों का ही वर्णन मिलता है।

साधना

तारा महाविद्या साधना के विशेष नियम नहीं है। उनकी पूजा, जप या आराधना किसी भी समय में, किसी भी स्थान पर हो सकती है, क्योंकि ये साधनायें सहज हैं। उनकी आराधना में नियम का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहना चाहिये। तारक मन्त्र ॐ का मानसिक जप तथा उच्चारण चलते-फिरते समय भी कर सकते हैं। सन्ध्या के समय या प्रातःकाल में बैठकर इसका जप किया जा सकता है। एक बार अपने लिये जो नियम या अनुशासन बना लिया गया है उसका पालन करना ही नियम है। तारक मन्त्र के साधक के लिये यम और नियम का पालन आवश्यक है ताकि उसे विचारात्मक शुद्धि, भावनात्मक शुद्धि, शारीरिक शुद्धि और आत्मसंयम की प्राप्ति हो। तारक मन्त्र या तारा साधना के साधक के लिये सत्य वचन बोलना अनिवार्य है। नकारात्मक शब्द या असत्य

वचन बोलने से मन का विकास, आन्तरिक विकास रुक जाता है। साधक स्वयं को स्वतंत्रता से बन्धन की ओर लाता है। साधना के दौरान मौनव्रत का पालन होना चाहिये। तारा साधना एक गुप्त साधना है। गुप्त साधना को गुप्त रूप से किया जाता है। मौन के निर्देश का सम्बन्ध केवल वाणी से नहीं बल्कि साधना के फल से भी है। यदि साधना का कोई फल मिले तो किसी अन्य को बतलाना नहीं चाहिये और स्वयं भी कोई अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। मन्त्रों का अध्ययन होना चाहिये। मन्त्र तरंगों के रूप में, ध्वनि के रूप में व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं।

अन्तिम साधनात्मक निर्देश है समभाव धारण करने का। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद में समभाव रखें, जिससे आंतरिक संतुलन और आत्मसंयम की प्राप्ति हो। संयम और सन्तुलन की प्राप्ति में एकाग्रता, तन्मयता और ध्यान की उच्च स्थितियों का ज्ञान होता है। यदि साधक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद में आंतरिक सन्तुलन नहीं रख सकता है, तो साधना की तन्मयता और एकाग्रता भंग हो जाती है, ध्यान की स्थिति प्राप्त नहीं होती। योग में निर्देश दिया जाता है कि प्रणव साधना के समय साधक को बाह्य और आन्तरिक परिवर्तनों से अप्रभावित रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

यन्त्र

तारा यन्त्र के मध्य में एक अधोमुखी त्रिकोण और उसके चारों ओर एक वृत्त है। वृत्त के चारों तरफ एक अष्टदल कमल और उसके चारों और चार द्वारों से युक्त एक वर्गाकृति है।

तारा यन्त्र में अधोमुखी त्रिकोण उत्पत्ति का, सृष्टि का प्रतीक है। इसके चारों तरफ का वृत्त ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। ब्रह्माण्ड दो शब्दों से बना है : ब्रह्म और अण्ड। जिसे मनुष्य विश्व या सृष्टि कहे, वह ब्रह्माण्ड है। चर और अचर, दृश्य और अदृश्य, परा और अपरा अवस्थाओं में ब्रह्म या परम तत्त्व की अनुभूति निहित है। वृत्त के चारों ओर अष्टदल कमल है जिसके पाँच दलों का सम्बन्ध पंचकोशों – अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश से रहता है। प्राणियों की सृष्टि इन पाँच शरीरों से होती है। मनुष्य अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय शरीरों का अनुभव करता है। मान्यता है कि सृष्टि में सभी पदार्थों तथा जीवों के पाँच कोश होते हैं। जहाँ भी शक्ति अणु रूप में विद्यमान है वहाँ इन पाँच अवस्थाओं का अनुभव निहित होगा। पशु, पक्षी, कीटाणु या जड़ पदार्थों को इन पाँच कोशों का ज्ञान नहीं, मनुष्य को ज्ञान हो सकता है। कमल के शेष तीन दलों का सम्बन्ध वैखरी, उपांशु और पश्यन्ती नादों या ध्वनियों से रहता है। शरीर के सभी कोशों की अवस्थाओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारण ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। पंचकोश में जब स्थूल, सूक्ष्म और कारण ध्वनि का अनुभव होने लगे तो वह तारा की अनुभूति है। ब्रह्माण्ड में जो दृश्य या अदृश्य है उनमें ध्वनि या स्पन्दन के तीनों प्रकार निहित हैं।

बीज मन्त्र और ग्रन्थ

तारा महाविद्या का बीज मन्त्र 'ॐ' है । इस महाविद्या से सम्बन्धित लगभग छब्बीस ग्रन्थ, शास्त्र और संहितायें हैं ।

३. महाविद्या : त्रिपुर सुन्दरी

तीसरी महाविद्या के तीन नाम है– त्रिपुर सुन्दरी, षोड़षी और कामेश्वरी । तन्त्र में परम तत्त्व को प्रकाश और विमर्श के रूप में देखा गया है । मूल रूप में परम तत्त्व प्रकाश स्वरूप है । स्वेच्छा से जब सृष्टि-क्रम, सृष्टि का कार्य प्रारम्भ होता है तो वह अवस्था विमर्श की है । विमर्श का तात्पर्य प्रकाश की मूल अवस्था में भेद, अन्तर या रूपान्तरण से है । प्रारम्भ में यह विमर्श कामना का, इच्छा का रूप लेता है । यह इच्छा परम तत्त्व के भीतर विभक्ति या विमर्श का परिणाम है । इच्छा को नाम दिया गया है काम, जिसे कामना भी कहते हैं । परम तत्त्व की कामना प्रेममय तथा शुभ है । परम तत्त्व अपने से उत्पन्न सभी प्राणियों के प्रति प्रेमभाव रखते हुए, कल्याण चाहते हुए, सृजन का कार्य करते हैं । परम तत्त्व में राग-द्वेष नहीं, प्रेम का भाव, कल्याण का भाव है । इन दोनों भावों से कामना की उत्पत्ति होती है, जिससे सृजन का कार्य प्रारम्भ होता है । जब सृजन का कार्य प्रारम्भ होता है, तो कामना से उत्पन्न शक्ति का नाम होता है कामेश्वरी ।

कामना का सम्बन्ध काल की गति से रहता है । गति के प्रभाव के कारण ही काल कामना में परिणत होता है । यदि काल की अवधारणा न रहे तो कामना उत्पन्न नहीं होगी । मनुष्य के अन्दर इच्छा उत्पन्न होती है, तो वह इच्छा सदैव इच्छा नहीं रहती, इच्छा की उत्पत्ति के बाद क्रिया प्रारम्भ होती है, क्रिया के बाद परिणाम दिखता है और परिणाम के बाद उपलब्धि का अनुभव होता है । अतः कामना का विकास काल द्वारा प्रभावित है । परम इच्छा को काम कला भी कहते हैं जिसका मतलब होता है कामना से कला में, इच्छा से क्रिया में परिणति या अभिव्यक्ति । इस कामकला, इच्छाशक्ति या कामनाशक्ति को तन्त्रशास्त्र में कामेश्वरी, षोड़षी या त्रिपुर सुंदरी नाम दिया गया है ।

कामेश्वरी कामेश्वर की शक्ति है । कामेश्वर में दो शब्द है : काम और ईश्वर । ईश्वर में विमर्श और विमर्श से कामना क्रिया की उत्पत्ति होती है । कामना की कल्याणकारी, मंगलकारी और प्रेम पूर्ण परिणति ही कामेश्वरी है ।

त्रिपुर सुन्दरी देवी का मूल रूप कामेश्वरी है । सृजन का कार्य प्रारम्भ होने से देवी त्रिपुर सुन्दरी बन जाती है । 'त्रि' का अर्थ होता है तीन, 'पुर' का नगर और 'सुन्दरी' का तात्पर्य होता है सबसे विलक्षण, अपूर्व सौन्दर्य की मूर्ति । तीनों नगरों में जो सबसे सुन्दर हो, जिसमें सौन्दर्य की पराकाष्ठा हो, पूर्णता का आभास हो, त्रिपुर सुन्दरी है ।

कामना रूप में जागृत तत्त्व अन्तःकरण का बीज है । "सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजाययिति" – मैं अपने आपको अनेकों में विभाजित करूँ, प्रजा की सृष्टि करूँ । कामना अन्तःकरण का बीज है, जिसे मनुष्य अहं के रूप में जानता है । अहं की अनुभूति स्थूल, सूक्ष्म और कारण आदि अवस्थाओं में होती है । जिस कामना बीज की चर्चा वेदों और उपनिषदों ने की है, वह कारण बीज है । उसी बीज की परिणति क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल में होती है । मूल अवस्था में यह सतोगुण से प्रभावित है, सूक्ष्म अवस्था में रजोगुण से तथा स्थूल अवस्था तमोगुण से प्रभावित है ।

तीनों लोकों में कामना, इच्छा और उपलब्धि के साधन के रूप में त्रिपुर सुन्दरी शक्ति का निवास है । तन्त्र शास्त्र में ब्रह्म को शिव या परम चेतना के रूप में तथा माया को उसके अनेक रूपों में समझाया गया है । माया के जितने भी रूप दिखलाई देते हैं उनमें से प्रत्येक का एक लक्ष्य, उद्देश्य तथा एक कारण है । प्रत्येक अवस्था में विभिन्न अनुभव साधक प्राप्त कर सकता है, जिसे तन्त्र में स्थूल, सूक्ष्म और कारण के रूप में समझाया गया है । उसे ही वेदों में भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों के रूप में समझाया गया है । भौतिक लोकों में भूः, भुवः और स्वः लोकों का वर्णन होता है, जो व्यक्त जगत में स्थूल, सूक्ष्म और कारण के प्रतीक हैं । आध्यात्मिक लोकों को जनः, तपः और सत्य लोकों के रूप में समझाया गया है, जो अव्यक्त सृष्टि स्थूल, सूक्ष्म और कारण के प्रतीक हैं । महः लोक बीच का लोक है जहाँ तीनों अवस्थाओं की अनुभूति निहित है ।

तन्त्र शास्त्र में हर अवस्था में तीनों प्रकार की अनुभूतियाँ व्याप्त हैं । स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं में प्रत्येक में स्थूल अनुभूति, सूक्ष्म अनुभूति और कारण अनुभूति व्याप्त है । इनके पार तुरीया अवस्था में भी ये तीनों अनुभूतियाँ होती हैं । कारण में स्थूल कारण, सूक्ष्म कारण और कारण कारण की है ; सूक्ष्म में स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्म सूक्ष्म और कारण सूक्ष्म की अनुभूति तथा स्थूल में स्थूल स्थूल, सूक्ष्म स्थूल और कारण स्थूल की अनुभूति है । इसी प्रकार तुरीय में भी स्थूल तुरीय, सूक्ष्म तुरीय और कारण तुरीय की अनुभूति है । इन अवस्थाओं को पार कर लेने के बाद परम-तुरीय का अनुभव होता है ।

तन्त्र शास्त्र में उपरोक्त प्रकार से विभिन्न अवस्थाओं का वर्गीकरण किया गया है । इन समस्त अवस्थाओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है : भूलोक प्रारम्भ, महःलोक मध्य और सत्य लोक अन्त ।

ये तीनों अवस्थायें सत्, चित् और आनन्द के क्षेत्र हैं : स्थूल में सत् , सूक्ष्म में चित् और कारण में आनन्द । तुरीय में ये तीनों एक हो जाते हैं – सच्चिदानन्द । तन्त्र में स्थूल में सत् विचार आता है । जगत सत्य है क्योंकि शरीर का अनुभव होता है; शरीर का होना भ्रम नहीं है । शरीर में दर्द, जरा, व्याधि और मृत्यु का अनुभव होता है ।

इन सबसे मनुष्य तथा चेतना प्रभावित होते हैं। जरा, व्याधि और मृत्यु से प्रभावित होने पर सभी प्रकार के विकास, उपलब्धियाँ और साधनायें रुक जाती हैं। इसलिये जगत को भ्रांतिमय नहीं सत्य माना है, स्थूल को सत् की संज्ञा दी गई है। सूक्ष्म को चित् कहा गया है। सूक्ष्म में अन्तःकरण, मनःचतुष्ट्य तथा आंतरिक इन्द्रियों को समझते तथा नियंत्रित करते हैं। इनके द्वारा मनुष्य संसार और आत्मा का अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करे। चित्त का रूप है देखनेवाला, साक्षी या द्रष्टा। कारण में आनन्द अवस्था है। इस अवस्था में देहाध्यास नहीं रहता, देह और जगत के प्रति आसक्ति नहीं रहती; अन्तःकरण में आसक्ति नहीं रहती। कारण में आनन्द की अनुभूति होती है, जिसे योग में स्पष्ट रूप से आनन्दमय कोश या पाँचवाँ शरीर कहा गया है। इसे योगसूत्रों में आनन्द समाधि कहा गया है। आनन्द समाधि के बाद एक और अवस्था है जिसे **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** कहते हैं। इस अवस्था में सत्, चित् और आनन्द एकाकार होकर सच्चिदानन्द की अनुभूति जागृत करते हैं। इन तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ, विलक्षण प्रतिभा और परम शक्ति है, त्रिपुर सुन्दरी।

सृष्टि का अनुभव परम कामना के विस्तार का परिणाम है। उसकी उत्पत्ति स्पन्दन से होती है और वही स्पन्दन केन्द्रित होकर एक मूल बिन्दु का रूप धारण करता है। वह मूल बिन्दु पुनः स्वयं को तीन बिन्दुओं में विभाजित करता है, जिससे एक अधोमुखी त्रिकोण बनता है। त्रिकोण के तीनों शीर्षों पर तीन बिन्दु होते हैं। यदि इन तीन बिन्दुओं को एक-दूसरे से जोड़ दें तो एक अधोमुखी त्रिकोण या योनि बन जाती है। यह अधोमुखी त्रिकोण त्रिगुणात्मक, सृजनात्मक शक्ति का रूप है। यह शक्ति जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति की अवस्थाओं, तीनों लोकों तथा सत्व, रज और तम तीनों गुणों में व्याप्त है। सबके परे शक्ति, मूल आद्यशक्ति के रूप में तीनों अवस्थाओं पर नियन्त्रण रखती है। जागृत–स्वप्न–सुषुप्ति, चेतन–अवचेतन–अचेतन, या सत्व–रज–तम, ज्ञान–ज्ञातृ–ज्ञेय की अवस्थाओं में शक्ति के विभिन्न रूप दिखलाई देते हैं। इनके परे, इनसे भिन्न शक्ति के विभिन्न रूप भी है, जिसमें अन्त में सभी रूप समा जाते हैं। इस 'तीन' के सिद्धान्त के आधार पर शासन करने वाली देवी का नाम है त्रिपुर सुन्दरी।

तीन रूप : १. बाला, २. सुन्दरी और **३. त्रिपुर भैरवी** त्रिपुर सुन्दरी के तीन रूप हैं। बाला रूप में सरलता, सरल स्वभाव सत्व अवस्था को प्रकाशित करती हैं। सुन्दरी रूप में वे रजोगुण पर शासन करती हैं। भैरवी रूप में तमस् पर राज्य करती है। देवी के ये तीनों रूप अन्ततः त्रिपुर सुन्दरी के मातृरूप में एक हो जाते हैं।

रूप वर्णन : त्रिपुर सुन्दरी लाल परिधान में हैं। लाल वस्त्र रजोगुण का प्रतीक है। सृष्टि का क्रम रजोगुण से प्रारम्भ होता है। सत्व में प्रकाश की अवस्था है; रजोगुण में विमर्श की अवस्था है; तमोगुण में अभिव्यक्ति या परिणाम है। त्रिपुर सुन्दरी लाल वस्त्रावृता आकाश में खड़ी हैं।

इनके चार हाथ हैं : एक हाथ में पाश, दूसरे में धनुष, तीसरे में अंकुश और चौथे में पाँच बाण हैं। देवी के तीन नेत्र हैं।

ललिता सहस्त्रनाम में देवी का वर्णन है :

बालार्कमण्डलाभासं चतुर्बाहुं त्रिलोचनम्।
पाशांकुशशरांचापं धारयन्तीं शिवांभजे ।।

अर्थात् देवी के वस्त्र लाल हैं उनके तीन नेत्र, चार भुजायें और चारों भुजाओं में चार अस्त्र या आयुध हैं।

पाश वह बन्धन है जिसमें देवी तीनों लोकों को एक अनुशासन, एक नियम और एक सीमा में बांधकर रखती हैं। वह बन्धन 'रागस्वरूपयाशाढ्याः'' राग, वात्सल्य, कामना और प्रेम का है। जब साधक कामना मुक्त हो जाय, देवी के इस पाश बन्धन से मुक्त हो जाय, तब मोक्ष को प्राप्त करता है। जिस कामना का प्रतीक प्रेम और वात्सल्य हो वह कामना स्थूल में अनेकों रूप धारण करती है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर कामना के अनेकों रूप होते हैं, जिनमें प्रथम रूप है सन्तोष। जीवन की पारिवारिक, सामाजिक, भौतिक या आध्यात्मिक परिस्थितियों में सन्तोष, प्रसन्नता, प्रेम और प्राप्ति की कामना मनुष्य करता है। भौतिक जगत में प्रेम, प्राप्ति आदि का समावेश सन्तोष की अवस्था में होता है। इसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों रूप होते हैं।

अंकुश है 'क्रोधाकारंकुशोज्वला'। पाश रागस्वरूप है, जिसका अभिप्राय कामना और प्रेम से रहता है। अंकुश क्रोधरूपी या उग्ररूपी है। उग्रता को क्रोधरूप में समझाया गया है। मनुष्य क्रोधित होता है। क्रोध की यह उग्र अभिव्यक्ति नकारात्मक होती है। उग्रता स्वयं में एक नियन्त्रक और निरोधक शक्ति है। घोड़े को नियन्त्रित रखने के लिये लगाम का प्रयोग, हाथी को नियन्त्रित करने के लिये अंकुश का उपयोग करते, उद्दण्ड बच्चों को अनुशासित करने के लिये बनावटी क्रोध का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार की सकारात्मक उग्रता का तात्पर्य नियन्त्रण की क्षमता से है। उग्रता जीवन की एक अनुशासनात्मक अभिव्यक्ति का प्रतीक है, जिससे व्यक्ति स्वयं को संयमित और नियंत्रित रख सके। 'मनोरूपेक्षकोदण्डा' अर्थात् उनका धनुष मनरूपी है। मन जो मनुष्य को निर्देशित करता है व्यक्तिगत, सीमित और आण्विक है। ब्रह्माण्डीय चेतना या शक्ति के मन का रूप महत् का होता है। धनुष रूप में महत् तत्त्व को ही समझाया गया है। 'पंचतन्मात्र शायका', देवी के पाँच बाण पाँच तन्मात्रायें हैं। महत् रूपी धनुष पर पंचतन्मात्रारूपी बाणों को चढ़ाने से सृजन या सृष्टि का कार्य होता है।

देवी के तीन नेत्र हैं। मनुष्य की दो आँखे बाहरी दृश्यों को देखती हैं। लेकिन एक देव, देवी या शक्ति को बाहर या अन्दर देखने हेतु दो या तीन आँखों की आवश्यकता

नहीं होती। देवी की तीन आँखों के अलग-अलग कार्य और अलग-अलग क्रियायें हैं। उनकी तीन आँखें तीन लोकों के लिये हैं, जिनकी वे द्रष्टा या साक्षी हैं।

मन्त्र और साधना

देवी का मन्त्र और साधना **श्रीविद्या** की साधना है। विद्या का अर्थ ज्ञान-बोध, आन्तरिक अनुभूति, आन्तरिक जागृति या जागृत आन्तरिक चेतना का बोध है। मन्त्र के प्रयोग से साधक की चेतना विकसित और जागृत होती है, जिससे उसका आन्तरिक आध्यात्मिक विकास संभव होता है। इस प्रकार श्रीविद्या मंगलमयी या मंगलकारिणी विद्या है। कहा गया है "श्रीविद्या ज्ञानमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते" अर्थात् इस विद्या के ज्ञान मात्र से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

तान्त्रिकों ने मन्त्रों की कल्पना एक पिरामिड के रूप में की है, जिसे कूट कहा जाता है। पिरामिड का आधार फैला हुआ रहता है तथा उसके सभी कोने शीर्ष पर एक बिन्दु में मिलते हैं। देवी का भी पिरामिड या कूट होता है। कूट में देवी का बीज मन्त्र व्याप्त रहता है। कूट के आधार में देवी की अनन्त शक्तियों का बोध होता है। उदाहरण के लिये, काली, कालशक्ति तथा काल से सम्बन्धित भूत-वर्तमान-भविष्य के सभी अनुभव कूट के आधार से शुरू होते हैं और अन्त में एक बिन्दु में केन्द्रित हो जाते हैं, जो उस कूट के बीज मन्त्र का शीर्ष बिन्दु है। त्रिपुर सुन्दरी के तीन कूट हैं : १. **वाग्भव कूट,** २. **कामराजा कूट** और ३. **शक्ति कूट**। वाग्भव कूट का सम्बन्ध शीर्ष प्रदेश से रहता है। यह कूट मूलध्वनि या आद्यस्पन्दन का केन्द्र है, जहाँ से सृष्टि, स्थिति और संहार का क्रम प्रारम्भ होकर अन्त होता है। देवी के गर्दन से कमर तक का भाग कामराजा कूट है। यह प्रथम अभिव्यक्ति या व्यक्त होने की प्रथम इच्छा तथा कामना का प्रतीक है। ऊपर से नीचे का भाग तीसरा, शक्ति कूट है जो क्रियाशक्ति का प्रतीक है। वाग्भव, कामराजा और शक्ति कूटों के बीज मन्त्र क्रमशः ऐं, क्लीं और सौः है। इन्हीं तीन बीज मन्त्रों में अन्य मन्त्रों के समावेश होने से पंचदशी मन्त्र बनता है, जो देवी की आराधना का मन्त्र है। पंचदशी मन्त्र में एक गुप्त बीज मन्त्र लगने से वह षोड़शी मन्त्र हो जाता है। षोड़शी मन्त्र को तीन भागों में विभक्त किया जाता है, जिन्हें हादि मन्त्र, कादि मन्त्र और सादि मन्त्र कहा जाता है। देवी का स्वरूप तीनों कूटों में देखा गया है, क्योंकि यह तीन लोकों – भूः लोक, भुवः लोक, स्वः लोक; या भूत, वर्तमान और भविष्य ; या स्थूल, सूक्ष्म और कारण; या वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती – की अधिष्ठात्री है। इन तीनों लोकों एवं अवस्थाओं में इस शक्ति का नियन्त्रण, इसकी अनुभूति और इसकी जागृति होने के कारण तीन कूटों का वर्णन किया गया है।

यन्त्र

देवी का यन्त्र ही देवी का शरीर है, जिसे श्रीयंत्र कहते हैं। यन्त्र के मध्य में स्थित बिन्दु देवी का निवास स्थान है। जिस प्रकार ब्रह्मरन्ध्र में आत्मा का निवास स्थान माना गया है, ठीक उसी प्रकार यन्त्र शरीर में देवी का निवास स्थान बिन्दु रूप में है। बिन्दु आद्यस्पन्दन, आद्यकामना और क्रियाशक्ति का प्रतीक है। यन्त्र देवी की अनन्त शक्ति, प्रतिभा और व्यक्तित्व का केन्द्र है।

यन्त्र के चारों तरफ के वर्गाकृति को, जिसे द्वार भी कहते हैं, चिन्तामणि गृह कहा जाता है। यन्त्र तक पहुँचने मात्र से ही व्यक्ति की समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। जिसके चिन्तन, कामना और इच्छामात्र से सभी प्रकार की इच्छायें-आकांक्षायें पूर्ण हो जायें वह चिन्तामणि गृह है। चिन्तामणि गृह में पंचदेवों और पंचप्रेतों का निवास है। देवी स्वयं में सर्वव्यापी शक्ति का प्रतीक हैं। उनके बिना किसी प्रकार की क्रिया, सृष्टि, स्थिति या संहार सम्भव नहीं है। अतः देवी सर्वव्यापी शक्ति स्वरूपा हैं। इसके पुरुष रूपों में पाँच देवता : ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईशान और सदाशिव आते हैं। ब्रह्मा चेतना की सृजनात्मक शक्ति हैं। विष्णु चेतना की पालन शक्ति हैं। रुद्र का सम्बन्ध रुदन और रौद्र दोनों से है। रुदन का तात्पर्य रोने से या विषाद से है। रौद्र का अर्थ होता है भयंकर या क्रोधपूर्ण। यहाँ रुद्र के स्वरूप में रुदन और भयंकर रूप दिखलाई देते हैं। रुदन का अभिप्राय है – एक स्थिति में परिवर्तित होना। जब परिवर्तन होता है, किसी क्रिया में संहार और नाश का क्रम होता है, तब उसमें रुदन और रौद्र क्रियायें होती हैं। यह पुरुष तत्त्व की संहार क्षमता है। ईशान शिव-तत्त्व का ही सूक्ष्म रूप है। जो चेतना सम्पूर्ण जगत में व्याप्त हो, स्थूल और सूक्ष्म में तथा दसों दिशाओं में व्याप्त हो उसका रूप ईशान का है। इनके बाद शिव का रूप आता है। शिव का अर्थ होता है कल्याणकारी, मंगलमय। यहाँ शिव के साथ सदा उपसर्ग लगा हुआ है। तात्पर्य यह कि जो सदा-सर्वदा, सभी अवस्थाओं और परिस्थितियों में तथा सभी कालों में मंगलमय हो, कल्याणकारी हो, वह सदाशिव है। सदाशिव की यह स्थिति शक्ति की स्थिति से अभिन्न है। इन पंचदेवताओं का निवास देवी यन्त्र के चिन्तामणि गृह में होता है। ये पंचदेव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह का कार्य करते हैं।

पंचप्रेतों की चर्चा भी है। प्रेत हैं आत्मायें। ब्रह्माण्ड में व्याप्त पंचप्रेत कौन हैं ? वे पंचतत्त्व हैं : आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। इन पंचतत्त्वों को, जिनकी अलग स्थिति है, प्रेत या आत्मा का रूप दिया गया है। इन प्रेतों का कार्य पंचदेवों या देवी द्वारा निर्धारित होते हैं। इन प्रेतों के पारस्परिक मिलन, संयोजन और क्रम परिवर्तन के परिणाम स्वरूप ही सृष्टि में अनेक विविधतायें और रूप दिखलाई पड़ते हैं। एक प्रकार के सृष्टि–प्रकरण में किसी एक तत्त्व की मात्रा अधिक रहती है, तो दूसरे प्रकार के सृष्टि-प्रकरण में दूसरे तत्त्व की मात्रा अधिक रहती है।

यन्त्र में शिव और शक्ति कामेश्वर और कामेश्वरी के रूप में है; कामेश्वर हैं कामना करने वाले ईश्वर और कामेश्वरी हैं कामना को क्रियान्वित करने वाली शक्ति। 'सौन्दर्य लहरी' के प्रथम मन्त्र 'शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं'; में शिव और शक्ति के युक्त होने की चर्चा है। एक अवस्था में दोनों का समावेश होना या एक साथ होना कामेश्वर और कामेश्वरी का रूप है।

विभिन्न कलाओं के साथ अभिव्यक्ति

तन्त्र के अनुसार सूर्य इस सृष्टि में परम तत्त्व का प्रतीकात्मक रूप है। सूर्य का सम्बन्ध ज्ञान या प्रकाश से होता है। अग्नि या तेज परम तत्त्व की व्यक्त क्रियात्मक शक्ति का प्रतीक है, क्रियात्मक गतिविधि है। चन्द्रमा को परम तत्त्व के कामना रूप या इच्छा रूप का प्रतीक माना गया है। तन्त्र शास्त्र, उपनिषद् एवं योग में मन, मानसिक क्रियाकलापों तथा सम्पूर्ण मन के क्षेत्र को चन्द्रमा की क्रिया रूप में देखा गया है। अन्धकार में किसी रूप या पदार्थ को प्रकाशित करने वाला चन्द्रमा का प्रकाश है। उस प्रकाश में पूर्ण स्पष्टता नहीं रहती, उसमें सभी प्रकार के रूप पदार्थ को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, पर उनके रंगों को स्पष्ट नहीं देख सकते। उदाहरण के लिये, एक फूल को देखने से फूल का आकार, रंग, पंखुड़ियों के आकार तथा उभार आदि स्पष्ट रूप से दिखलाई देते हैं। कुछ समय के बाद यदि उस फूल को मन में ठीक उसी रूप में देखना चाहेंगे तो यह सम्भव नहीं होगा। उस फूल और उसकी पंखुड़ियों के आकार-प्रकार तथा उभार की सही कल्पना करना सम्भव नहीं होता, तथापि उस अनुभव को चेतन से अवचेतन और अचेतन में ले जाने एवं पुनः अचेतन से अवचेतन और चेतन में वापस लाने की एक प्रक्रिया चलती रहती है।

यह संभव है कि प्राप्त ज्ञान या अनुभव पूर्ववत् स्पष्ट न रहे। इस प्रकार के ज्ञान या अनुभव का आभास अचेतन के अन्धकार तथा अवचेतन की कुहेलिका में होता है और यह आभास जीवन में चन्द्रशक्ति के कारण होता है। सभी प्रकार के मानसिक क्रियाकलापों को चन्द्रशक्ति की क्रिया तथा परिणाम मानते हैं। योग में इड़ा और पिंगला अथवा चन्द्रशक्ति और सूर्य शक्ति के प्रवाहों की चर्चा होती है। पिंगला है सूर्यशक्ति या प्राणशक्ति जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों की बाह्य अभिव्यक्ति से है। इड़ाशक्ति या चन्द्रशक्ति का सम्बन्ध इन्द्रियों की आन्तरिक अभिव्यक्ति से, चित्तशक्ति से है।

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम १. सूर्य या प्राण और २. चन्द्र या मन की सृष्टि की। यहाँ कामना और इच्छाशक्ति को चन्द्रमा के प्रतीक के साथ जोड़ा गया है।

देवी काल सीमा के अन्तर्गत पन्द्रह शक्तियों (तिथियों) का रूप धारण करती हैं। प्रथमा से पूर्णिमा तक चन्द्रमा की पन्द्रह कलायें देवी के पंचदशी मन्त्र के प्रतीक हैं। पन्द्रह

कलाओं में पन्द्रह मात्राओं तथा मन्त्रों की अभिव्यक्ति है, जो पंचदशी मन्त्र कहलाते हैं। चन्द्रमा की पन्द्रह कलायें देवी के विभिन्न रूप और नाम हैं, जिन्हें नित्यशक्ति कहते हैं। अमावस्या देवी के प्रथम रूप कामेश्वरी नित्य का प्रतीक है। पूर्णिमा की कला के रूप में देवी का नाम आद्यशक्ति है। देवी के इन नामों में 'नित्य' जुड़ा है जिसका तात्पर्य नित्यशक्तियों से है। प्रत्येक चन्द्रकला या तिथि के साथ देवी के अलग-अलग नाम इस प्रकार हैं :–

0 – अमावस्या — कामेश्वरी नित्य
1 – प्रथमा — भगमालिनी नित्य
2 – द्वितीया — नित्या क्लिन्न नित्य
3 – तृतीया — भेरुण्ड नित्य
4 – चतुर्थी — वह्निवासिनी नित्य
5 – पंचमी — महाबज्रेश्वरी नित्य
6 – षष्ठी — दूती नित्य
7 – सप्तमी — त्वरिता नित्य
8 – अष्ठमी — कुलसुन्दरी नित्य
9 – नवमी — नित्यानित्य
10 – दशमी — नीलपट्टिका नित्य
11 – एकादशी — विजया नित्य
12 – द्वादशी — सर्वमंगला नित्य
13 – त्रयोदशी — ज्वालामालिनी नित्य
14 – चतुर्दशी — चित्रा नित्य
15 – पूर्णिमा — आद्या नित्य

मास के प्रत्येक पक्ष में चन्द्रमा प्रतिदिन घंटता-बढ़ता है। अमावस्या में दिखाई नहीं पड़ता और पूर्णिमा में पूर्णचन्द्र दिखता है। शेष दिन उसका आंशिक रूप दृष्टिगोचर होता है। चन्द्रमा के आंशिक रूपों को देखकर यह नहीं कहते कि चन्द्रमा में पूर्णता का अभाव है। इसी प्रकार त्रिपुर सुन्दरी पूर्णिमा रूप में अपने पूर्ण ऐश्वरर्य या सम्पूर्ण तेज के साथ अभिव्यक्त होती हैं। उपरोक्त नित्य शक्तियाँ या आंशिक अभिव्यक्तियाँ द्रष्टा के आंशिक ज्ञान के कारण हैं। वस्तुतः प्रत्येक नित्य शक्ति पूर्ण ज्ञान से युक्त होती है लेकिन साधक को उसका आंशिक ज्ञान ही प्राप्त हो पाता है।

चन्द्रमा की प्रत्येक कला कामना का प्रतीक है। उसका एक रूप, एक मन्त्र, एक यंत्र, एक देवी और एक गुण भी होते हैं। त्रिपुर सुन्दरी की साधना में चन्द्रमा की तिथि के अनुसार एक मन्त्र और एक यंत्र से देवी के एक रूप की पूजा करनी पड़ती है। पन्द्रह दिनों में पन्द्रह प्रकार के मन्त्र, यंत्र और देवी का उपयोग करना होता है, लेकिन ये त्रिपुर सुन्दरी की बाह्य आराधना की साधनायें हैं।

आद्यानित्या, षोड़षी या त्रिपुर सुन्दरी का यन्त्र श्रीयन्त्र है।

आन्तरिक साधना

देवी की आन्तरिक साधना का भी विधान है। इस उपासना पद्धति के अनुसार आज्ञाचक्र और सहस्रार चक्र में ध्यान लगाया जाता है। सहस्रार चक्र में शिव और शक्ति का पूर्ण योग है; आज्ञा चक्र में आंशिक योग है और आज्ञा चक्र के नीचे के विभिन्न क्षेत्रों में शिव और शक्ति तत्त्व पृथक हैं। आज्ञा चक्र और सहस्रार चक्र में मन्त्र और यंत्र के साथ कामेश्वर तथा कामेश्वरी की आराधना होती है। इस साधना में पाँच यमों एवं पाँच नियमों का पालन किया जात है। इनमें सन्तोष, ईश्वर प्रणिधान तथा आत्मविश्वास पर विशेष बल दिया जाता है। सन्तोष परमावश्यक है। जब तक साधक संतुष्टि का अनुभव नहीं करता, उसकी कामना, इच्छा और वासनायें उसे बाह्य विषयों और पदार्थों की ओर खींचती रहेंगी। सन्तोष में विषय आकर्षण नहीं रहता। ईश्वर प्रणिधान या देवी प्रणिधान में भाव रहे कि माता ही सभी प्रकार की कामनाओं या इच्छाओं को पूर्ण करने में सक्षम हैं। मातृशक्ति पर पूर्ण विश्वास रहना चाहिये, पूर्ण आस्था बनी रहनी चाहिये। अन्त में आत्मविश्वास भी पूर्ण होना चाहिये। स्वयं पर यह विश्वास होना चाहिये कि मैं इस साधना को करने में सक्षम तथा अनुग्रह प्राप्त करने में सफल हो जाऊँगा।

श्रीयन्त्र

त्रिपुर सुन्दरी का यन्त्र है श्रीयन्त्र। देखने में जटिल लेकिन वस्तुतः है एक सरल यन्त्र। इस यन्त्र में नौ त्रिकोण हैं : पाँच शक्ति त्रिकोण और चार शिव त्रिकोण। चार शिव त्रिकोण पाँच शक्ति त्रिकोणों पर अध्यारोपित हैं। बीच में बिन्दु शक्ति का निवास स्थान है। प्रत्येक शक्ति त्रिकोण पंच तन्मात्रा, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय और पंचप्राण

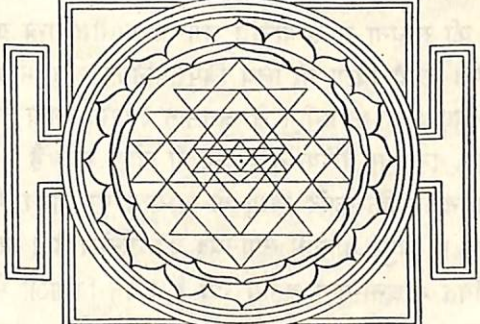

श्रीयन्त्र का चित्र

के द्योतक हैं । चार शिव त्रिकोण चेतना की विभिन्न अवस्थाओं – चेतन, अवचेतन, अचेतन और महाचेतन अथवा जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय के प्रतीक हैं । चार शिव त्रिकोणों और पाँच शक्ति त्रिकोणों के मिलन से लोकों की सृष्टि होती है ।

इन अध्यारोपित त्रिकोणों के चारों तरफ एक वृत्त रहता है, जिस पर कमल के आठ दल हैं । इन आठ दलों का अभिप्राय पंचतन्मात्राओं, स्वीकृति, अस्वीकृति और समभाव से है । इस अष्टदल कमल को सर्वसंक्षोभण चक्र कहते हैं । अष्टदल कमल के ऊपर एक षोडशदल या सोलह दलों वाला कमल है । ये सोलह दल पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और अन्तःकरण के प्रतीक हैं । पंचतत्त्वों से सृष्टि-क्रम प्रारम्भ होता है । दस इन्द्रियों के बिना सृष्टि कार्य नहीं हो सकता है । अंतःकरण व्यक्त सत्ता और अव्यक्त सत्ता के बीच एक सम्पर्क, कड़ी का कार्य करता है ।

षोडशदल कमल के चारों ओर एक चतुष्कोण, चतुर्भुज या वर्गाकृति द्वार रूप में है जिसे त्रैलोक्य मोहन चक्र कहते हैं । इस चक्र में तीनों लोकों को आकर्षित या मोहित करने की क्षमता है । मोहित करने या आकर्षित करने का तात्पर्य अपने बन्धन में, अपने प्रभावक्षेत्र या नियंत्रण में रखने से है । जब साधक त्रैलोक्य मोहन चक्र के भीतर प्रवेश करता है, तो अर्थ होता है कि वह सूक्ष्म ब्रह्माण्डीय जगत के भीतर प्रवेश कर रहा है । किसी द्वार से बाहर निकले तो इसका अभिप्राय है कि साधक मोह से मुक्त हो गया । यह श्रीयन्त्र त्रिपुर सुन्दरी की आराधना का यन्त्र है । इस यन्त्र में तीनों बीज मन्त्रों – ऐं, क्लीं, सौः का प्रयोग किया जाता है ।

श्रीविद्या साधना हेतु श्रीयन्त्र के अतिरिक्त नवयोनि-चक्र यन्त्र का भी प्रयोग किया जाता है । नवयोनिचक्र श्रीयन्त्र का ही एक संक्षिप्त यन्त्र है जिसमें दो शक्ति त्रिकोण और एक शिव त्रिकोण होता है ।

ग्रन्थ

त्रिपुर सुन्दरी की साधना से सम्बन्धित लगभग चालीस तन्त्र ग्रन्थ हैं । हर विद्या के लिये अलग ग्रन्थ हैं । कादि विद्या के लिये त्रिपुरोपनिषद् और भावनोपनिषद् मुख्य ग्रन्थ माने गये हैं । उपनिषद् शब्द के प्रयोग से अनुमान लगाया जाता है कि इस तन्त्र पद्धति के अभ्यास में वैष्णव तन्त्र या वैदिक तन्त्र को भी जोड़ा गया है । तन्त्र में उपनिषद् तो नहीं होते हैं । संभावना है कि कादि विद्या के अभ्यास पर वैदिक विचारधारा का प्रभाव पड़ा हो । हादि विद्या में त्रिपुर तापिनी उपनिषद् का उल्लेख है । इस विद्या में भी वैदिक विचारधारा से प्रभावित साधना-मार्ग बताये गये हैं । इन विद्याओं में शुद्ध तान्त्रिक सादि विद्या है, जिसके मुख्य ग्रन्थ हैं : तन्त्रराज तन्त्र, मात्रिकार्णव तन्त्र, योगिनी हृदय तन्त्र और त्रिपुरार्णव तन्त्र । सादि विद्या में शुद्ध तन्त्र मार्ग की चर्चा है और कादि तथा हादि विद्या में मिश्रित तन्त्र की ।

४. महाविद्या : भुवनेश्वरी

रूप एवं अर्थ

काली, तारा और त्रिपुर सुन्दरी को क्रमशः कालशक्ति, तारकशक्ति और इच्छाशक्ति के रूप में देखा गया है। चौथी महाविद्या है भुवनेश्वरी, जो ज्ञानशक्ति के रूप में देखी जाती है।

तान्त्रिकों ने परमतत्त्व को प्रकाश के रूप में देखा है। उसका स्वरूप आदि ज्योति का, ज्ञान का है। वह परम तत्त्व स्वयं में प्रकाशित है और प्रकाश को विस्तारित कर अज्ञान, अविद्या और अन्धकार को दूर करता है। इस विस्तार से आकाश की उत्पत्ति होती है। भुवनेश्वरी आकाश तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है। जब प्रकाश परिवर्तित या रूपान्तरित होता है तब आकाश या परम व्योम का, अनन्त व्योम का अनुभव होता है।

उपसर्ग 'आ' का अर्थ होता है सीमा, एक सीमित क्षेत्र। 'अमरकोष' में 'आङ्ईषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे' अर्थात् 'आ' की परिभाषा एक सीमित क्षेत्र के रूप में दी गई है। आकाश की अनुभूति दो प्रकार की है ; एक अनुभूति दृष्टि द्वारा सीमित होती है और दूसरी सृष्टि द्वारा सीमित है। दृष्टि की अपनी सीमा रहती है। जहाँ तक दृष्टि की सीमा है वहाँ तक मनुष्य को आकाश का अनुभव होता है लेकिन दृष्टि से मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को, सम्पूर्ण सृष्टि को नहीं देख सकता, तब सृष्टि में आकाश की चर्चा होती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ग्रह और नक्षत्र आकाश में अवस्थित हैं।

सृष्टि की शुरुआत दृष्टि से होती है। उपनिषदों में 'तदैक्षत' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'उसने देखा।' परम तत्त्व ने सृष्टि की इच्छा से अपनी दृष्टि को चारों तरफ घुमाया तो स्वयं को देखा, स्वयं का अनुभव किया। किसी वस्तु, रूप या पदार्थ को देखें तो कहाँ देखें ? यदि आकाश न रहे तो पदार्थ भी नहीं रहेगा। पदार्थों का अनुभव आकाश तत्त्व के अन्तर्गत होता है। यहाँ स्वयं को देखने की चर्चा हो रही है "परम तत्त्व ने स्वयं को देखा।" यह विचार स्वयं के विस्तार का विश्लेषण है। यदि मन में इच्छा हो कि एक से अनेक बनूँ, तो अनेक कहाँ बनूँगा ? अपने आगे-पीछे, अगल-बगल एवं ऊपर-नीचे ही बनूँगा; सभी दिशाओं में अपने आपको व्याप्त करूँगा। मुझसे भिन्न जो अन्य रूप यहाँ दिखलाई दे रहे हैं वे आकाश में ही स्थित हैं। अतः आकाश तत्त्व या सम्पूर्ण आकाश तत्त्व की कल्पना भुवनेश्वरी का रूप माना गया है।

जिसे आकाश कहते हैं वह मनुष्य की अपनी ही दृष्टि की सीमा है। जैसे-जैसे दृष्टि का क्षेत्र बढ़ता है वैसे-वैसे अधिक व्यापक आकाश का अनुभव होता है। उदाहरणार्थ यदि जमीन पर खड़ा होकर मनुष्य अपनी दृष्टि चारों तरफ दौड़ाये, तो वह एक सीमित क्षेत्र तक ही पहुँचती है। यदि मनुष्य एक बहुमंजिले भवन की छत पर चढ़कर चारों तरफ देखे तो बहुत बड़ा क्षेत्र दिखलाई देगा। यदि हवाई जहाज में बैठकर विभिन्न दिशाओं में अपनी दृष्टि डाले तो अत्यधिक व्यापक क्षेत्र दिखलाई देगा। आकाश तत्त्व में

मनुष्य की चेतना का जैसे-जैसे विस्तार होता है वैसे-वैसे उसकी भौतिक अवस्था का आयाम घटता जाता है और अन्ततः उसके लिये उस भौतिक अवस्था का अस्तित्व समाप्त हो जाता है । इसीलिये तान्त्रिकों ने कहा है कि मनुष्य को गुह्य ज्ञान और गुह्य आध्यात्मिक चेतना का अनुभव आकाश तत्त्व में होता है ।

भुवन शब्द से भुवनेश्वरी बना है । भुवन का सामान्य अर्थ है जगत, संसार । तन्त्र के अनुसार भुवन वह है जिसने 'व्यक्त रूप में अपनी स्थिति को प्राप्त कर लिया है ।' लोक का अर्थ होता है 'जिसका अनुभव हो ।' आकाश के क्षेत्र या सीमा में जिन पदार्थों का अनुभव हो तथा जिन पदार्थों ने अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया है वे भुवन हैं । यह जगत भुवन है । मनुष्य स्वयं में भुवन है । संसार के सभी प्राणी स्वयं में भुवन हैं । हम एक रूप प्राप्त कर चुके हैं, हम स्वयं का तथा अपने शरीर का अनुभव करते हैं । हम दूसरों को देखते हैं, उनका अनुभव करते हैं । हम पशु, पक्षी, पौधे और पत्थर को देखते हैं और उनका अनुभव प्राप्त होता है । जिस लोक में अनुभव की प्राप्ति हो वह भुवन है । भुवन की शक्ति है भुवनेश्वरी । उसके अन्तर्गत सब कुछ समाहित है । आकाश रूप में वह जगत का निर्माण करती है । उसे जगद्धात्री भी कहा गया है; इसका अर्थ है जगत को धारण करने वाली । इस रूप में वह जगत का पालन-पोषण और संरक्षण करती है । इसलिये जगन्माता के रूप में भी देखा जाता है ।

वेदों में परम तत्त्व को तीन नामों से सम्बोधित किया गया है : **सत्यम् , ऋतम्** और **बृहत्** । सत्यम् का अर्थ होता है चेतना, आत्मा या परम तत्त्व का वास्तविक रूप । यह आत्मा की मूल अवस्था है । जब अतीन्द्रिय चेतना या सत्यम् सकारात्मक अभिव्यक्ति और क्रियात्मक सृष्टि के लिये अपने आप को व्यवस्थित या सुसंगठित करता है और सृष्टि तथा अभिव्यक्ति का क्रम प्रारम्भ होता है, तब वह ऋतम् कहलाता है । व्यवस्थित या सुसंगठित करने के प्रयास में व्यक्त अनुभव का छिपा हुआ स्वरूप है, ऋतम् । सत्यम् और ऋतम् के बीच में बृहत् है । बृहत् का अभिप्राय व्यापकता या विस्तार से है । सत्यम् से ऋतम् में परिवर्तन, रूपान्तरण या परिणति बृहत् अवस्था में होती है । बृहत् को परम् व्योम या अन्तरिक्ष कहा जाता है । इसे व्यापक या विस्तृत चेतन भी कह सकते हैं, जो सत्यम् की परिणति का माध्यम बनता है । सत्यम्, बृहत् और ऋतम् क्रमशः विकास की तीन अवस्थायें या स्तर हैं ।

वेदों में देवमाता अदिति भुवनेश्वरी है । अदिति का अर्थ होता है बृहत्, व्यापक या विस्तृत चेतन तत्त्व । अदिति शब्द 'अद्' धातु से बना है जिसका तात्पर्य खाना या निगलना होता है । जीव भोज्य सामग्रियों को ग्रहण तथा भक्षण करके अपने अन्दर समाहित करता है, ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि आकाश तत्त्व में समाहित है । जहाँ आकाश नहीं, वहाँ सृष्टि नहीं । आकाश तत्त्व ने सम्पूर्ण सृष्टि को निगल रखा है, अपने भीतर में समाहित कर रखा है । निगलने या खाने की इस धारणा का सम्बन्ध अदिति से

है। उपनिषदों में 'अदिति अन्तरिक्षम्' भी कहा गया है अर्थात् अदिति अन्तरिक्ष है। यहाँ अन्तरिक्ष का अभिप्राय मध्य स्वर्ग या मध्य आकाश से है। आरम्भ से ही आकाश की तीन अवस्थाओं में कल्पना की गई है। एक है अव्यक्त परम तत्त्व, सत्यम् जिसमें स्वयं आकाश समाहित है। इसके बाद मध्य आकाश है, जिसमें परिवर्तन और रूपान्तरण होता है, जिसे बृहत् कहा गया है। अन्त में है व्यक्त आकाश। मनुष्य व्यक्त आकाश का अनुभव कहता है; व्यक्त आकाश में सूर्य, चाँद और सितारों का अनुभव होता है। आकाश तत्त्व में ज्ञान, काल और क्रिया, पदार्थ एवं अन्य सब-कुछ समाहित है। आकाश तत्त्व में परम के विस्तार के कारण ही नाम और रूप का अनुभव होता है। यदि आकाश तत्त्व में परम का विस्तार नहीं होता तो नाम और रूप नहीं रहते।

पुराणों में महर्षि कश्यप की अर्धांगिनी अदिति हैं। कश्यप का अर्थ, देखनेवाला होता है 'पश्यति इति कश्यपः'। अदिति कश्यप की शक्ति अर्धांगिनी हैं। इस प्रकार कश्यप देखनेवाला, द्रष्टा है और अदिति है दृष्टि शक्ति, देखने से जो अनुभव प्राप्त होता है उसे ग्रहण करने की क्षमता। यह भी कहा जा सकता है कि अदिति अनुभव शक्ति है, जिसका विस्तार आकाश में होता है और वह अनुभव आकाश में व्याप्त है।

भुवनेश्वरी को माया के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। माया का सामान्य अर्थ होता है – भ्रम। तन्त्र में माया के दो रूपों की चर्चा होती है : **१. ब्रह्माण्डीय रूप** और २. **भ्रान्तिपूर्ण अनुभव-ज्ञान**। ब्रह्माण्डीय रूप में मायाशक्ति सम्पूर्ण सृष्टि को नापती है, नापकर स्वयं में समाहित करती है तथा अपने नियन्त्रण में रखती है। माया के दूसरे रूप, भ्रान्तिपूर्ण अनुभव-ज्ञान का सम्बन्ध दृश्य जगत् से होता है। यह इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से प्राप्त ज्ञान है। माया शब्द की उत्पत्ति 'मा' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है मापना। जो एक असीम तत्त्व या एक अनन्त रूप को नापकर उसे एक रूप दे, उसकी एक सीमा बनाये।

मायावादियों के लिये माया अवास्तविक है। वे कहते हैं कि जिस अनंत को मापा नहीं जा सकता उसे मापने का यदि प्रयास किया जाय या हो तो वह सत्य नहीं, भ्रामक और भ्रान्तिपूर्ण है। तान्त्रिकों का कहना है कि व्यापक अनन्त चेतना की शक्ति असंख्य नाम और रूपों से स्वयं को अभिषिक्त करती है, स्वयं के लिये असंख्य नाम और रूप अपनाती है। हर नाम और रूप को अलग-अलग तरीके से पहचाना जाता है। अन्तरिक्ष या आकाश तत्त्व में जहाँ कहीं भी कोई अभिव्यक्ति हो, चाहे वह नाम की हो या रूप की, उसकी एक सीमा होती है। मन में कोई विचार उत्पन्न होता है। पहले उस विचार का अस्तित्व नहीं था, वह चेतना में नहीं था। उसे एक रूप मिलने पर एक प्रारंभ और एक अन्त होता है। क्रिया का प्रारंभ और अन्त होता है। प्रक्रिया का प्रारंभ और अन्त होता है। 'प्रारंभ से अन्त' का यह क्रम, अवधारणा, या मापने का तरीका माया की शक्ति है। भुवनेश्वरी, विश्व की शक्ति को इसी रूप में देखा गया है।

सांख्य की 'प्रकृति' तन्त्र की 'भुवनेश्वरी' है। सृष्टि के क्रियात्मक गुण या अभिव्यक्ति की गत्यात्मक प्रकृति के सभी रूपों और कर्मों का द्रष्टा और भोक्ता परम पुरुष होता है। भुवनेश्वरी के अभाव में, आकाश तत्व के अभाव में, या माया के अभाव में परम तत्त्व अपने आपको अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं है। भुवनेश्वरी ही माध्यम बनती है। भुवनेश्वरी ही क्षेम बनती है जहाँ परम तत्त्व की अभिव्यक्ति हो सकती है।

काली और भुवनेश्वरी काल और आकाश रूप में सर्वत्र, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। काली काल और क्रम का निर्धारण करती है। निर्माण तथा क्रियाओं का निर्धारण भुवनेश्वरी के द्वारा होता है। ये दोनों शक्तियाँ साथ-साथ रहती हैं। बिना काली के भुवनेश्वरी अव्यक्त आकाशरूप में निष्क्रिय रहती है। बिना भुवनेश्वरी के काली भी काल और क्रम का निर्माण नहीं कर सकती। काल और क्रम के लिये क्रमिक पद्धति तथा कालचक्र की व्यवस्था के लिये आकाश तत्त्व का होना आवश्यक है।

त्रिपुर सुन्दरी तीन लोकों की अधिष्ठात्री है, जिसे तीनों लोकों में समाहित और तीनों लोकों से परे देखा गया है। किन्तु भुवनेश्वरी को तीन लोकों में व्याप्त देखा जाता है, परे नहीं। बोध, अनुभव या सजगता के पूरे क्षेत्र में भुवनेश्वरी व्याप्त है। वह आणविक ब्रह्माण्ड तथा व्यापक ब्रह्माण्ड में समाहित है।

देवी का स्वरूप

भुवनेश्वरी लाल वस्त्र धारण किये हुए अन्तरिक्ष में खड़ी है। उसके तीन नेत्र और चार भुजायें हैं। एक हाथ में पाश तथा दूसरे में अंकुश है। तीसरा हाथ अभयमुद्रा में है और चौथा वरद मुद्रा में। भुवनेश्वरी का लाल वस्त्र रजोगुण का द्योतक है। रजोगुण का रंग लाल है। रजोगुण के द्वारा ही अनन्त, बृहत् आकाश में क्रिया का प्रारंभ होता है। देवी के तीन नेत्र तीनों लोकों को देखते हैं। आकाश की अनुभूति केवल इन्द्रिय जगत या स्थूल जगत में नहीं, वरन् सूक्ष्म और कारण में भी होती है। इस प्रकार यह शक्ति तीनों लोकों में समाहित है। अंकुश का अभिप्राय आकाश भूत के नियन्त्रण से है। यह ब्रह्माण्डीय नियम-व्यवस्था है। यदि नियम-व्यवस्था न रहे, तो सभी ग्रह, नक्षत्र और आकाशगंगा अपनी-अपनी धुरी या मार्ग से विचलित हो जायेंगे। अतः अनुशासन रखने की क्षमता को अंकुश के रूप में दर्शाया गया है। पाश बन्धन का प्रतीक है। सृष्टि का क्षेत्र, सृष्टि की सीमा या सृष्टि का बन्धन पाश रूप में है। अभयमुद्रा से वे अपने उपासकों को निर्भय रहने का निर्देश देती है। आध्यात्मिक दृष्टि से अभयमुद्रा महत्वपूर्ण है। साधक साधना- मार्ग में आगे बढ़ने और मनोनियन्त्रण प्राप्त करने के बाद शून्यावस्था को प्राप्त करता है। योगसूत्रों में इसे प्रत्ययरहित अवस्था कहा गया है। इस प्रत्ययरहित या शून्य अवस्था में व्यक्तित्व का कोई परिचय नहीं रहता। उस समय साधक की अन्तःचेतना में आकाश तत्त्व की या व्यापक चेतना की अनुभूति होती है। देवी कहती है कि उससे भयभीत नहीं हो; शून्यता या आकाश को एक अवस्था के रूप में जानो और स्वीकार करो। वरद मुद्रा का अभिप्राय प्रदान करने की क्षमता या शक्ति से है। यह देने

की मुद्रा है, वरदान है; साधक अपनी झोली भर ले। देवी कहती हैं कि साधना के द्वारा तुम मेरे स्रोत या मूल में जाने की क्षमता प्राप्त कर सकते हो, वह सामर्थ्य मैं तुम्हें प्रदान करती हूँ।

बीजाक्षर मन्त्र

भुवनेश्वरी का बीजाक्षर मन्त्र 'ह्रीं' है। जिस प्रकार वेदों में 'ॐ' को प्रणव माना गया है, उसी प्रकार तन्त्र में ह्रीं को प्रणव माना गया है। माण्डूक्य उपनिषद् में ॐ को 'अ उ म ', 'प्रथमा मात्रा, द्वितीया मात्रा, तृतीया मात्रा,' 'अकार, उकार, मकार' इत्यादि कहा गया है। वेदान्त में ॐ की परिभाषा 'जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय' अथवा 'स्थूल, सूक्ष्म, कारण और परम' के रूप में की गई है। तन्त्र शास्त्र में ह्रीं का महत्व वेद के प्रणव के समान है।

ह्रीं बीज मन्त्र का एक अन्य नाम हृल्लेखा या हृरेखा है। 'हृद्' का तात्पर्य हृदय से है। इस प्रकार हृरेखा का अर्थ होता है हृदय से उत्पन्न रेखा। इस विचारधारा को आकाश तत्त्व के सन्दर्भ में समझना होगा। परा अवस्था बृहत् आकाश है। चेतना के हृदयाकाश में अवस्थिति से चेतना का विकास सीधा अनन्त की ओर होता है। हृल्लेखा या हृरेखा वह है जो हृदयाकाश से शुरू होकर सीधा बृहत् आकाश की ओर जाय। इसके बृहत् आकाश में जाने पर जो स्पन्दन, ध्वनि या नाद उत्पन्न होता है उसका स्वरूप है ह्रीं। इसमें निरन्तर विकास की स्थिति रहती है; निवर्तन या वापसी नहीं। इसीलिये इस मन्त्र को प्रणव रूप में देखा गया है अर्थात् यह अवस्था साधक को एक सीमित अनुभव के क्षेत्र से विस्तृत अनुभव के क्षेत्र में ले जाती है। सीमित से असीम की ओर जाने से स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं को पार किया जाता है, इसीलिये ह्रीं को अनन्त या प्रणव की उपमा दी गई है।

संस्कृत में 'ह्री' धातु का अर्थ लज्जा होता है। लज्जा या संकोच में छिपी हुई अनन्त शक्ति का प्रतिनिधित्व ह्रीं मन्त्र करता है। जहाँ लज्जा या संकोच हो वहाँ अभिव्यक्ति में पूर्णता की स्थिति नहीं हो सकती। जहाँ संकोच या लज्जा हो वहाँ अधिक विस्तार की सम्भावना निहित है। विकास की सम्भावना सम्पूर्ण सृष्टि में छिपी हुई है। भुवनेश्वरी में विकास की असीम सम्भावनायें हैं, अनन्त तक।

भुवनेश्वरी साधना

भुवनेश्वरी उपासना के क्रम में मनुष्य को तीन फल प्राप्त होते हैं : **एकाग्रता, शान्ति, आत्मशक्ति**। ये तीनों फल आध्यात्मिक जगत में उन्नति के आधार बनते हैं। भुवनेश्वरी विद्या को सिद्ध करने और आध्यात्मिक जगत में आगे बढ़ने के लिये इन तीनों की आवश्यकता होती है। साधना के लिये चेतना के क्षेत्र के विस्तार के लिये प्रत्याहार और धारणा के उपाय बताये जाते हैं। प्रचलित तरीकों में सबसे मुख्य है–आकाशी धारणा। आकाशी धारणा के अनेक प्रकारों में तीन मुख्य हैं : **१. दहराकाश धारणा, २. हृदयाकाश धारणा** और ३. **चिदाकाश धारणा**। दहराकाश, हृदयाकाश और चिदाकाश

सूक्ष्म शरीर में आकाश तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके माध्यम से चेतना के सूक्ष्म क्षेत्रों तक पहुँचना भुवनेश्वरी विद्या के आधार हैं। योग में अनाहत चक्र की जागृति भुवनेश्वरी सिद्धि है क्योंकि अनाहत में आकाश तत्त्व की पूर्णता दिखलाई पड़ती है। अनाहत में आकाश तत्त्व से सम्बन्धित आन्तरिक अनुभव होते हैं, जिनका स्वरूप स्थूल भावना का भी हो सकता है। उनके परे चले जाना साधक का लक्ष्य होता है।

यन्त्र

भुवनेश्वरी यन्त्र अनाहत चक्र से मिलता-जुलता है। अनाहत चक्र में अन्तर्ग्रथित शिव और शक्ति त्रिकोण रहते हैं। भुवनेश्वरी यन्त्र के मध्य में भी अन्तर्ग्रथित शिव और शक्ति त्रिकोण होते हैं। इस शिव-शक्ति त्रिकोण के चारों ओर एक वृत होता है और वृत्त के चारों ओर एक अष्टदल कमल। इस अष्टदल कमल के चारों ओर एक वृत्त और उसके ऊपर पुनः अष्टदल कमल रहता है। यन्त्र के मध्य के दो अन्तर्ग्रथित त्रिकोणों में शिव त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी और शक्ति त्रिकोण अधोमुखी होता है। आकाश में परम तत्त्व और परम शक्ति का समावेश होता है। सृष्टि शक्ति का स्वरूप है और सृष्टि में चेतना का समावेश रहता है। ये दोनों क्रियायें आकाश में ही होती हैं, दोनों का मिलन केन्द्र आकाश है। इन अन्तर्ग्रथित त्रिकोणों के चारों ओर हैं दो वृत्त और प्रत्येक वृत्त के ऊपर है, अष्टदल कमल। यह है सर्वसंक्षोभण यन्त्र। पहला अष्टदल कमल है अपरा सृष्टि का प्रतीक और ऊपर वाला अष्टदल कमल है परा सृष्टि का प्रतीक। दोनों में पाँच दल पाँच तन्मात्राओं के प्रतीक हैं और शेष तीन दल तीन कार्यों के प्रतीक : **१. गुणों द्वारा स्वीकार्य कार्य, २. गुणों द्वारा नकारात्मक या संहारात्मक कार्य और ३. गुणों द्वारा पालक कार्य।**

ग्रन्थ

भुवनेश्वरी विद्या से सम्बन्धित चार मुख्य ग्रन्थ हैं : १. भुवनेश्वरी रहस्य, २. भुवनेश्वरी स्तोत्र, ३. भुवनेश्वरी और ४. भुवनेश्वरी पारिजात।

५. महाविद्या : त्रिपुर भैरवी

रूप और धारणायें

त्रिपुर भैरवी पंचम महाविद्या हैं। त्रिपुर भैरवी ईश्वर की क्रियाशक्ति या क्रियात्मक शक्ति का प्रतीक हैं। क्रिया-शक्ति का सम्बन्ध तपस् या तपस्या से है। तप या तपस्या किसी एक अवस्था में परिवर्तन लाने की क्रिया है। तप् धातु का अर्थ होता है, जलाना, भस्मीभूत करना। उपनिषदों में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व परम ने तपस्या की : 'सः तपोऽतप्त।' किंवदन्ती है कि परम ने तपस्या करके सर्वप्रथम हिरण्य-गर्भ को उत्पन्न किया। हिरण्यगर्भ का अर्थ होता है ब्रह्माण्ड। तपस्या के द्वारा ब्रह्माण्ड या हिरण्यगर्भ से पुरुष की उत्पत्ति होती है। पुरुष की उत्पत्ति जीव की उत्पत्ति है, अर्थात् ब्रह्माण्ड में जीव नामक पुरुष उत्पन्न होता है। तपस्या का अर्थ क्या है ? परम की स्वचेतना जब किसी एक बिन्दु में केन्द्रित होकर क्रियाशक्ति का रूप लेती है, तब वह तपस्या का रूप होता है। यहाँ

तीन मुख्य बिन्दु हैं : १. स्वचेतना का एक बिन्दु में केन्द्रित होना। केन्द्रित होना एकाग्रता की अवस्था है। २. स्वचेतना जब केन्द्रित होती है तो क्रियाशक्ति का आभास होता है। यहाँ एकाग्रता से क्रियाशक्ति की ओर इंगित किया जा रहा है। ३. क्रियाशक्ति को, जो एकाग्रता का परिणाम है, तप या तपस् कहते हैं।

अग्नि और तपस् की धारणा में भेद नहीं है। अग्नि में भी जलाने की, परिवर्तन और रूपान्तरण की क्षमता है। अग्नि को चिदाग्नि के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। चिदाग्नि का अर्थ होता है चेतना के भीतर में प्रज्वलित अग्नि या क्रियाशक्ति, अथवा चित्त या चेतना की अग्नि। यह प्राणी के भीतर में प्रज्वलित है। अग्निशक्ति ही तन्त्र की दस महाविद्याओं में त्रिपुर भैरवी है। इसका दूसरा नाम दुर्गा है। उसकी उत्पत्ति देवताओं के तेज से हुई है। वह तेज अग्निस्वरूप है। दुर्गा को अग्निवर्णा भी कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि उसका शरीर अग्नि के समान है, उसके शरीर से ज्वालायें उत्पन्न हो रही हैं। दुर्गा को 'तपसा ज्वलन्ती' भी कहते हैं, अर्थात् वह तपस् के तेज से प्रज्वलित है। दुर्गा को वैरोचनी भी कहा गया है। दुर्गा त्रिपुर भैरवी से भिन्न नहीं है।

योग में कुण्डलिनी शक्ति त्रिपुर भैरवी का रूप है। उसके दो रूपों की चर्चा है : **१. सुषुप्त रूप** और **२. जागृत रूप**। सुषुप्त कुण्डलिनी तपस्या की शान्त और एकचित्त अवस्था है; तपस्या की शान्त शक्ति है, तपस्या की निष्क्रिय शक्ति या निष्क्रिय अवधारणा है। जागृत होने पर कुण्डलिनी शक्ति तपस्या की उत्तेजित शक्ति है, जिसे तपस्या की गत्यात्मक शक्ति, गत्यात्मक अवधारणा या सक्रिया अवधारणा कहते हैं। उसकी स्थिरता या सुषुप्ति एक तत्त्व में एकाग्रता के कारण है। कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार केन्द्र में, पृथ्वी तत्त्व में सुषुप्त पड़ी है। उसकी यह सुषुप्त अवस्था पूर्णतः एकतत्त्व-धारणा की अवस्था है। यह पूर्ण एकाग्रता की अवस्था है। कुण्डलिनी शक्ति अपनी एकाग्रता में पूर्णरूपेण केन्द्रित है। उस एकाग्रता को भंग करना कठिन है। जब उसकी एकाग्रता भंग होती है, तब वह फुफकारती हुई अपना सिर उठाती है और ऊपर उठने लगती है। मूलाधार स्थित एक त्रिकोण में निवास करने के कारण कुण्डलिनी शक्ति या त्रिपुर भैरवी को 'त्रिकोणान्तर दीपिका' भी कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि वह एक त्रिकोण के भीतर दीप रूप या प्रकाश रूप में अवस्थित है। 'ललिता सहस्रनाम' में देवी के जिन एक हजार नामों की चर्चा होती है उनमें त्रिकोणान्तर दीपिका भी एक है। इसमें एक अन्य नाम आता है 'चिदाग्नि कुण्ड सम्भूता', अर्थात् चित्त की अग्नि-कुण्ड से उत्पन्न। यह नाम भी मूलाधार में देवी की अवस्थिति का द्योतक है। यही है त्रिपुर भैरवी।

जिसे हम सुषुप्त कुण्डलिनी कहते हैं वह वास्तव में सुषुप्त नहीं हैं। यह एक तत्त्व में, एक बिन्दु में पूर्णतः केन्द्रित शक्ति की अवस्था है। यदि शक्ति की यह केन्द्रित अवस्था नहीं होती तो तत्त्व में या चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में मुख्य रूप से विक्षिप्त अवस्था

का अनुभव होता । इस विक्षिप्त अवस्था का तात्पर्य उस विक्षिप्त अवस्था से नहीं है जिसका अनुभव साधक अपने जीवन में करता है । यहाँ विक्षिप्त अवस्था का अर्थ होता है तत्त्व के संतुलन में कमी होना । दूसरे शब्दों में, उसका अभिप्राय तत्त्व में उस सन्तुलन के कायम नहीं रहने से, जिसके द्वारा तत्त्व के गुण निर्धारित होते हैं, जिसके द्वारा चेतना या एकाग्रता के गुण निर्धारित होते हैं । वास्तव में स्वयं को व्यक्त करने के लिये, स्वयं को क्रियाशक्ति के रूप में प्रकट करने के लिये परा शक्ति को स्वयं को केन्द्रित कर व्यक्त होना पड़ता है । यदि परा शक्ति स्वयं को एक रूप में केन्द्रित न करे तो सृष्टि नहीं होगी ।

वस्तुतः केन्द्रित होने की अवस्था में जब मनुष्य का मन, चित्त एक बिन्दु में केन्द्रित हो जाता है, तब वह अपने वातावरण को भूलने लगता है । एकाग्रता में केवल एकाग्रता का ही आभास होता है, दूसरी अवस्थाओं का नहीं । अन्य अवस्थाओं का इस प्रकार से आभास नहीं होना मूल अविद्या का रूप है । यह अविद्या ईश्वरीय अविद्या है । अविद्या है विद्या का अभाव, सर्वव्यापी सजगता अथवा सर्वव्यापी चेतना का अभाव । अविद्या की परिभाषा में कहा गया है कि 'विद्यायाः अभावः ।' एकाग्रता में सर्वव्यापी चेतना का अभाव रहता है । इसे वास्तव में अविद्या कहना ठीक नहीं है । ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर में अविद्या के गुण हैं । ईश्वर या परा शक्ति में अचेतनता के गुण हैं । इसी अचेतनता को सामान्य भाषा मे अविद्या कह दिया जाता है । यथार्थतः यह तपस्या का एक रूप है ।

यहाँ तपस् के दो रूप दिखाई देते हैं : १. **चैतन्यता** और एकाग्रता तथा २. **अचैतन्यता** या अविद्या । कहा जा सकता है कि ईश्वर में अविद्या या अचैतन्यता, एकाग्रता का एक परिणाम है लेकिन इसका प्रभाव मनुष्यों में दूसरे रूप मे दिखाई पड़ता है । अविद्या के कारण उनके अन्दर भय, विषाद और क्लेश उत्पन्न होते हैं । मनुष्यों में इस अचैतन्यता या अविद्या का सम्पर्क या सम्बन्ध त्रिगुणात्मक प्रकृति से होता है । तीन गुणों से इस अचैतन्यता का सम्बन्ध होने पर द्वैत की भावना जागृत होती है । उस समय भय विषाद और क्लेश उत्पन्न होते हैं । लेकिन पराशक्ति तो त्रिगुणात्मक प्रभावों के परे है । इसलिये उस परम तत्त्व में भय, विषाद और क्लेश की अवस्था उत्पन्न होने का प्रश्न नहीं उठता । वहाँ केवल अचैतन्य की अवस्था है जिसे सुषुप्त या अचैतन्य सजगता की अवस्था कह सकते हैं । लेकिन मनुष्यों में चैतन्यता की सीमित अवस्था के कारण, गुणों द्वारा प्रभावित चेतना की स्थिति के कारण द्वैताभास होता है । योग ग्रन्थों के अनुसार भी मूलाधार या पृथ्वी तत्त्व में सर्वप्रथम द्वैत का अनुभव होता है । इससे असुरक्षा का भाव उत्पन्न होता है । दूसरे अनुभव का सम्बन्ध अन्तर्बाधा, भय, हीनता, उच्चता या जटिलता से रहता है ।

ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण स्पष्ट है । यदि साधक गुणों द्वारा प्रभावित प्रवृत्ति को बदलना चाहे तो दो क्षेत्रों में कार्य होते हैं : १. गुणों से परे कुण्डलिनी शक्ति में, जो एक तत्त्व में केन्द्रित है, और २. गुणों के क्षेत्र में प्रवृत्ति को बदलने के प्रयास के कारण गुणों के क्षेत्र में चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में, परिवर्तन होने लगते हैं । कुण्डलिनी की जागृति के समय अन्दर की तामसिकता, राजसिकता और सात्विकता प्रकट होने लगती हैं । आन्तरिक तामसिक, राजसिक और सात्विक स्थिति और गुणों का; दुःख, विषाद और क्लेश की अवस्थाओं का आभास होने लगता है । इसका प्रभाव साधक के अंतःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार पर पड़ता है । यह त्रिगुणात्मक भय है ।

कुण्डलिनी में तीनों गुणों के परे की स्थिति में अविद्या का नाश होता है । 'मैं भिन्न हूँ' या स्वयं के बारे में अर्द्धज्ञान मनुष्य के क्षेत्र में अविद्या का रूप है । मनुष्य अपना वास्तविक स्वरूप नहीं पहचानता । अपनी कामना, महत्त्वाकांक्षा, वासना तथा अपने शरीर से अपना सम्बन्ध जोड़ता है, लेकिन यह तो उसका मूलस्वरूप नहीं है । अतः स्वयं को नहीं पहचानने के कारण उत्पन्न अविद्या का नाश कुण्डलिनी की जागृति होने पर होता है । एक स्थान पर कहा गया है कि "द्वितीयात्वै भयं भवति", अर्थात् जहाँ दो होते हैं वहाँ भय की उत्पत्ति होती है । दूसरे शब्दों में, जहाँ द्वैत की भावना रहती है, वहाँ भय, विषाद, निराशा और दुख की स्थिति उत्पन्न होती है । यही कारण है कि वह देवी, जिसे अग्नि, क्रियाशक्ति या त्रिपुर भैरवी के रूप में सम्बोधित किया जाता है, स्थूल क्षेत्र में अपने आपको भय और अविद्या के रूप में प्रकट करती है । सूक्ष्म में वह सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति का रूप है, जो अचेतन में एक भयानक सर्पिणी है और अपनी जागृति में सभी प्रकार के भेद-भाव नष्ट करती है ।

अब प्रश्न उठता है कि इस देवी को भैरवी क्यों कहा गया है ? भैरवी का अर्थ होता है– भयानक । यदि यह कुण्डलिनी शक्ति, दुर्गा शक्ति और तपस् की शक्ति है तो इसमें भयानकता की बात क्या हो सकती है ? यह किसके लिये, किस रूप में और क्यों भयानक है ? यह उन लोगों के लिये भयानक है, जो द्वैत की चेतना से जुड़े हुए हैं, जो चेतन और अवचेतन वासनाओं के अधीन हैं, जो विक्षिप्तता और अशान्ति में सुख प्राप्त करते हैं ।

लेकिन साधक इस भैरवी को भयानक रूप में नहीं देखता । प्रगति के मार्ग में आगे बढ़ते हुए वह आन्तरिक परिवर्तन और आन्तरिक कोलाहल की शान्ति का अनुभव करता है । जो साधक आन्तरिक द्वैतावस्था की समाप्ति के पश्चात् अपने आपको अद्वैत में स्थापित कर लेते हैं उनके लिये भैरवी भयानक नहीं, वरन् सुखदायिनी एवं वरदायिनी है ।

त्रिपुर भैरवी और **त्रिपुर सुन्दरी** नामों में समानता है । ये एक ही शक्ति के दो रूप हैं । एक शक्ति अव्यक्त, जो सुन्दरी रूप में है और दूसरी है व्यक्त जो भैरवी के रूप में है । लेकिन दोनों हैं त्रिपुर । अर्थात् दोनों देवियों का निवास तीनों पुरों में, तीनों लोकों में है ।

भैरवी को पृथ्वी तत्त्व की देवी के रूप में तथा सुन्दरी को पराशक्ति अथवा सहस्रार में स्थित शक्ति के रूप में देखा गया है। यही भैरवी जागृत होकर, सभी अवस्थाओं को भेदती हुई, ऊपर चढ़ती है और शिव तत्त्व या परम तत्त्व से सुधा-सिन्धु में मिल जाती है। एकतत्त्व–धारणा में इसका रूप भैरवी का होता है। इसका सकारात्मक रूप एकाग्रता और नकारात्मक रूप अविद्या है। किन्तु अनेक अवस्थाओं में सहजभाव, सजग भाव तथा सभी अवस्थाओं में एकाग्रता धारण करने वाला रूप है–सुन्दरी का। अनेक तत्त्वों में समभाव वाला रूप है सुन्दरी का तथा एक तत्त्व में ही अपनी विस्मृति का रूप है भैरवी का।

मन्त्र

जिस प्रकार त्रिपुर सुन्दरी के तीन कूट होते हैं, ठीक उसी प्रकार त्रिपुर भैरवी के भी तीन कूट होते हैं। इस पर अधिक सोचने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि सुन्दरी और भैरवी एक ही शक्ति के दो रूप हैं। भैरवी के तीन मन्त्र होते हैं : १. ह्स्त्रैम्, २. ह्स्क्लृं और ३. ह्स्त्रौः। ये बीज मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र ब्रह्मग्रन्थि का, द्वितीय विष्णु ग्रन्थि का और तृतीय शिव ग्रन्थि का है। तन्त्र में जिन्हें कूट कहते हैं, योग में उन्हें ग्रन्थि कहते हैं। शरीर के चक्रों को इन तीन ग्रन्थियों में विभाजित किया गया है। ब्रह्मग्रन्थि में मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र आते हैं। यहीं सृष्टि का प्रजनन कार्य प्रारम्भ होता है। विष्णु ग्रन्थि में मणिपुर, अनाहत और विशुद्धि चक्र आते हैं। यहाँ पालन-पोषण या स्थिति का कार्य होता है। प्राण शरीर, मनोमय शरीर एवं विज्ञानमय शरीर का संधारण एवं पालन-पोषण क्रमशः मणिपुर, अनाहत और विशुद्धि चक्रों द्वारा होता है। ये तीनों चक्र विष्णु ग्रन्थि के अन्तर्गत आते हैं। इनका मन्त्र दूसरे कूट का 'ह् स् क् लृं' है। शिव ग्रन्थि के अन्तर्गत आज्ञा और सहस्रार चक्र आते हैं। ये चक्र परिवर्तन, आंतरिक विकास, चेतना के एकीकरण, चेतना की विभिन्न अवस्थाओं की समाप्ति तथा अद्वैत चेतना की प्राप्ति से सम्बद्ध हैं। इस तृतीय कूट या शिव ग्रन्थि का मन्त्र है 'ह् स् श्रौः'।

परावाक् रूप

त्रिपुर भैरवी का परावाक् रूप भी है। परावाक् का तात्पर्य आदि शब्द या आदि स्पन्दन से है, जो बाद में पश्यन्ती वाक् का रूप धारण करता है। पश्यन्ती वाक् का उल्लेख तारा महाविद्या की चर्चा के प्रसंग में हो चुका है। तारा महाविद्या का रूप है पश्यन्ती वाक् का; अर्थात् वह स्पन्दन है जो साक्षी या द्रष्टा बनता है। इसके बाद मध्यमा वाक् आता है, जो स्वयं को अन्तःकरण में स्थापित करता है। अन्त में वैखरी वाक् आता है, जो स्वयं को वाणी के द्वारा व्यक्त करता है। त्रिपुर भैरवी को परावाक् के रूप में माना गया है। यह, वह आदि शक्ति है, जो स्वयं को एक बिन्दु में केन्द्रित कर अपने मूल अस्तित्व को बनाये रखती है। इस मूल अस्तित्व की प्राप्ति तपस्या द्वारा हो सकती है।

देवी का स्वरूप

त्रिपुर भैरवी का रूप प्रकाश के समान कान्तियुक्त है। प्रकाश की यह कान्ति वस्तुतः तपस्या की कान्ति है, क्योंकि जब साधक तपस्या द्वारा अपने शरीर और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है, तब उसके मल दूर हो जाते हैं और उसका शरीर कान्तिपूर्ण हो जाता है। देवी ८४ नरमुण्डों की माला धारण किये हुए है। नरमुण्डों की माला कुछ और देवियों के गले में भी शोभित होती हैं। यहाँ इसका भाव है कि जब साधक अपनी तपस्या के माध्यम से जन्म-जन्मान्तर या ८४ लाख योनियों पर विजय प्राप्त कर जन्म-मृत्यु से परे चला जाता है तब ८४ लाख योनियों की प्रतीक ये ८४ खोपड़ियाँ या नरमुण्ड देवी के गले की शोभा बढ़ाती हैं।

देवी लाल वस्त्र धारण किये हुए हैं। लाल वस्त्र क्रियाशक्ति या रजोगुण का बोधक है। क्रियाशक्ति का तात्पर्य क्रिया के प्रारम्भ से है। इस अवस्था में साधक के अन्दर रजोगुण प्रबल होता है। क्रिया और तपस्या करने के पीछे सफलता या विजय प्राप्त करने का एकमात्र उद्देश्य होता है। विजय प्राप्त करने की धारणा एक रजोगुणी धारणा है।

त्रिपुर भैरवी के तीन नेत्र हैं। इनका निवास तीनों लोकों में है। ये तीनों लोकों की साक्षी या द्रष्टा हैं। तीनों लोकों में एक ही प्रकार की दृष्टि रखने के कारण वे त्रिनेत्रा हैं।

वे चन्द्रमा का मुकुट धारण करती हैं। चन्द्रमा मानसिक क्षेत्र, मानसिक अनुभूतियों का प्रतीक है। वह मनःक्षेत्र के समस्त चेतन, अवचेतन एवं अचेतन अनुभवों का द्योतक है। मनीषियों ने चन्द्रमा को मन का प्रतीक माना है, क्योंकि चन्द्रमा के प्रकाश में समस्त वस्तुयें एक ही रंग में दिखलाई देती हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में आकृति और रूप की पहचान होती है, किन्तु रंगों की भिन्नता नहीं रहती। तन्त्रशास्त्र में दो शक्तियों की चर्चा होती है। प्राणशक्ति और चित्तशक्ति। प्राणशक्ति का सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियों में रहता है। आँखों की दृष्टि, जीभ का स्वाद, कानों से श्रवण, त्वचा से स्पर्श और नासिका से सूंघने की क्षमता आदि सभी प्राणशक्ति तथा प्राणवायु द्वारा संचालित होते हैं। प्राण के माध्यम से ही रूप और रंग का ज्ञान होता है। चित्त शक्ति अव्यक्त क्षेत्र की शक्ति है। व्यक्त क्षेत्र में अनेक रंगों का ज्ञान होता है, अव्यक्त क्षेत्र में एक ही रंग का ज्ञान होता है। मन के क्षेत्र को कोई देख नहीं सकता, वह अनुभव पर आधारित है। अपने अनुभव से ही व्यक्ति मन को जान सकता है। कोई भी अन्य व्यक्ति यह नहीं बतला सकता कि मन का रूप-रंग कैसा है। वस्तुतः अनुभव को कोई रंग नहीं होता। तन्त्र शास्त्र के अनुसार अनुभव द्वि-आयामी है, त्रि-आयामी नहीं। तन्त्र एवं वेद में इसकी तुलना चन्द्रशक्ति या चित्तशक्ति से की जाती है। अतः वह देवी जो मन के अधीन न हो, मन के ऊपर हो, मन की सभी अवस्थाओं पर शासन करे तथा मन के द्वारा चेतना में परिवर्तन की राह, प्रगति और विकास के मार्ग को निदेशित कर सके, चन्द्रमा का मुकुट धारण करती हैं।

देवी के चार हाथ हैं । एक हाथ में जप-माला है । जप-माला का प्रयोग अपनी विक्षिप्त मानसिक अवस्थाओं को एक बिन्दु में केन्द्रित करने तथा स्वयं को अन्तर्मुखी बनाने के लिये किया जाता है । जप-माला साधक की साधना का भी द्योतक है । व्यक्ति साधना के माध्यम से आगे बढ़ता है । परमहंस सत्यानन्द ने साधना की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है : बाह्य, मानसिक और आन्तरिक । उनके अनुसार आन्तरिक साधना वह है जो मन के परे जाती है । मानसिक साधना द्वितीय श्रेणी की साधना है । आन्तरिक साधना मन को पार करने के बाद की जाती है । यहाँ जिस बाह्य साधना की चर्चा हो रही है उसका आधार शरीर और मन दोनों होते हैं । मानसिक साधना का आधार केवल मन होता है । यहाँ मन का तात्पर्य अंतःकरण से है । आन्तरिक साधना का आधार आत्मा की अवस्था या आत्मज्ञान होता है । यहाँ जप-माला चेतना के एक बिन्दु में केन्द्रित होने का लक्षण है । चूँकि देवी के सिर पर चन्द्रमा का मुकुट है, अतः इनके शरीर से मानसिक और आन्तरिक साधना के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होते हैं ।

देवी का दूसरा हाथ अभय मुद्रा में है । साधना और तपस्या से मत डरो, साधना से तुम्हारा कल्याण और प्रगति होने वाली है ।

उनका तीसरा हाथ संरक्षण मुद्रा में है; वे अपने भक्तों से कहती हैं कि मैं तीनों लोकों में बाह्य प्रवृत्तियों, बाह्य प्रभावों एवं बाह्य वातावरण से तुम्हारी रक्षा करूँगी । जो एक बार इस देवी की साधना-आराधना में लीन हो जाय, उसे तीनों लोकों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि नहीं पहुँच सकती, कोई भी बाह्य शक्ति इस साधक को नीचे नहीं गिरा सकती।

देवी का चौथा हाथ विद्या-मुद्रा या विद्या प्रदान करने की मुद्रा में है । यहाँ विद्या-प्राप्ति का तात्पर्य ज्ञानपूर्ण चेतना की अनुभूति से है । यदि साधना के क्रम में व्यक्ति का मस्तिष्क ठीक न रहे तो इसका तात्पर्य यह है कि उसे विद्या या अनुभव की प्राप्ति नहीं हुई है । चेतना के विस्तार का सम्बन्ध ज्ञान की वृद्धि से होता है, अर्थात् जैसे-जैसे चेतना का विस्तार होगा, ज्ञान का क्षेत्र भी बढ़ेगा ।

यन्त्र

त्रिपुर भैरवी के यन्त्र के भीतर नौ अधोमुखी त्रिकोण और उनके चारों ओर एक वृत्त होता है । वृत्त के ऊपर अष्टदल कमल और सबसे ऊपर चक्र-गृह होता है ।

इस चक्र में प्रयुक्त नौ त्रिकोणों का विशेष अर्थ है । एक साधक को अपनी साधना के क्रम में स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं में तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण का सामना करना पड़ता है । इन तीनों अवस्थाओं में गुणों की मात्रा एवं तीव्रता भिन्न-भिन्न हो सकती है । इसका अनुभव अनेक बार मनुष्य को अपने विचारों, महत्त्वाकांक्षाओं, वासनाओं और स्वप्न में होता है । संस्कारों में भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक

संस्कार प्रवृत्ति दिखलाई देती है। जीवन के सभी क्षेत्रों और अवस्थाओं–स्थूल, सूक्ष्म और कारण-में जब साधक इन गुणों का सामना करता है और पार करता है तब वह तपस्या की विधि होती है। इस मन्त्र का तात्पर्य है तपस्या के द्वारा परा अवस्था को प्राप्त करना।

ग्रन्थ

इस महाविद्या से सम्बन्धित तीन ग्रन्थ हैं : १. त्रिपुर भैरवी तन्त्र, २. त्रिपुर भैरवी यामल और ३. त्रिपुर तापिनी तन्त्र।

६. महाविद्या : छिन्नमस्ता

छिन्नमस्ता का स्थान छठवाँ है। सर्वप्रथम उनके रूप पर विचार करना आवश्यक है। विना इनको समझे इस रहस्यमय सिद्धान्त को भी नहीं समझा जा सकता है।

इस देवी का स्वरूप-वर्णन विलक्षण है : रति और कामदेव अपनी काम-क्रीड़ा में लिप्त हैं। कामदेव नीचे और रति ऊपर है। रति के शरीर के ऊपर छिन्नमस्ता देवी काली रूप में खड़ी हैं। देवी के दोनों पार्श्वों में दो सहायक योगिनियाँ हैं। देवी का सिर कटा हुआ है। दो हाथ हैं। एक हाथ में उनका अपना मुण्ड और दूसरे हाथ में एक कैंची है। कटी हुए गर्दन से रक्त की तीन धारायें निकल रही हैं। एक धारा देवी के कटे मुण्ड के मुख में जा रही है तथा अन्य दो धारायें उनके पार्श्व में खड़ी दो योगिनियों के मुखों में जा रही हैं। देवी का रूप बड़ा भयावह है।

इस रूप को देखते हुए कुछ लोगों का मत है कि यह एक दुष्टा देवी हैं। कुछ का कहना है कि ये ग्राम-देवी हैं। इस प्रकार छिन्नमस्ता के विषय में अनेकों धारणायें हैं। लेकिन छिन्नमस्ता का सिद्धान्त तन्त्र में स्पष्ट है। छिन्नमस्ता को महाप्राणशक्ति के रूप में देखा गया है। महाप्राणशक्ति रूप में प्रकाश तथा नाद का समन्वय रहता है। आकाश में बिजली की कड़कड़ाहट में नाद तथा प्रकाश की अनुभूति होती है।

तन्त्र में या अन्यत्र इन विद्याओं को प्रतीकात्मक रूप में ही समझाया गया है। बुद्धिजीवियों ने अभी तक इन्हें यौगिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं देखा है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि किसी भी सिद्धान्त या दर्शन का आधार मात्र दार्शनिक विचारधारा ही नहीं होता। मानव जीवन में उपलब्ध अनुभूतियाँ तथा जिस प्रकार उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, सब उसकी चेतना की उपलब्धि के साधन और आधार बनते हैं। अतः प्रयास यह होना चाहिये कि यथासम्भव एक व्यापक एवं पूर्वाग्रहरहित दृष्टिकोण अपनाते हुए इन सभी विचारों को समझें।

प्राणशक्ति

योग में प्राणशक्ति को तीन रूपों में देखा गया है : **महाप्राण, प्राण** और **उपप्राण**। महाप्राण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में, पर और अपर सृष्टि में व्याप्त है। प्राण अपर या व्यक्त सृष्टि

में व्याप्त है । उपप्राण जीवों में तथा जीवन की अवस्थाओं में व्याप्त है, जहाँ जीवनी शक्ति का आभास होता है । छिन्नमस्ता को समझने हेतु प्राण की इन समस्त अवस्थाओं को समझना आवश्यक है।

महाप्राण एक क्रियात्मक शक्ति, ऊर्जा शक्ति या ज्योति-शक्ति है, जो सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से संचालित करती है । महाप्राण के अभाव में किसी भी तत्त्व या तन्मात्रा में अथवा स्थूल, सूक्ष्म या कारण अवस्था में शक्ति उपलब्ध नहीं होती है । जब तक इनमें शक्ति आविष्ट नहीं होती, इनके कोई भी गुण प्रकट नहीं होते हैं । शक्ति के अभाव में ये एक निर्जीव, जड़ अवस्था में पड़े रहते हैं, जहाँ किसी प्रकार की क्रिया या स्पन्दन नहीं होता । जहाँ भी आत्मा, जीव, सृष्टि, शक्ति, शिव, प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध में चर्चा होती है वहाँ महाप्राण का अस्तित्व रहता है, क्योंकि यही शक्ति पुरुष तत्त्व और प्रक्रिति तत्त्व को जागृत बनाये रखती है । जागृत बनाने का तात्पर्य उन्हें शक्ति प्रदान कर उनके गुणों को विकसित करना, उनकी उपलब्धियों को सामने लाना तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओं को एक अनुभूति का रूप देना है । इसकी कल्पना तान्त्रिकों, योगियों एवं वेदान्तियों ने विद्युत-शक्ति के रूप में, ज्योति-शक्ति के रूप में की है । महाप्राण की वैद्युतिक अवस्था में, मूल शक्ति के रूप में दो तत्त्वों का समावेश होता है–नाद एवं प्रकाश का। नाद और प्रकाश के समन्वय से महाप्राण की अनुभूति होती है । महाप्राण एक मूल-शक्ति या अनियन्त्रित शक्ति के रूप में दिखालाई देता है । विद्युत् की चमक की तरह क्षण भर के लिये उसका अनुभव होता है और शीघ्र तुप्त हो जाता है । यह अव्यक्त रूप में घटित होता है । महाप्राण का संचार जीव-शरीर में विशेष मार्गों पर होता है, जिन्हें नाड़ी कहते हैं । नाड़ी यहाँ तंत्रिका संस्थान की नसें नहीं हैं । नाड़ी प्राणशक्ति के प्रवाह का मार्ग है । यदि मनुष्य किसी कमरे में खुली खिड़की दरवाजों के बीच बैठता है, तो उसे हवा के एक प्रवाह, या गति का अनुभव होगा । कमरे में पीछे बैठने वाले हवा के इस प्रवाह या गति का अनुभव नहीं कर सकेंगे, क्योंकि वहाँ हवा के प्रवाह का मार्ग तथा गति दूसरी है। इस प्रकार प्रवाह या धारा का रूप हर अवस्था में और हर प्रकृति में अलग-अलग हो जाता है । प्रत्येक अवस्था में एक अलग अनुभूति होती है । उदाहरण के लिये, कमरे के बाहर यदि सौ मील प्रति घंटे के वेग से हवा चल रही हो, तो क्या कमरे के भीतर हवा के उसी तीव्र वेग का आभास होगा ? यदि सभी खिड़कियों को खोल भी दें तब भी हवा की सौ मील प्रति घंटे की गति का अनुभव कमरे में नहीं होगा । ऐसा इसलिये होता है कि स्थिति विशेष में शक्ति एक अवस्था विशेष को प्राप्त होती है । अतः यदि किसी रूप, क्षेत्र या अवस्था में इसका अनुभव हो तो यह जरूरी नहीं कि सभी स्थिति और सर्वत्र उसी रूप में इसका अनुभव हो । मनुष्य की चेतना की स्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, इन्द्रियों के कार्य अलग-अलग होते हैं । शरीर

और मन की विभिन्न अवस्थाओं के कारण प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक प्राणी को प्राणशक्ति के अलग-अलग रूपों का अनुभव होता है। प्राणी शब्द भी प्राण से ही बना है। प्राणी वह है जिसके अन्दर प्राण का, जीवनी शक्ति का संचार हो। इसलिए प्राण को जीवनीशक्ति के नाम से जानते, समझते हैं।

वही महाप्राण जब एक जीव में, एक शरीर में प्रवेश करता है, तो उसके शरीर के अलग-अलग प्रवाह-मार्गों से उसका संचार होता है। योगियों ने प्राण के अनुभव-क्षेत्र को एक शरीर का रूप दिया है, जिसे प्राणमय कोश कहते हैं। यह भौतिक शरीर तथा मानसिक शरीर से भिन्न है। इस प्राणमय कोश का सम्बन्ध कारण और सूक्ष्म शरीर से रहता है। प्राणमय कोश इन दो शरीरों का नियन्त्रक है। योगियों के अनुसार, जीव शरीर में महाप्राण का प्रवेश द्वार, ब्रह्मरन्ध्र है।

शरीर में तीन ग्रन्थियाँ होती हैं: ऊपर में रुद्र ग्रन्थि, मध्य में विष्णुग्रन्थि और नीचे ब्रह्मग्रन्थि। सभी ग्रन्थियों में प्राण प्रवेश कर भिन्न-भिन्न रूप लेता है। उदाहरण के लिये, एक जल -विद्युत-संयन्त्र में उत्पादित होने के बाद, शहर में पहुँचने के समय तक, बिजली परिवर्तकों से गुजरती हुई अनेक बार रूपान्तरित होती है। उसे ११,००० वोल्ट से क्रमशः ४४० और २२० वोल्ट में बदला जाता है। पुनः छोटे-छोटे परिवर्तक लगाकर उसे कभी २४ वोल्ट में, कभी १२ वोल्ट में तो कभी ६ वोल्ट में बदला जाता है। यह उपभोक्ता पर निर्भर करता है कि बिजली को कितनी बार और किस स्तर तक परिवर्तित करें। जिस प्रकार एक भौतिक शक्ति को परिवर्तकों के द्वारा परिवर्तित कर उसकी शक्ति को कम किया जाता है, ठीक उसी प्रकार ये तीन ग्रन्थियाँ भी मनुष्य के भीतर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर में, प्राणशक्ति की तीव्रता, प्रवाह और क्षमता को कम करती हैं। सम्प्रति मनुष्य को जो अनुभव हो रहा है वह ब्रह्मग्रन्थि के क्षेत्र के अन्तर्गत प्राण का अनुभव है। जब यह प्राणशक्ति ब्रह्मग्रन्थि में प्रवेश करती है तब इसका विभाजन या संचार नाड़ियों के द्वारा भौतिक अथवा अन्य शरीर में होता है।

उपनिषदों में बताया गया है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में प्राण के प्रवाह करोड़ों नाड़ियों में फैले रहते हैं। भौतिक शरीर में आते-आते नाड़ियों की संख्या ७२,००० हो जाती है। फिर स्थूल शरीर में प्राण स्वयं को उपप्रणों में विभाजित करता है। ये उपप्राण हैं: प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। उपप्राण भौतिक शरीर को अपने नियन्त्रण में रखते हैं तथा बाह्य एवं आन्तरिक अंगों की क्षमता को न्यूनाधिक करते हैं।

महाप्राण की प्रथम परिणति कारण शरीर के अन्तर्गत प्राण के रूप में होती है। उस समय रुद्रग्रन्थि का निर्माण होता है। तदुपरान्त, सूक्ष्म शरीर में विष्णुग्रन्थि का और स्थूल शरीर में ब्रह्मग्रन्थि का निर्माण होता है। ब्रह्मग्रन्थि के निर्माण के बाद यह प्राण स्वयं को पाँच उपप्राणों में विभाजित करता है।

स्वरूपगत प्रतीकों का अर्थ

छिन्नमस्ता के एक हाथ में कैंची है। कैंची से वह हमारे शरीर की ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि को काटती है। तात्पर्य यह कि प्राण की तीव्रता या क्षमता को बनाये रखने के लिये भीतर के तीन परिवर्तकों को उड़ा देती हैं। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ नीचे से होता है। शरीर की ७२,००० नाड़ियों में तीन नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना प्रमुख हैं। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना में प्राण के तीन रूप चन्द्रशक्ति, सूर्यशक्ति और संतुलित शक्ति दिखलाई देती हैं। सूर्यशक्ति है पिंगला नाड़ी। पिंगला नाड़ी की देवी है डाकिनी। चन्द्रशक्ति का सम्बन्ध इड़ा नाड़ी से है और उसकी देवी है वर्णिनी। डाकिनी और वर्णिनी छिन्नमस्ता के दोनों पार्श्व में स्थित हैं। ये दोनों योगिनियाँ हैं। योग द्वारा इन पर सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। वस्तुतः योग ही एक ऐसा मार्ग है, जिसमें इड़ा और पिंगला में प्रवाहित प्राणशक्ति को नियन्त्रित करने की विधि बताई जाती है। जब साधक योग के द्वारा इन दो नाड़ियों को सिद्ध करता है तब इन दो देवियों—डाकिनी और वर्णिनी की शक्ति जागृत होती है।

छिन्नमस्ता शरीरस्थ तीन ग्रन्थियों को काटती हैं। जब ब्रह्मग्रन्थि का नाश होता है तब पाँच उपप्राण एक होकर स्थूल शरीर में एक रूप धारण करते हैं और सूक्ष्म शरीर के प्राण से इनका मिलन या योग होता है। उसके बाद कैंची से विष्णुग्रन्थि कटती है। विष्णुग्रन्थि के कटने के पश्चात् पूर्व वर्जित हुआ सूक्ष्म शरीर का सीमित क्षेत्र नष्ट हो जाता है और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के प्राण कारण शरीर में मिल जाते हैं। अन्त में रुद्रग्रन्थि कटती है। रुद्रग्रन्थि के कटने के बाद प्राण, व्यक्त या अपरा प्राण, महाप्राण में मिलकर एक हो जाता है।

देवी अपना सिर काटकर अपने हाथ में रखी हुए हैं। यह रुद्रग्रन्थि के भेदन का प्रतीक है। पर जगत या अव्यक्त मूल अवस्था में जिस महाप्राणशक्ति का संचार हो रहा है, वही शक्ति बिना किसी परिवर्तन, अवरोध या रुकावट के स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं में प्रवाहित होती है। सिर को अपने हाथ में रखने का एक अन्य तात्पर्य है; अंतःकारण के भेद को समाप्त करना। अंतःकरण के चार भेद होते हैं–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। रुद्रग्रन्थि में प्राणों के मिलन से अंतःकरण के सभी अनुभव समाप्त हो जाते हैं। अहंकार तक के अनुभवों का अंत होता है। उस समय मात्र एक ही स्थिति शेष रहती है जो अपरा से परा में परिवर्तन है। इस अवस्था में जीव शिव-रूप धारण करता है; साधक साधना के द्वारा सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है।

देवी की धड़ से रक्त की तीन धारायें निकलती हैं। उनमें मुख्य धारा सुषुम्ना है, जिसका पान स्वयं देवी का कटा हुआ सिर कर रहा है। दो छोटी धाराओं या उपधाराओं का सम्बन्ध सूर्यशक्ति और चन्द्रशक्ति से है, उन्हें दो योगिनियाँ पान कर रही हैं। ये इस

बात के प्रतीक हैं कि प्राण के सभी प्रवाह ऊर्ध्वमुखी हो गये हैं। स्थूल स्तर पर स्थित प्राण की गति भौतिक जगत की ओर आकृष्ट होती है, लेकिन रुद्रग्रन्थि भेदन से अब वह आकर्षण समाप्त हो गया है और रक्तधाराओं के रूप में प्राण का प्रवाह उर्ध्वमुखी होने लगा है। यह प्राण-प्रवाह अब आधार रहित अव्यक्त में हो रहा है और आकाश में फैलकर पुनः तीन मुखों में प्रवेश कर रहा है।

देवी का दूसरा नाम है 'वज्र वैरोचिनी'। वैरोचिनी का अर्थ होता है स्वयं में प्रकाशित। इसके साथ वज्र शब्द जुड़ा हुआ है। इन्द्र को वज्रधारी कहा गया है। इन्द्र का एक नाम विरोचन भी है। वेदों में इन्द्र देवराज हैं। इन्द्र शब्द इन्द्रियों से सम्बन्धित है; एक अर्थ के अनुसार इन्द्र इन्द्रियों से सम्बन्धित हैं; एक अर्थ के अनुसार इन्द्र इन्द्रियों का स्वामी है। इन्द्रियानुभूति के माध्यम से मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है, वासनाओं की पूर्ति होती है। इन्द्रिय-सुख मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण है। इन्द्रिय-सुख में सबसे गहरे अनुभव या अवस्था की प्राप्ति मनुष्य काम-क्रीड़ा के माध्यम से प्राप्त करता है। छिन्नमस्ता को वज्र वैरोचिनी इसलिये कहा गया है कि प्राणशक्ति के उत्थान से इन्द्रिय-सुखों पर विजय प्राप्त होती है। ब्रह्मग्रन्थि के अधीन मनुष्य में सृष्टि करने की कामना, प्रजनन की कामना छिपी रहती है। ब्रह्मा का कार्य ही है सृष्टि करना। मनुष्य के भीतर उस क्षमता का सम्बन्ध प्रजनन की कामना या कामवासना से रहती है। ब्रह्मग्रन्थि के कटने से कामवासना या इन्द्रिय-सुख के आकर्षण समाप्त होते हैं। इसी कारण देवी को रति और कामदेव के ऊपर में खड़ा दिखाया है।

पूर्व में कहा गया है कि इन्द्र इन्द्रियों का स्वामी है। शरीर में स्थित जो जीव बहिर्मुखी अवस्था में भोग करता है एवं इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, वह जीव इन्द्र कहलाता है। भौतिक जगत में शरीर के संचरण के लिये, शरीर की क्रियाओं को सम्पन्न कराने के लिये कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अंतःकरण की आवश्यकता होती है। अन्तःकरण का अन्तिम अस्तित्व इन्द्र का अहंकार का रूप है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अंतकरण,-इन्द्र के क्षेत्र हैं। इन्द्रियों की विशेषता है कि वे सुख, भोग एवं संतुष्टि के पीछे भागती हैं, उनसे आकृष्ट होती हैं। यहीं से इच्छा-अनिच्छा की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियाँ अपने अनुकूल वातावरण, व्यवस्था, कर्म और फल चाहती हैं। भोग या सुख-कामना की प्रवृत्ति के देवता इन्द्र हैं; बोलचाल की भाषा में उसे जीवात्मा भी कहते हैं। व्यक्त सृष्टि में जीवात्मा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। वेदों में इन्द्र को ही सर्वोच्च स्थान मिला है। इन्द्रियों के द्वारा सुख-भोग की एक सुषुप्त वृत्ति कामवासना रहती है। मनुष्य के भीतर की यह सबसे प्रबल वृत्ति है। कामवासना को प्रतीकात्मक रूप में रति और कामदेव के रूप में दिखाया गया है। यह पुरुष-प्रकृत्ति या पुरुष-स्त्री के संभोग का प्रतीक है। जब दो का संयोग हो तब प्रजनन का कार्य प्रारम्भ होता है, सृष्टि होती है। सृष्टि या प्रजनन के लिये

ब्रह्मग्रन्थि से शक्ति मिलती है। देवी छिन्नमस्ता इस ग्रन्थि को काटती है ताकि यह शक्ति उर्ध्वरेतस हो, भोग की ओर नहीं, वरन् योग की ओर उन्मुख हो। रति और कामदेव के रूप में भोग का सम्बन्ध स्थूल जगत से है। छिन्नमस्ता की कृपा से स्थूल जगत की काम अवस्था पर विजय प्राप्त हो सकती है। जब कामवासना की प्रबलता शान्त हो जाती है, तब इन्द्रत्व की अवस्था में परिणति का अनुभव होने लगता है। एक परिवर्तन का, वासनामुक्त अवस्था का अनुभव होने लगता है।

देवी को वज्र नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इन्द्र ने वृत्र नामक असुर के वध के लिये वज्र नाम के आयुध का प्रयोग किया था। तन्त्र के अनुसार वृत्र तमस् की प्रवृत्ति है, जो ज्ञान के प्रकाश को अपनी अन्धकारपूर्ण अवस्था से ढँक लेती है। इसी वृत्र के संहार के लिये इन्द्र या जीवात्मा वज्र नामक आयुध या अस्त्र का प्रयोग करता है। वज्र की शक्ति चमकदार विद्युतशक्ति के रूप में प्रकट होती है। बिजली जब कड़कती है तो उसका प्रभाव मालूम पड़ता है। तात्कालिक परिवर्तन की तीव्र क्षमता जीवात्मा को प्राप्त होती है। देवी उस प्राणशक्ति का प्रतीक है, अतः इसे वज्र वैरोचनीया भी कहा गया है। यह शक्ति अदैविक शक्तियों का संहार करती है।

देवी का अन्य नाम है प्रचण्ड चण्डी। प्रचण्ड का अर्थ होता है – भयंकर, घोर, भयानक, अतुलनीय आदि। चण्डी का नाम काली से मिलता है; काली का एक रूप चण्डी है। यहाँ काली और छिन्नमस्ता में अन्तर है। काली स्वयं तो भयंकर, भयानक है ही, काल की शक्ति भी है। काल शक्ति होने के कारण किसी भी परिवर्तन, परिणति या संहार के लिये काली को काल का सहारा लेना पड़ता है। छिन्नमस्ता को काल का सहारा नहीं लेना पड़ता। उसे सही या उचित अवसर की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। तत्काल कार्य करती है। चूँकि कार्य का सम्पादन, बिना किसी अन्य चेतना या शक्ति की सहायता से तत्काल होता है, अतः उन्हें प्रचण्ड चण्डी के नाम से सम्बोधित किया गया है। इन दोनों में एक अन्य अन्तर भी है। काली का निवास-क्षेत्र हृदय है, जहाँ परिष्कृत भावना नहीं, मूल प्रकृति एवं मुक्त शक्तिशाली भावना प्रकट होती है। इस प्रकार की भावनाओं के साथ उसी प्रकार के कर्म भी जन्म लेते हैं। छिन्नमस्ता का निवास-क्षेत्र भृकुटि या आज्ञाचक्र है। भृकुटि या आज्ञाचक्र में दो अवस्थाओं का अनुभव होता है : एक अवस्था संकल्प की, एक लक्ष्य की है और दूसरी दृष्टिशक्ति की। आज्ञाचक्र की जागृति से अन्तर्दृष्टि की क्षमता प्राप्त होती है, अन्तर्बोध प्राप्त होता है। अतः छिन्नमस्ता अन्तर्दृष्टि की देवी है।

छिन्नमस्ता परशुराम की माँ हैं; और परशुराम नारायण के छठे अवतार माने जाते हैं। इस कारण भी छिन्नमस्ता षष्ठी कहलाई हैं। छिन्नमस्ता को परशुराम की माँ क्यों कहा गया है ? परशुराम के पिता महर्षि जमदग्नि ने किसी कारणवश परशुराम को आदेश दिया

था कि अपनी माँ की गर्दन काट दो। परशुराम ने बिना विरोध अपने फरसे से माँ की गर्दन धड़ से अलग कर दी। इस आज्ञा पालन से महर्षि जमदग्नि ने प्रसन्न होकर परशुराम से कहा 'वर माँगो' और परशुराम के अनुरोध पर जमदग्नि ने रेणुका को पुनः जीवित कर दिया। जमदग्नि और रेणुका के स्वर्गवास के बाद एक दिन परशुराम की भेंट दत्तात्रेय से हुई। उन्होंने दत्तात्रेय को अपना गुरु बनाया। दत्तात्रेय ने निर्देश दिया कि "तुम अपनी माँ की उपासना करो।" परशुराम ने पुनः पूछा "क्यों, वह तो मेरे शरीर की माँ थी, उनकी पूजा क्यों करूँ ?" तब दत्तात्रेय ने कहा कि "नारायण के छठे अवतार के रूप में तुम्हें इस संसार में लाने के लिये छिन्नमस्ता ही माँ रूप में प्रकट हुई थी। तुम्हारे पिता ने उन्हें वास्तविक अस्तित्व या रूप का बोध दिलाने हेतु ही उनका सिर काटने का आदेश तुम्हें दिया था। सिर काटने के बाद उन्हें अपने वास्तविक अस्तित्व का बोध हो गया। उस समय से वह तुम्हारी माँ नहीं, माता छिन्नमस्ता हो गई। इस प्रकार दत्तात्रेय ने छिन्नमस्ता विद्या की साधना बताई। दस महाविद्याओं में छठी महाविद्या होने के कारण भी इनका नाम षष्ठी पड़ा।

बीज मन्त्र

छिन्नमस्ता देवी का बीज मंत्र 'हं' या 'हुं' है। इस मन्त्र को धेनुबीज कहा जाता है। धेनु का अर्थ होता है गाय और धेनुबीज का तात्पर्य उस शक्ति से है जिसकी आराधना से सभी प्रकार की कामनायें पूर्ण हो जायें। मन के विभिन्न अनुभवों, अवस्थाओं, संस्कारों और कर्मों को निर्मूल करने के लिये इस मन्त्र की साधना की जाती है। 'हं' मन्त्र अजपा मन्त्र 'सो हं' का अंश है। साधकों तथा सन्तों ने अनुभव किया कि अजपा जप में जब जप प्रति क्षण बिना किसी प्रयत्न के होने लगे तब साधक मन की सभी अवस्थाओं को पार कर अनहद् नाद की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। इसी बात को कबीरदास ने कहा है–

'ऐसा जाप जपो मनलाई, सोहं सोहं सुरता गाई।
छः सौ सहस्त्र इक्कीस सौ जाप, अनहद् उपजै आपै आप ।।'

अजपा का अर्थ ही है जिसे सायास जपा नहीं जाय। इस नाम से स्पष्ट होता है कि यह साधना कोई चेतन प्रक्रिया नहीं है। इस विधि में चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में सूक्ष्म सजगता की प्राप्ति होती है और यह मन्त्र आन्तरिक रूप से अनवरत सूक्ष्मावस्था और कारणावस्था में भी चलता रहता है। जब मन्त्र इस प्रकार, बिना किसी चेतन प्रयास के अन्दर में सतत् चलता रहता है, तो यह मन या मन की वृत्तियों को पार कर लेने की एक स्थिति या अवस्था है। मनुष्य धेनुबीज के अभ्यास से मन को पार करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

साधना

छिन्नमस्ता की उपासना हेतु तीन साधनायें हैं : **प्राणविद्या, विद्युत् धारणा** और **पदार्थ में छिपे प्रकाश को देखना**। प्राणविद्या की शिक्षा योग के अन्तर्गत दी जाती है। इसका उद्देश्य प्राण के संचार के प्रति जागरूक होकर नियन्त्रण प्राप्त करना है। इसका अभिप्राय चेतन सजगता के साथ स्वयं प्राण का संचार करने से है। दूसरी साधना विद्युत् धारणा है। इसमें मन की एकाग्र या धारणा अवस्था में यह अनुभव हो कि अन्तरिक्ष से विद्युत् शक्ति शरीर में प्रवेश कर रही है और उस प्रवाह का अनुभव हो रहा है। इस साधना का सम्बन्ध ब्रह्माण्डीय शक्ति को विद्युत प्रवाह के रूप में अपने अन्दर अनुभव करने से है। तीसरी साधना पदार्थ में छिपी हुई प्राणशक्ति को देखना है। किसी व्यक्ति को देखने से उसका स्थूल शरीर दिखलाई पड़ता है; त्वचा, रोम, रूप-रंग इत्यादि दिखलाई पड़ते हैं। इसी प्रकार पशु-पक्षी, पेड़-पौंधे, पत्थर इत्यादि का स्थूल रूप ही दिखाई देता है। व्यक्ति और वस्तु को स्थूल रूप या पदार्थ रूप में नहीं देखकर उसे प्राण-शक्ति, ऊर्जा और प्रभामण्डल के रूप में देखें तो उनका स्थूल रूप दिखलाई नहीं देगा, वरन् एक प्रकाश, एक प्रभामण्डल या प्राण का रूप दिखाई पड़ेगा। यह तब सम्भव होता है जब अंतर्दृष्टि विकसित हो या आज्ञाचक्र जागृत हो। आज्ञाचक्र की जागृति होने पर मनुष्य पदार्थ की आकृति को ही नहीं देखता, उसमें छिपे हुए तेज को भी देखता है।

यन्त्र

छिन्नमस्ता देवी के यन्त्र के मध्य में एक शक्तित्रिकोण तथा उसके चारों ओर एक के बाद एक क्रमशः तीन वृत्त रहते हैं। तीसरे वृत्त के बाहर पुनः एक शक्तित्रिकोण, उसके चारों ओर एक वृत्त और इस अंतिम वृत्त के बाहर यन्त्र-गृह रहता है।

इस यन्त्र में दो शक्तित्रिकोण दिखलाई पड़ते हैं। मध्य का त्रिकोण व्यक्त प्राण का प्रतीक है। तीन वृत्त क्रमशः तीन ग्रन्थियों – ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि; तीनों शरीरों – स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर तथा तीन इन्द्रियों – कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अंतःकरण – के प्रतीक हैं। इनके बाहर का शक्तित्रिकोण परा अवस्था में महाप्राण की अनुभूति का द्योतक है। इस त्रिकोण के चारों ओर एक वृत्त और उसके चतुर्दिक अष्टदल कमल है। अष्टदल और यन्त्र-गृह का अर्थ पूर्ववत् अन्य यन्त्रों के समान ही है।

ग्रन्थ

छिन्नमस्ता से सम्बन्धित १. शक्तिसंगम तन्त्र, २. छिन्नमस्ता हृदय और ३. छिन्नमस्ता खण्ड मुख्य ग्रन्थ हैं। छिन्नमस्ता का विस्तृत उल्लेख शक्तिसंगम तन्त्र में मिलता है।

७. महाविद्या : धूमावती

धूमावती सातवीं महाविद्या है। यह एक विचित्र देवी है, जिनका सम्बन्ध सामान्य जगत में निद्रा, आलस्य, अचेतना और विस्मृति से रहता है। इस शक्ति के विषय में कहा जाता है 'तमसः पारं दर्शयति धूमावती', अर्थात् धूमावती तमस् के पार जाने का मार्ग बताती है। अन्धकारमय क्षेत्र देवी का निवासस्थान है जहाँ पदार्थ और प्रकाश का अभाव रहता है।

सदासद् भेद

मनीषियों ने सम्पूर्ण जगत को सत् और असत् के रूप में देखा है। सत् में ईश्वर और जगत की वे स्थितियाँ हैं, जो व्यक्त, दृश्यमान और अनुभवगम्य हैं। पंच तन्मात्राओं से लेकर व्यक्त शरीर तक की सभी स्थितियाँ सत् स्थितियाँ एवं परिणति की अवस्थायें हैं।

दूसरी स्थिति है असत् की। असत् का अर्थ होता है, नाम, रूप और तत्त्व का अभाव। जो दृश्यमान नहीं, अनुभवगम्य नहीं असत् है। इसके साथ ही अभाव की चर्चा की जाती है। मनुष्य असत् अवस्था का अर्थ सामान्यतः शून्यावस्था या उस अवस्था से लगाता है, जहाँ कुछ नहीं हो, न ज्ञान हो, न चेतना। कुछ चिन्तक इस अवस्था को मोक्ष या निर्वाण के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। तन्त्र के अनुसार शून्यावस्था अभावावस्था का रूप है। तान्त्रिकों ने अभाव को मुख्यतः दो रूपों में देखने का प्रयास किया है : १. **प्रागभाव** और २. **प्रध्वंसाभाव**।

प्रागभाव का अर्थ होता है सत् के पूर्व या व्यक्त होने के पूर्व की स्थिति। आप कागज के एक कोरे पृष्ठ पर कुछ लिखने जा रहे हैं। लिखने के पूर्व वह कोरा कागज प्रागभाव की स्थिति में है, अपने मूल रूप में है। उस पर कुछ लिखने के पूर्व सृष्टि या रूप का अभाव है। दूसरी अवस्था है–प्रध्वंसाभाव की। सृष्टि के बाद, संहार की स्थिति के पश्चात् पुनः अभाव या शून्यता की जो स्थिति उत्पन्न होती है उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। ये दोनों अभाव की अवस्थायें हैं। जहाँ कुछ नहीं दिखाई पड़ता, जहाँ कोई अनुभव नहीं, जहाँ मात्र अन्धकार या तमस् की स्थिति है–असद् की अवस्था में जो शक्ति क्रियाशील रहती है, उसका नाम है धूमावती।

अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों, ऋग्वेद एवं उपनिषदों में भी असद् अवस्था या अभाव की अवस्था की चर्चा की गई है। 'असद्वाइदमग्रासीत् ततो वा सदजायत'–अर्थ है कि सबसे पहले असद् या अभाव की अवस्था थी। उस अभाव से सद् की उत्पत्ति होती है। प्रारम्भ में घोर अन्धकार की अवस्था थी और उस अन्धकार से प्रकाश की उत्पत्ति हुई। पहले कुछ नहीं था, मात्र शून्य था। शून्य में या शून्य से आकृति और आकार की उत्पत्ति हुई। शास्त्रों में इस अन्धकार या शून्य की अवस्था को असद् की अवस्था कहा गया है।

सदाभाव तथा अत्यन्ताभाव की चर्चा भी होती है। सदाभाव का अर्थ है अभाव का सतत् बना रहना तथा अत्यन्ताभाव का तात्पर्य है अभाव का अपनी पूर्णता में विद्यमान रहना। अनेक

मनीषियों का कहना है कि अभाव या अस्तित्वहीन की केवल दो स्थितियाँ हैं–प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव, अर्थात् सृष्टि के पूर्व और संहार के पश्चात् की स्थिति। उनके अनुसार एक काल, अवस्था या परिस्थिति में सदाभाव कभी संभव नहीं हो सकता। किन्तु एक रूप में सदाभाव का अनुभव हो सकता है : यदि कहा जाय कि आकाश से फूल गिर रहे हैं, या खरगोश के सींग हैं तो यह तथ्य नहीं, सदाभाव है, अर्थात् इस सद् का हमेशा अभाव रहेगा। लेकिन यदि अभाव की अवस्था काल से प्रेरित हो, काल से प्रभावित हो तब इसे बीज के रूप में देखा जा सकता है। बीज में पौधा दिखाई नहीं पड़ता। बीज की अवस्था है : प्रागभाव की अवस्था। बीज अंकुरित होता है, पौधा या पेड़ बनता है, उसमें डालियाँ, पत्ते, फूल और फल निकलते हैं। फल से बीज को निकालना प्रध्वंसाभाव की स्थिति होती है। एक व्यक्त अवस्था से पुनः मूल अवस्था को स्पन्दित करने का प्रयास करना। तन्त्र शास्त्र में धूमावती को इसी मूल शक्ति, असद् शक्ति या अभाव शक्ति के रूप में देखा गया है।

इसे निद्रा अन्धकार या अचेतन रूप में भी देखा गया है। 'देवी महात्य' में कहा गया है 'कालरात्रि, घोररात्रि, मोहरात्रि च दारुणः' अर्थात् देवी का वह रूप जो काल के लिये भी रात्रिस्वरूप हो, धूमावती का रूप है। यहाँ काल का भी अस्तित्व नहीं है। अन्धकार की स्थिति में भी अभाव की स्थिति है। अविद्या की स्थिति में अन्धकार है। इस प्रकार घोर अचेतन अवस्था को अस्तित्वरहित शक्ति में देखा गया है।

योगमाया विष्णु की शक्ति है। विष्णु अनन्त की शय्या पर योगनिद्रा में विश्राम करते हैं। योगनिद्रा का तात्पर्य जागृत अचेतनता से है। यह जागृत अचेतनता योगमाया या धूमावती की शक्ति है।

उपादान या निमित्त कारण

शक्ति या चेतना शक्ति स्वयं में कारण और निमित्त कारण है। यदि मनुष्य में किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न हो, तो उसका एक अंश उस इच्छा में समाहित होकर कार्य में भी समाहित हो जाता है। उसकी भावना या चेतना इच्छा के रूप में तो प्रकट होती ही है, कार्यरूप में भी प्रकट होती है। तन्त्र की मान्यता है कि उपादान और निमित्त कारण स्वयं परम चेतना है। 'तत्सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्', अर्थात् जब सृष्टि होती है तब ईश्वर स्वयं उस सृष्टि में प्रविष्ट हो जाता है। जब सृष्टि नहीं रहती तब ईश्वर उससे अलग हो जाता है। इस प्रकार अभाव की स्थिति ही मूल रूप है।

अस्तित्वहीनता की अवस्था की शक्ति

धूमावती को अस्तित्वहीनता की अवस्था की प्रेरक शक्ति कहा गया है। अब तक जिन देवियों की चर्चा की गई है वे व्यक्तावस्था या सृष्टि के एक रूप का, एक स्थिति का प्रतिनिधित्व

करती हैं। उदाहरण के लिये, काली कालशक्ति, छिन्नमस्ता प्राणशक्ति, भैरवी क्रियाशक्ति आदि हैं। इसी प्रकार धूमावती अस्तित्वहीनता तथा अभावावस्था का प्रतीक हैं।

तमस् की देवी

यह देवी तमस् की देवी मानी गई है। तमस् के दो रूप हैं : (१) घोर अन्धकार और (२) अविद्या। इसके कारण व्यक्तावस्था या सृष्टि में तमस् के अंश समाहित हो जाते हैं। अचेतनता तमस् का अंश है। रात्रि में सोने पर अचेतन अवस्था की प्राप्ति होती है। उस अवस्था में किसी प्रकार का ज्ञान या बोध नहीं रहता। यह धूमावती का क्षेत्र है।

स्वरूप

धूमावती का रूप विचित्र है। वह अन्य देवियों की तरह सौम्य नहीं है। रूप का वर्णन निम्नवत् है :

विवर्णा चंचला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा,
विमुक्त कुन्तला रुक्षा विधवा विरलाद्विजा।
काकध्वजरथारूढ़ा विलम्बित पयोधरा,
शूर्पहस्तातिरुक्षाक्षा धूतहस्तवरान्विता॥

देवी को विवर्णा या कुरूप कहा गया है। मूल अवस्था में जहाँ नाम और रूप के भेद समाप्त हो जाते हैं, वहाँ देवी का कोई ऐसा रूप नहीं रहता जिसे अंतःकरण के द्वारा ग्रहण करें। रूप के अभाव में वह रूपहीन या विरूप शक्ति है। धूमावती चंचल है। मूलशक्ति का कोई आधार नहीं होता और न उसे नियन्त्रित करने वाला ही कोई होता है। अचेतन में कोई चेतन तत्त्व नहीं जिसे शिव या पुरुष कहा जाय। बिना लगाम के एक जंगली घोड़ा किसी के नियन्त्रण में नहीं रहता। यही स्थिति अनियन्त्रित चंचल शक्ति की होती है। धूमावती दुष्टा एवं विशालकाय है तथा उसका परिधान मलिन है, अभिप्राय है कि शरीर का वास्तविक तेज छिपा हुआ है; शरीर की कान्ति दिखलाई नहीं पड़ती है। 'धूमावती' के नाम से भी यही अर्थ स्पष्ट होता है। देवी धूमवर्णा हैं। धुएँ में न तो अंधकार का अन्तिम रूप दिखाई देता है और न प्रकाश का ही। वह मध्य की अवस्था है। यदि अन्धकार में प्रकाश की किरणें विकीर्ण हो जायें तो उस समय धूयें का मलिन रूप या मलिन आकृति दिखाई पड़ती है। देवी के केश खुले हुए, बिखरे हुए हैं। खुले हुए केश में सभी प्रकार की स्थूल, सूक्ष्म और कारण शक्तियाँ विक्षिप्त अवस्था में हैं, संगठित नहीं। खुले केश भी शक्ति की अनियन्त्रित अवस्था ही प्रकट करते हैं। उनकी आँखें भयंकर, लाल और पागल जैसी हैं; एक बिन्दु पर नहीं टिकती हैं। ये विक्षिप्त इन्द्रियों के प्रतीक हैं, जो केन्द्रित नहीं हो सकती हैं। धूमावती को विधवा कहा गया है। यह शक्ति की मूल एकाकी अवस्था का प्रतीक है। अपनी परिणति या रूपान्तरण के क्रम में हर अवस्था और हर स्थिति में भिन्न-भिन्न पुरुष को सहयोगी के रूप में प्राप्त करती

हैं। मूल शक्ति काली रूप में काल को प्राप्त करती है; तारा रूप में अक्षोभ्य की प्राप्ति होती है। लेकिन जब शक्ति पुनः मूल अवस्था को प्राप्त करती है तो वहाँ सभी प्रकार के पुरुष तत्त्वों के अस्तित्व का अभाव हो जाता है। किसी सहयोगी के बिना स्वतंत्र रूप से रहती है। इसी अवस्था को यहाँ विधवा के रूप में समझाया गया है। देवी को वृद्धा के रूप में देखा गया है। उनका चेहरा हँसता हुआ है, लेकिन क्रमशः एक के बाद दूसरा दाँत टूटा हुआ है। यह देवी रथ पर सवार है तथा इनके ध्वज पर कौए का चिह्न है। देवी के एक हाथ में सूप है। सूप अनाज को फटकने तथा उससे भूसा कंकड़ इत्यादि को अलग करने के काम में आता है। यहाँ सूप या फटकने की क्रिया का तात्पर्य सद् को असद् से, मृत्यु को जीवन से और सृष्टि को संहार से अलग करने से है। इसका अर्थ यह है कि देवी अपनी शक्ति के द्वारा सद् और असद् की स्थिति को एक-दूसरे से अलग करती हैं और अन्त में देवी का एक हाथ वरदा मुद्रा में है।

बीज मन्त्र

धूमावती का पूर्ण मन्त्र है 'धूं धूं धूमावती फट् स्वाहा' और बीज मन्त्र है 'धूं'।

साधना

धूमावती की साधना है :

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।

असद् से सद् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर जाने की धारणा बनाकर अपने मूल रूप को प्राप्त करने का प्रयास धूमावती की साधना है। विघ्नरहित, एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शून्य में केन्द्रित किया जाता है। यह धारणा की जाती है कि "मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं भावना नहीं हूँ तथा न कर्ता हूँ न भोक्ता"। इस साधना से अंतःकरण तथा इन्द्रियों के क्षेत्र में शून्यावस्था की अनुभूति होती है। यह शून्यावस्था धूमावती के अनुभव को प्राप्त करने का प्रथम चरण है। तत्पश्चात् उसी शून्यता में चंचल शक्ति का आभास होने लगता है।

यन्त्र

धूमावती का यन्त्र अति सरल है। इसके मध्य में दो अध्यारोपित त्रिकोण होते हैं; उसके चारों ओर एक वृत्त और वृत्त के बाहर अष्टदल कमल। कमल के चारों ओर यन्त्र-गृह है। एक त्रिकोण उर्ध्वमुखी तथा दूसरा अधोमुखी है। उर्ध्वमुखी त्रिकोण शिव तत्त्व का तथा अधोमुखी त्रिकोण शक्ति तत्त्व का प्रतीक है। यहाँ दोनों तत्त्व विश्राम की स्थिति में, एक दूसरे से अभिन्न और मूल अवस्था में हैं। यहाँ दोनों तत्त्वों में पूर्ण समानता है। विश्राम की स्थिति के कारण यहाँ किसी प्रकार की क्रिया या परिणति नहीं है। यही धूमावती की अवस्था है।

ग्रन्थ

देवी धूमावती से सम्बन्धित ग्रन्थ १. 'धूमावती तन्त्र' और २. 'प्राण तोषिणी तन्त्र' हैं। धूमावती तन्त्र में देवी के रूप और सिद्धान्त की व्याख्या की गई है। प्राण तोषिणी तन्त्र में उपासना और साधना का उल्लेख किया गया है।

८. महाविद्या : वगलामुखी

आठवीं महाविद्या है वगलामुखी। यह देवी स्तम्भन शक्ति का प्रतीक है। स्तम्भन शक्ति का तात्पर्य होता है निकम्मा कर देनेवाली या बेकार बना देने वाली शक्ति। इसके बारे में कहा जाता है कि :

वादी मूकति, रंकति क्षितिपितिः।
वैश्वानरः शीतति, क्रोधी शाम्यति,
दुर्जनः सुजनति, क्षिप्रानुगः खञ्जति ॥
गर्वी खर्वति, सर्वविच्च जड़ति,
त्वद्यन्त्रणायन्त्रितः।
श्रीनित्ये वगलामुखी !
प्रतिदिनं कल्याणीं तुभ्यं नमः ॥

इन मन्त्रों का अर्थ सरल तथा महत्त्वपूर्ण है। वक्ता को मूक तथा ऐश्वर्यवान को दीन बना देती है। प्रज्वलित अग्नि को शीतल तथा क्रोधी व्यक्ति को शान्त करती है। इसके प्रभाव से बुरे व्यक्तियों में सद्भाव जागृत होता है तथा तेज चलनेवाला लंगड़ाने लगता है। यह गर्वोन्नत के गर्व से नष्ट करती है तथा ज्ञानी को जड़ या अज्ञानी बनाती है। ऐसी सनातन सत्तावाली तथा कल्याण करनेवाली देवी वगलामुखी, तुम्हें प्रतिदिन प्रणाम।" इन सभी कार्यों में देवी की स्तम्भन-शक्ति ही प्रकट हो रही है। वगलामुखी शक्ति मनुष्य के जीवन की सभी क्रियाओं को रोककर उसे मूढ़ बना देती है; वाणी, बुद्धि और मन को जड़ कर देती है। वगलामुखी शब्द की उत्पत्ति वल्गा से हुई है। वल्गा का अर्थ होता है लगाम। लगाम लगाकर घोड़े को नियन्त्रित किया जाता है। वल्गा शब्द से वगला बना और फिर वगलामुखी बन गया। इस प्रकार वगलामुखी का अर्थ हो गया–वह देवी जो मुँह में वल्गा डाल वाणी को रोक दे।

वाणी का सम्बन्ध हमेशा इन्द्रियों से रहा है। वाणी इन्द्रियों की अभिव्यक्ति क्षमता है। मनुष्य कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा अंतःकरण से प्राप्त अनुभवों को वाणी द्वारा व्यक्त करता है। अतः वाणी को जीवन की सभी अवस्थाओं में अभिव्यक्ति का माध्यम माना गया है। वाणी का तात्पर्य केवल बोले गये शब्दों से ही नहीं है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार की सभी क्रियायें भी वाणी के अन्तर्गत आती हैं। स्थूल वाणी द्वारा बाह्य जगत से सम्पर्क होता

है और सूक्ष्म वाणी के द्वारा स्वयं के भीतर स्पष्टीकरण होता है। यहाँ आन्तरिक और बाह्य अभिव्यक्तियों को वाणीशक्ति कहा गया है। उसे रोक देना वगलामुखी शक्ति का प्रधान कार्य है। कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अंतःकरण की वृत्तियाँ बहिर्मुखी होती हैं। जब तक ये इन्द्रियाँ सक्रिय रहेंगी व्यक्ति की चेतना बहिर्मुखी बनी रहेगी। इन्हें रोककर जब आन्तरिक वृत्ति को जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है, तब इस स्तम्भन शक्ति का अनुभव होता है। स्तम्भन शक्ति का अर्थ होता है : बाह्य वृत्तियों पर संयम।

वगलामुखी का दूसरा नाम है बकमुखी। यह देवी अपने विरोधियों या शत्रुओं को बत्तख का चेहरा प्रदान करती है। देवी के इस कार्य के पीछे एक रहस्य है। हंस और बत्तख विपरीत गुणों वाले पक्षी हैं। हंस विवेक-वृत्ति या ज्ञान-वृत्ति का प्रतीक है। बत्तख बेवकूफ की तरह दिन भर क्वैक-क्वैक करते रहता है एवं अपनी बोली को रोक नहीं सकता। इसी की उपमा देते हुए कहा गया है कि देवी वगलामुखी अपने विरोधियों को बत्तख जैसा सिर देती हैं या उनकी बुद्धि को प्रतिकूल बना देती हैं। प्रतिकूल बुद्धि की अवस्था में व्यक्ति को कुछ स्पष्टतः सूझता नहीं; न वह सोच सकता है, न व्यक्त कर सकता है और न कार्य ही कर सकता है।

तन्त्र में मारण, उच्चाटन, स्तम्भन, सम्मोहन, विद्वेषण के प्रयोगों की चर्चा होती है। स्तम्भन हेतु वगलामुखी शक्ति का प्रयोग किया जाता है। प्राचीनकाल में शत्रु सेना को रोकने के लिये वगलामुखी मन्त्र का प्रयोग किया जाता था। लेकिन ऐसे प्रयोग वगलामुखी साधना के लक्ष्य नहीं हैं।

मन की वृत्तियों को रोकना वगुलामुखी साधना का मुख्य उद्देश्य है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण योग में मिलता है। पातञ्जल योगसूत्र के दूसरे सूत्र "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" में कहा गया है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। यह वस्तुतः वगलामुखी साधना का प्रारम्भ है, क्योंकि यहाँ अन्दर में उत्पन्न हो रही वृत्तियों एवं क्रियाओं को स्तम्भित कर देने का प्रयास किया जा रहा है।

त्रिपुर सुन्दरी के प्रसंग में तीन रूपों की चर्चा की गई है : बाला, मन्त्रिणी और दण्डनाथा। दण्डनाथा सेनापति का रूप है। त्रिपुर सुन्दरी की दण्डनाथा वगलामुखी शक्ति है। वगलामुखी में क्रिया को स्तम्भित करने की क्षमता है। जहाँ क्रिया होती है वहीं वगलामुखी शक्ति का प्रयोग होता है। स्थिरता की अवस्था में वगलामुखी का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है। चंचल स्थिति या क्रियात्मक स्थिति में ही वह अपनी स्तम्भन-शक्ति का प्रयोग कर चंचलता, उद्वेग या क्रिया को रोक सकती हैं, शमित कर सकती हैं। क्रिया या गति के प्रारम्भ होने पर ही वह उसे अपने नियन्त्रण में ला सकती हैं।

स्वरूप

देवी वगलामुखी का रूप सौम्य है : स्त्री शरीर, बगुले का सिर, पीला वस्त्र, पीले आभूषण, बायें हाथ से शत्रु की जिह्वा खींच रही है और दाहिने हाथ में गदा है। बगुले के समान सिर

का सम्बन्ध देवी के नाम से है। जीभ खींचने का तात्पर्य वाणी को या समस्त प्रकार की अभिव्यक्तियों को स्तम्भित कर देने से है। देवी के दाहिने हाथ में गदा है। गदा की शक्ति उसके गोलाकार भाग में केन्द्रित रहती है। उसके प्रहार से कोई भी व्यक्ति या वस्तु चकनाचूर हो सकती है। यहाँ गदा शत्रु के अंतःकरण पर प्रहार का प्रतीक है। इस प्रहार से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के समस्त कार्य स्तम्भित हो जाते हैं, रूक जाते हैं।

साधना

गुह्य विद्याओं में देवी की साधना, आराधना की चर्चा की गई है। तदनुसार साधक को इस देवी की साधना आराधना पीला वस्त्र धारण कर, पीले पुष्प और हरिद्रा की माला से करनी चाहिये। गुह्य विद्याओं के अनुसार सत्त्व अवस्था में चेतना का रंग हिरण्यवर्णीय होता है, अर्थात् वह स्वर्ण के समान चमकदार और प्रकाशमान होता है। जगत में परिणति के बाद जब चेतना एक रूप धारण करती है तब उसका हिरण्यवर्ण पीले रंग में बदल जाता है और चमक समाप्त हो जाती है। उसकी चमक, प्रकाश या विकीर्ण होती हुई शक्ति स्वयं में समाहित हो जाती है। यदि सोने से चमक को हटा दें तो वह पीले रंग का हो जाता है। पीला रंग अंतःकरण का रंग माना गया है। अंतःकरण की अवस्था में चेतना अपने मूल प्रकाश-स्वरूप को व्यक्त नहीं कर पाती है। मन की सम्पूर्ण प्रतिभा पूर्ण विकसित नहीं हो पाती है। जब अंतःकरण की सम्पूर्ण प्रतिभा विकसित होकर पुनः सत्त्व अवस्था का अनुभव करने लगती है, तब मनुष्य हिरण्यगर्भ की अवस्था प्राप्त करता है। तन्त्रों में कहा जाता है कि लौकिक चेतना द्वारा या बाह्य वृत्तियों द्वारा संस्कार को सूक्ष्म अवस्था से भिन्न देखा जाता है। यह व्यक्त मन की स्थिति होती है, और वह मन पीत वर्णी होता है। इनकी साधना में राजयोग और हठयोग को मुख्य अभ्यास के रूप में बताया जाता है। इनके अभ्यास के द्वारा बाह्य एवं आन्तरिक वृत्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। योगसूत्रों में इस नियन्त्रण के अर्थ एवं अवस्थाओं का पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

बीज मन्त्र

वगलामुखी का बीजमंत्र 'ह्लृं' है।

यन्त्र

देवी वगलामुखी के यन्त्र में दो अध्यारोपित त्रिकोण हैं : एक शिव त्रिकोण और एक शक्ति त्रिकोण। इनके बीच में पुनः एक शिव त्रिकोण है। अध्यारोपित त्रिकोणों के चारों ओर एक वृत्त और उसके बाहर अष्टदल कमल है। कमल के चारों ओर यन्त्र-गृह है।

यद्यपि यह यन्त्र धूमावती के यन्त्र जैसा ही है, लेकिन मध्य के शिव त्रिकोण के कारण इसकी परिभाषा बदल जाती है। धूमावती के विषय में कहा गया है कि वह अव्यक्त, मूल, मूढ़, अचेतन या घोर तमस् की अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। वगलामुखी के विषय में

कहा जाता है कि चेतन या रजस् को स्थिर करके मूढ़ बनाती है। इस प्रकार धूमावती अचेतन तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है, तो वगलामुखी चेतन तत्त्व को स्तम्भित करने की क्षमता रखती है। जिस चेतन तत्त्व को स्तम्भित किया जाता है उसे यन्त्र के मध्य में स्थित एक छोटे शिव त्रिकोण से निर्दिष्ट किया गया है। तात्पर्य यह है कि जहाँ शिव और शक्ति व्यक्तावस्था में एक रूप में अनुभव गम्य हैं वहाँ वगलामुखी चेतन-तत्त्व को स्तम्भित करने की क्षमता रखती है।

ग्रन्थ

देवी वगलामुखी से सम्बन्धित १. 'संखायन तन्त्र', २. 'वगलामुखी तन्त्र', ३. 'शाक्त प्रमोद तन्त्र' और ४. 'वगला क्रम कल्पवल्ली' प्रमुख ग्रन्थ हैं।

९. महाविद्या : मातंगी

मातंगी नौवीं महाविद्या है। इस देवी का सम्बन्ध चिन्तनशील मन के साथ है। यह शब्द-शक्ति या ध्वनिराशि का प्रतिनिधित्व करती है। शब्द-शक्ति स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय अवस्थाओं में क्रमशः वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और रूप में अनुभव की जाती है। इस देवी शक्ति का अनुभव साधक अपने जीवन में वैखरी के रूप में करता है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा तक व्यक्ति का जीवन अन्तर्मुखी माना जाता है। अंतर्मुखी जीवन का व्यक्त बाह्य संसार से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। जब अन्तरंग जीवन की क्रिया बाह्य रूप में उत्पन्न होने लगती है, तब इन्द्रियों और अंतःकरण के द्वारा मनुष्य का सम्बन्ध बाह्य संसार से स्थापित होने लगता है। इस अवस्था में चेतना के अनुभवों को इन्द्रिय जगत में व्यक्त करने और इन्द्रिय जगत के अनुभवों को चेतना के क्षेत्र तक पहुँचाने हेतु वाणी या शब्द-शक्ति एक प्रमुख साधन बन जाती है। शब्द-शक्ति एक संक्रमण-शक्ति या रूपान्तरकारी शक्ति है; यह बाह्य और अन्तर्जगत के बीच में सम्बन्ध जोड़ने की क्षमता है।

सामान्य रूप में देखा गया है कि वाणी का सम्बन्ध स्थूल अभिव्यक्ति में अंतःकरण से रहता है। यहाँ केवल स्थूल अभिव्यक्ति की चर्चा नहीं हो रही है। यह सत्य है कि देवी वैखरी शक्ति या शब्द-शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं, लेकिन उसका सम्बन्ध चेतना की अन्य सभी अवस्थाओं से भी रहता है। चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में जब शब्द की उत्पत्ति होती है, तब वह एक ज्ञान के रूप में अपना बीज वहाँ डालता है।

साधना

मातंगी देवी की उपासना हेतु नाद योग की साधना विहित की गई है। नादयोग के अनेक रूप होते हैं। प्रथम रूप का जो वर्णन योग में किया गया है : वह है बाह्य ध्वनि को सुनना। स्थूल से स्थूल तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनि को चाहे उसका रूप स्पन्दन का ही क्यों न हो–सुनने

का प्रयास किया जाता है। नाद-योग की साधना प्रक्रिया में बताया जाता है कि बाह्य ध्वनियों को सुनते-सुनते जब ध्वनि के प्रति मानव चेतना का विस्तार होता है तथा धीरे-धीरे चेतना में आन्तरिक सजगता की वृद्धि होती है, तब श्रवण इन्द्रिय को बन्द कर देने पर आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा स्मृति-क्षेत्र में छिपी हुई ध्वनि सुनाई देती है। कभी-कभी संगीत के स्वर सुनाई पड़ते हैं, कभी झरने की आवाज या सागर की लहरों के चट्टानों से टकराने की आवाज सुनाई पड़ती है, कभी पक्षियों का कलरव, बाँसुरी का स्वर अथवा ढोल, मृदंग या नगाड़े के शब्द सुनाई पड़ते हैं।

मनीषियों ने नाद को अनेकों रूपों में देखने का प्रयत्न किया है। उपरोक्त ध्वनियों या नादों को सुनने के बाद पश्यन्ती नाद सुनाई पड़ता है और इस पश्यन्ती नाद की व्याख्या नहीं की जा सकती है। पश्यन्ती नाद के बाद परा नाद विस्फोट के रूप में सुनाई पड़ता है। यह परा नाद ही अनहद् या अनाहत नाद है। नाद को उन्होंने मुख्यतः दो रूपों में देखा है : आहत और अनाहत। दो 'वस्तुओं' के मध्य स्पर्श, सम्पर्क या घर्षण से उत्पन्न ध्वनि को हत नाद कहा गया है। इसके अनेकों उदाहरण हैं। जिह्वा जब तालु, दाँतों और ओठों से टकराती है तो ध्वनि उत्पन्न होती है। ताली की ध्वनि दो हाथों की टकराहट का परिणाम है। वायु और बाँसुरी की आन्तरिक सतह के अवरोध से बाँसुरी की धुन सुनाई पड़ती है। मृदंग नगाड़े और तबले पर हाथ की थाप से ध्वनि उत्पन्न होती है। नाद का दूसरा प्रमुख रूप है : अनाहत, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता है। जब हमारे अंदर में अनाहत की अनुभूति होने लगती है, तब समस्त इन्द्रियाँ एवं शारीरिक या बाह्य चेतना उसकी समस्वरता प्राप्त कर उसके साथ झूमने लगती हैं। मातंगी-सिद्धि के लिये इस नादयोग की साधना का उल्लेख किया गया है।

स्वरूप

देवी मातंगी के रूप की चर्चा करते हुए तन्त्रशास्त्र कहता है कि वह एक चाण्डाल-कन्या जैसी तथा कृष्णवर्णा है। वल्कल वस्त्र तथा बालों में फूल बाँधे हैं। देवी के एक हाथ में वीणा तथा दूसरे हाथ में एक शुक या तोता है।

देवी के स्वरूप के इस संक्षिप्त वर्णन से ऐसा लगता है कि उनका रूप एक आदिवासी बाला की तरह पूर्णतः प्राकृतिक है। उनके एक हाथ में वीणा है। वीणा और वाणी में विशेष अन्तर नहीं है। इन दोनों में केवल इतना ही अन्तर है वीणा में 'ई कार' पहले आया है और वाणी में बाद में। देवी की वीणा से सूक्ष्म ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं। देवी के दूसरे हाथ में एक तोता है। तोते को स्वयं भाषा का ज्ञान नहीं रहता है, लेकिन उसे प्रशिक्षण देकर भाषा सिखाई जा सकती है। मिट्ठू-मिट्ठू कहते-कहते वह राम-राम भी बोलने लगता है। उसकी कण्ठध्वनि को भाषा का रूप दिया जा सकता है तथा शब्दों को व्यक्त करने में वह मनुष्य की तरह सक्षम हो सकता है। यह तोता मनुष्य की चेतना का प्रतीक है। चेतना की स्वयं की

कोई भाषा नहीं होती। यदि वह स्वयं को व्यक्त करने का प्रयास करे तो अबोधगम्य ध्वनि निकलेगी। लेकिन जब धीरे-धीरे चेतना का विस्तार होता है और बाह्य वातावरण, बाह्य विषयों और बाह्य इन्द्रियों से उसका समन्वय स्थापित होता है, तब एक भाषा जन्म लेती है। अभी हम जिस भाषा में बातचीत करते हैं उसकी उत्पत्ति इसी रूप में नहीं हुई थी। भाषा की उत्पत्ति एक भिन्न रूप में होती है, लेकिन परिष्कार या शुद्धि की प्रक्रिया के द्वारा उसमें संशोधन, परिवर्तन होता है। चेतना की इस परिवर्तन शक्ति या क्षमता की नियन्त्रकर्तृ देवी मातंगी है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा का जन्म सर्वप्रथम महाकारण में होता है; महाकारण से पुनः कारण में, कारण से सूक्ष्म में और सूक्ष्म से स्थूल में शब्द प्रकट होते हैं। स्थूल में प्रकट होने के बाद भी वे अनेक परिवर्तनों से गुजरते हैं। अतः देवी द्वारा अपने हाथ में तोते को धारण करने का प्रतीकात्मक महत्त्व है। यह इन्द्रिय जगत में मानव चेतना के विकास का प्रतीक है, जहाँ चेतना की अभिव्यक्ति वाणी या भाषा का रूप लेती है।

अनेक नाम

मातंगी देवी का दूसरा नाम है **वाग्वादिनी**। ऋग्वेद सहित अनेक वेदों में वाक्देवी की स्तुति की गई है। सरस्वती के मन्त्रों में भी वाक् की स्तुति की गई है। वाग्वादिनी का अर्थ है : जो इन्द्रियों को बोलने या शब्द-उच्चारण करने की क्षमता प्रदान करे।

इस देवी का तीसरा नाम है **मन्त्रिणी**। त्रिपुर सुन्दरी के तीन रूप होते हैं : बाला, दण्डनाथा और मन्त्रिणी। दण्डनाथा के रूप में वगलामुखी से उसकी समानता बताई गई थी। मन्त्रिणी का अर्थ होता है परामर्शदात्री शक्ति। मातंगी का सम्बन्ध मन्त्रिणी से बैठता है। मन्त्रणा की उत्पत्ति मन से होती है। मति या चिन्तनशील विचार का स्रोत मन ही है। अतः चिन्तनशील विचार या मन्त्रणा देने की क्षमता मातंगी देवी का एक-अलग रूप है। इनके द्वारा वह बाह्य और आन्तरिक जीवन में मनःशक्ति को प्रेरित करती हैं। बाह्य जीवन में प्ररित करने का उद्देश्य बहिर्मुखी अज्ञान को दूरकर बाह्य विद्या को ग्रहण करना होता है। आन्तरिक जीवन में मन्त्रणा का उद्देश्य होता है : आत्मचिन्तन के द्वारा आन्तरिक अज्ञान को दूर करना।

मातंगी देवी का एक अन्य नाम है **महापिशाचिनी**। पिशाच एक प्रकार के प्रेतात्मा को कहा जाता है, जिसके शारीरिक रूप को देखा नहीं जा सकता। पिशाचों के शरीर का रंग धूमवर्णीय होता है; उनकी आकृति धूयें के समान अस्पष्ट दिखाई पड़ती है। अस्पष्ट आकृति या कृष्णवर्णा होने के कारण मातंगी देवी का नाम महापिशाचिनी पड़ा है।

इस देवी का और नाम है सुमुखी। इसका तात्पर्य है मुख से शुभ शब्दों या शुभ वाणी को व्यक्त करने वाली देवी।

मन्त्र

मातंगी देवी के दो बीजमंत्र हैं : 'ह्रीं' और 'हूँ'।

यन्त्र

देवी मातंगी का यन्त्र अनाहत चक्र के यन्त्र से मिलता-जुलता है। धूमावती यन्त्र में एक-एक अध्यारोपित शिव और शक्ति त्रिकोण हैं। धूमावती और मातंगी के यन्त्र एक समान हैं। अध्यारोपित शिव-शक्ति त्रिकोणों के चारों ओर एक वृत्त और उसके बाहर एक अष्टदल कमल रहता है। इसके चारों ओर यन्त्र-गृह रहता है।

प्रश्न उठता है कि यदि धूमावती और मातंगी के यन्त्र एक समान हैं, तो उनमें भिन्नता का आभास कैसे होगा ? यहाँ इस बात का उल्लेख करना प्रासंगिक है कि यन्त्र से सम्बन्धित एक अन्य विचारधारा या सिद्धान्त भी है, जो यन्त्र के रंग से सम्बन्धित है। विभिन्न यन्त्रों के भेद या अन्तर को रंगों के आधार पर भी समझना चाहिये। धूमावती के यन्त्र का रंग सुरमे के समान स्लेटी है, जबकि मातंगी-यन्त्र का रंग नीला है, आकाश या समुद्र के समान।

ग्रन्थ

मातंगी देवी से सम्बन्धित चार तन्त्र ग्रन्थ हैं : १. मातंगी तन्त्र, २. मातंग हृदय, ३. शाक्त प्रमोद और ४. मातंगी सहस्रनाम। शाक्त प्रमोद में अन्य विषयों के साथ-साथ मातंगी देवी की भी चर्चा की गई है। 'मातंगी सहस्रनाम तन्त्र' में देवी के एक हजार नामों का उल्लेख करते हुए उनकी पूजा-विधि का भी वर्णन किया गया है।

१०. महाविद्या : कमला

दस महाविद्याओं में कमला या कमलात्मिका अन्तिम महाविद्या है। इस विद्या का सम्बन्ध आत्मशक्ति से है। इसकी साधना-पद्धति और मन्त्र तीसरी महाविद्या अर्थात् त्रिपुर-सुन्दरी से मिलते-जुलते हैं। कमला देवी की विद्या भी श्रीविद्या है और बीज मन्त्र 'श्री' है। दोनों देवियों की साधना-पद्धति भी समान है। केवल रूप और देवता का अन्तर है। त्रिपुर सुन्दरी की विद्या में कामेश्वर देवता हैं; कामेश्वर भगवान् शंकर का एक नाम है। कमला या कमलात्मिका महाविद्या में भगवान नारायण या विष्णु इनके देवता हैं। दोनों महाविद्याओं में मुख्य भेद यही है।

सामान्यतः शैव और वैष्णव विचारधाराओं में मतभेद रहा है। मान्यता के अनुसार शिव संहार करते हैं; वे संहारक शक्ति के प्रतीक हैं। विष्णु पालनकर्त्ता हैं। विचारधारा है कि संहार करने वाला पालन का कार्य नहीं कर सकता और पालनकर्त्ता संहार का कार्य नहीं कर सकता। शैव शिव को परिवर्तनकारक या रूपान्तरकारी क्षमता मानकर सर्वश्रेष्ठ स्थान देने का प्रयास करते रहे हैं और वैष्णव विष्णु को पालनकर्त्ता के रूप में सर्वश्रेष्ठ मानने का प्रयत्न करते रहे हैं। तन्त्र पर सूक्ष्म रूप से मनन करने से पता चलता है कि दोनों में बहुत ही कम भेद है। तन्त्र शास्त्र कहता है कि अज्ञानवश ही मानव मन में मतभेद उत्पन्न होते हैं।

शिव का एक नाम है हर और विष्णु का एक नाम है हरि। दोनों नामों की उत्पत्ति संस्कृत के 'हृ' धातु से हुई है। हर और हरि में विशेष अन्तर भी नहीं है; केवल 'इ' कार की एक मात्रा लग गई है जिससे उनके नामों का व्यवहार अलग-अलग रूप में होता है। तन्त्र दोनों को समान महत्त्व देता है। 'अ' और 'इ' कार में नामों का अन्त होने के कारण ही इनकी शक्तियों की भिन्नता का अनुमान लगाया जाता है। शैव मत के एक सम्प्रदाय के अनुसार जो पाणिनि सूत्रों के आधार पर शैव मत की व्याख्या करते हैं, 'इ' का तात्पर्य शक्ति से होता है। इस प्रकार हर में 'इ' जोड़ने से हरि हो गया और इसका अर्थ हो गया हर की शक्ति। ये एक ही सत्य के दो रूप हैं : हर और हरि। तान्त्रिक विचारधारा में इसी हर को चेतना की तथा हरि को शक्ति की संज्ञा दी गई है। इस अवधारणा को समझने के लिये चेतना को पुल्लिंग तथा शक्ति को स्त्रीलिंग नहीं माना जाना चाहिये। इन्हें एक भिन्न दृष्टिकोण से देखना चाहिये। चेतना का प्रयोजन या लक्ष्य होता है विकास। इस विकास के क्रम में एक से दूसरी स्थिति में परिवर्तन या रूपान्तरण होता रहता है। परिवर्तन के पश्चात् तथा परिवर्तन के क्रम में जो स्थिति या अवस्था रहती है, उसमें मनुष्य को शक्ति के द्वारा पूर्णता की अनुभूति प्राप्त होती है। हर की अवस्था में पूर्णता की अनुभूति नहीं हो सकती है, लेकिन जिस स्थिति या अवस्था में पूर्णता की अनुभूति हो वहाँ शक्ति का कार्य होता है। इस शक्ति को हरि शक्ति या हरि के नाम से सम्बोधित किया गया है और चेतना की परिवर्तित अवस्था को हर नाम दिया गया है। ये दोनों देवता अभिन्न होते हुए भी सृजन कार्य में अपनी भिन्न-भिन्न प्रतिभाओं और क्षमताओं का प्रयोग करते हैं।

तन्त्र में कहा जाता है कि शिव के रौद्र रूप या संहारकर्त्ता के रूप में भी एक मंगल मूरत छिपी हुई है। रौद्र रूप में सन्निहित यह मंगलमूरत या मंगलकारी भाग विष्णु तत्त्व से अभिन्न है। विष्णु तत्त्व में भी उनके आत्मीयतापूर्ण, करुणामय और मंगलकारी स्वभाव में रौद्र रूप दिखाई पड़ता है। अपने रौद्र रूप के द्वारा वे संसार के परिवर्तनों को नियमित, अनुशासित और व्यवस्थित बनाये रखते हैं। रौद्र शक्ति ब्रह्माण्डीय विकास का लक्षण है। इस विकास में जिन शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है उनका आधार विष्णु शक्ति है। संहार के पश्चात् वे मांगलिक कार्य के लिये भगवान कामेश्वर का रूप धारण कर लेते हैं। कामेश्वर का अर्थ होता है प्रेम के देवता या मधुर भाव से परिपूर्ण देवता। कामेश्वरी, त्रिपुर-सुन्दरी या मोहिनी इसी कामेश्वर की शक्ति है।

कामेश्वर और कामेश्वरी का अनुभव तीनों लोकों में होता है। इसीलिये देवी को त्रिपुर सुन्दरी कहा गया है। तन्त्रशास्त्र के अनुसार ये तीन लोक होते हैं–सत्, चित् और आनन्द अथवा शरीर, अंतःकरण और आत्मा। सत्, चित् और आनन्द की अवस्था में कामेश्वर एवं कामेश्वरी का अनुभव होता है। ये आत्मा की तीन उच्च अवस्थाओं के प्रतीक हैं, अनुभूतियों के विभिन्न स्तर हैं। भौतिक स्तर या शरीर और अंतःकरण को पार कर लेने के पश्चात् जब साधक अपने

आपको आत्मा के क्षेत्र में स्थित कर लेता है, तब वहाँ भी आत्मा से सम्बन्धित सत्, चित्त और आनन्द की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव करता है। सत् की स्थिति प्रथम स्थिति है; आनन्द की स्थिति अन्तिम स्थिति है। चित् की अवस्था में आत्मा और परमात्मा का, एक चेतना का दूसरी चेतना के साथ मिलन होता है। यह मध्य की स्थिति है। विष्णु शक्ति के द्वारा ही, जिसे कमला या कमलात्मिका कहते हैं, तीनों लोकों में अलग-अलग कामेश्वर और कामेश्वरी की अनुभूति प्राप्त होती है।

यहाँ विष्णु के वामन अवतार का वर्णन प्रासंगिक है। वामन ने राजा बलि से तीन पग भूमि माँगी थी। वचन मिलने से दो पगों से पृथ्वी तथा स्वर्ग को नाप लिया तथा तीसरा पग बलि के सिर पर रख दिया। मनीषियों के अनुसार ये तीन ब्रह्माण्ड या चर-अचर जगत में चेतना या आत्मा की तीन विभिन्न अवस्थाओं या स्थितियों के प्रतीक हैं। तन्त्र और वेदों ने इन्हें सत्, चित् और आनन्द कहा है। यदि सत् के ऊपर विष्णु का नियन्त्रण नहीं होता, तो आज सृष्टि उस रूप में नहीं होती जिस रूप में हम उसे देखते हैं। सत् की अवस्था में सृष्टि में तीनों गुण सामान्य रूप से संतुलन में व्याप्त रहते हैं। असत् की अवस्था में ये गुण एक भिन्न अनुपात में व्याप्त रहते हैं। इनका लक्ष्य विकास नहीं बल्कि बन्धन का रहता है। वामन ने चित् की अवस्था में सम्पूर्ण सृष्टि को नापा और आनन्द की अवस्था में स्वयं परम तत्त्व को नापा। विष्णु और उनकी शक्ति का निवास इन अवस्थाओं के ऊपर, चौथी अवस्था में, तुरीय अवस्था में है। विष्णु और कमला से प्रेरित होकर शेष सभी स्तरों पर चेतना का कार्य या सृजन का कार्य चलता रहता है। विष्णु तत्त्व का शाक्त तन्त्र की दसवीं महाविद्या के सन्दर्भ में सर्वोच्च पद दिया गया है। शिव और विष्णु को भिन्न नहीं, अभिन्न माना गया है। इस प्रकार प्राचीन तंत्र विष्णु की सत्ता को स्वीकार करते थे, जैसे आज वैष्णव स्वीकार करते हैं। शिव की भी उसी सत्ता को स्वीकार करते थे जिसे आज के तान्त्रिक स्वीकार करते हैं। इस स्वीकृति में कोई भेद-भाव नहीं था।

विष्णु की शक्ति होने के कारण कमला स्वयं में लक्ष्मी है। 'लक्ष्म' का अर्थ होता है मस्तक में धारण किया हुआ चिह्न जिससे शोभा बढ़ती है। इसमें 'ईकार' के योग का तात्पर्य शक्ति से है। अतः जिस शक्ति को परम चेतना ने अपने मस्तक में धारण किया है, वह लक्ष्मी कहलाती है। उसे तिलक या मांगलिक चिह्न कह सकते हैं। संसार के समस्त मांगलिक कार्यों में लक्ष्मी का निवास रहता है। सम्पूर्ण चर-अचर ब्रह्माण्ड में लक्ष्मी की कला के अंश व्याप्त रहते हैं। जिसे सामान्य भाषा में लक्ष्मी कहते हैं, वह तन्त्र शास्त्र की कमला हैं और जिसे विष्णु कहते हैं वे तन्त्र शास्त्र के नारायण हैं।

कमला को सुषमा भी कहा जाता है 'सु' उपसर्ग है और 'षमा' सम् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है समान या बराबर। इस प्रकार सुषमा या कमला, विष्णु शक्ति या चेतन तत्त्व के समान स्तर की शक्ति है। उसे एक समर्थ और मांगलिक शक्ति कहते हैं। कमला की व्युत्पत्ति

है कम् + अल् + अच् + टाप् । कम् का अर्थ है जल । अल् का अर्थ है भूषित करना । इस अर्थ के अनुसार कमला वह है जो जल को भूषण की तरह धारण करे या पहने । जल को धारण करने या पहनने का अर्थ स्वयं को उससे आभूषित कर लेना है । विष्णु के बारे में कहा जाता है कि क्षीरसागर में अनन्त की शैय्या पर लेटे रहते हैं । इस प्रकार विष्णु का निवास स्थान है सागर या जल; और कमला, जो उनकी शक्ति है, जल से पूर्णतया आभूषित है । इसीलिये कमला का तात्पर्य उस शक्ति से है जो जल से आभूषित है ।

कमला का एक अन्य नाम है 'अपोवसाना' । यह वैदिक नाम है । अपोवसाना शब्द को तोड़कर अपःवसाना के रूप में लिखा जा सकता है । अपः का अर्थ होता है जल और वसाना का तात्पर्य होता है वस्त्र या आवरण धारण करनेवाली शक्ति । अर्थात् जल का परिधान धारण करने वाली । अपः का एक अन्य अर्थ होता है गति । इसके अनुसार अपोवसाना का अभिप्राय उस शक्ति या क्रिया से होता है जिसमें गति का आभास हो । इस अर्थ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कमला वह शक्ति है, जो क्रियाशील चेतना का वस्त्र धारण किये हुए है । जीवन में शरीर, अंतःकरण और आत्मां तथा आत्मा के स्तर पर सत्, चित् और आनन्द की अनुभूति होती है । इन अवस्थाओं में जब तक गति, विकास और क्रिया का आभास होता रहेगा तब तक कमलात्मिका शक्ति का आभास होता रहेगा । योग की भाषा में इसे ही 'चेतन-शक्ति-विलास' कहते हैं । इसका अभिप्राय चेतन शक्ति, चेतन अवस्था या जागृत अवस्था की क्रीड़ा से है, जो जीवन की प्रत्येक अवस्था तथा प्रत्येक क्षेत्र में होती रहती है ।

कमला महाविद्या को 'श्री' भी कहा जाता है । श्री स्वयं में एक मांगलिक शब्द है, मांगलिक शक्ति का सूचक है ।

कमला का सम्बन्ध कमल पुष्प से भी जोड़ा गया है । कमल की जड़ और डंठल जल में रहते हैं लेकिन पत्ते और पुष्प जल से ऊपर तथा उससे अप्रभावित रहते हैं । इसी प्रकार एक साधक कमलात्मिका शक्ति का अनुभव सर्वप्रथम अचेतन अवस्था में करता है । यौगिक दृष्टिकोण से स्वाधिष्ठान जल तत्त्व तथा अचेतनता का प्रतीक होता है । अचैतन्यता का अर्थ जहाँ चैतन्य प्रकाश या चैतन्यता का प्रकाश नहीं पहुँचता है । जहाँ चैतन्यता का प्रकाश नहीं पहुँचता है वहाँ विद्यमान सर्वशक्तिमान सत्ता का अनुभव नहीं हो सकता है । अचैतन्यता में सर्वव्यापी शक्ति की अनुभूति नहीं हो सकती है । चैतन्य अवस्था में ही उसकी अनुभूति हो पाती है । लेकिन उस अचैतन्य स्थिति में भी शक्ति कमल की भाँति अपने निज स्वरूप में अवस्थित रहती है । जल में रहते हुए भी जल से अप्रभावित रहती है । कमल-पुष्प की एक अन्य विशेषता भी है । सूर्य-किरणों के प्रकाश में वह खिलता है और सूर्यास्त के समय बन्द हो जाता है । इसी प्रकार कमला का अनुभव ज्ञानोदय के समय होता है । जब मनुष्य के अन्दर ज्ञान-क्षमता जागृत होती है, ज्ञान की उत्पत्ति होती है तभी वह कमला या कमलात्मिका शक्ति को जान सकता है ।

मनीषियों ने आध्यात्मिक चक्रों को भी कमल पुष्प के रूप में देखा है। चक्रों के विषय में कहा गया है कि वे क्रमशः चतुर्दल, षट्दल, दशदल, द्वादशदल, षोड़शदल, द्विदल और सहस्रदल हैं। प्रत्येक चक्र विकासशील चेतना की एक अवस्था का द्योतक है। पुनः प्रत्येक दल चेतना की उस अवस्था के एक पक्ष का प्रतीक है। अतः जब हमारे भीतर के चक्र-कमल का एक-एक दल खिलता है, तो वह चेतना की एक अवस्था में विकास को प्रकट करता है। यह चेतना की एक स्थिति में विकास का एक लक्षण है। जब एक चक्र-कमल के सभी दल खिल जाते हैं, तब यह माना जाता है कि उस चक्र से सम्बन्धित चेतना एवं उससे सम्बद्ध क्षेत्रों का पूर्ण विकास हो गया है।

स्वरूप

कमला कमल पुष्प पर खड़ी है। उसके चार हाथ हैं : दो हाथों में कमल पुष्प हैं, तीसरा हाथ अभय मुद्रा में तथा चौथा हाथ वरदा मुद्रा में है। देवी के अंग स्वर्ग के समान कान्तिपूर्ण और अति सुन्दर हैं। रूप लक्ष्मी जैसा है। देवी के वस्त्र श्वेत और प्रकाशमान हैं। देवी के चारों ओर चार हाथी खड़े हैं। वे अपनी-अपनी सूँड़ से एक-एक कलश पकड़े हुए हैं तथा कलशों के जल से देवी को स्नान करा रहे हैं। यह देवी हमेशा स्नान करती रहती है। इसीलिये कहा गया है कि वह जल को वस्त्र के रूप में धारण करती है। हाथों में कमल पुष्प धारण करने का अर्थ है कि देवी चेतना की सभी अवस्थाओं की शासिका या साम्राज्ञी है। उसकी अनुकम्पा या अनुग्रह से ही चेतना का विकास होता है, उत्थान होता है। देवी स्वयं एक कमल पुष्प पर खड़ी है, जो पूर्ण रूप से खिला हुआ है। यह पूर्णरूपेण खिला हुआ कमल पुष्प उच्च जाग्रत चेतना का प्रतीक है। देवी के चारों ओर खड़े चार हाथी शक्ति, बुद्धि, क्रिया और अनुशासित चेतना के प्रतीक हैं। हाथी के बारे में कहा जाता है कि वह बहुत शक्तिशाली, समझदार, बुद्धिमान और ज्ञानी होता है तथा उसकी स्मरण शक्ति अति तीव्र होती है। हाथी की गति धीमी, किन्तु नियन्त्रित रहती है और वह बिना रुके, एक ही गति से, लगातार लम्बे समय तक चलता रहता है। इसीलिये तन्त्र शास्त्र में उसे क्रमिक और सन्तुलित क्रिया का प्रतीक माना गया है। उसके विषय में यह भी कहा जाता है कि वह एक सजग और अनुशासित पशु है। इस प्रकार उसे नियन्त्रित और अनुशासित चेतना के रूप में सम्पूर्ण चेतना का प्रतीक माना गया है।

यन्त्र

कमला महाविद्या का यन्त्र मातंगी यन्त्र जैसा है। इनके यन्त्रों में केवल रंग की भिन्नता है। कमला के यन्त्र की पृष्ठभूमि सुनहले रंग की है तथा यन्त्र की रेखाओं का रंग श्वेत है।

ग्रन्थ

कमला महाविद्या से सम्बन्धित बारह तन्त्र ग्रन्थों में केवल तीन प्रमुख हैं : १. तन्त्र सार, २. शारदा तिलक और ३. कमलात्मिका तन्त्र।

चतुर्थ अध्याय

वैष्णव तन्त्र

वैष्णव तन्त्र से सम्बन्धित दो प्रमुख प्राचीन सिद्धान्त १. **वैखानस** और २. **पाञ्चरात्र** स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं।

१. वैखानस सिद्धान्त

वैखानस का उल्लेख वेदों में मिलता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में वैखानस शब्द प्रयुक्त हुआ है। वेदों में 'वैखानस सूत्र' और एक 'वैखानस शाखा' भी है। 'वैखानस सूत्र' सम्भवतः वैखानस का मूल ग्रन्थ है। किंवदन्ती के अनुसार ब्रह्मा ने नारायण से इस सूत्र की शिक्षा ग्रहण की तथा बाद में महर्षि विखानस को शिक्षा दी। महर्षि विखानस ने इसकी व्याख्या और विस्तार किया और इनका नामकरण 'वैखानस सूत्र' किया। यह 'वैखानस सूत्र' नारायण-पद प्राप्त करने की शिक्षा देता है। मान्यता है कि जो व्यक्ति इन वैखानस सूत्रों का अध्ययन कर इनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलता है वह स्वयं नारायण के तुल्य हो जाता है; सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और सर्वव्यापी हो जाता है। इस मत के अनुयायी कर्मशुद्धता तथा ईश्वर प्रणिधान पर अधिक जोर दिया करते हैं।

ईश्वर प्रणिधान पारम्परिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। समर्पण के द्वारा साधक में दास्यभाव जागृत होने पर उसके अहं का नाश होता है। दास्यभाव को प्राप्त कर सख्य भाव को प्राप्त करना और तदुपरान्त सायुज्य प्राप्त करना ईश्वर प्रणिधान का लक्ष्य रहा है। कहा गया है कि मनुष्य के कर्म के साथ जुड़ी भावना भी शुद्ध होनी चाहिये। यदि भावना और विचार शुद्ध हों, तो कर्मों के परिणाम भी शुद्ध होंगे और कर्म-परिणाम में विकार नहीं रहेंगे।

वैखानस मत की एक और विशेषता है कि इसके अनुयायी जाति-भेद और वर्ण-भेद में विश्वास नहीं करते। स्त्री-पुरुष के बीच किसी प्रकार का भेद-भाव किये बिना दोनों को समान महत्त्व तथा सम्मान देते हैं।

इस सिद्धान्त के विकास में महर्षि कश्यप, भृगु, अत्रि तथा मरीचि आदि का योगदान रहा। महाविष्णु की आराधना हेतु अनेक प्रकार की उपासना, अर्चना, यज्ञ, हवन, पूजा और सेवा की पद्धतियाँ इस सिद्धान्त में सम्मिलित होती हैं।

इस मत का विकास सम्भवतः ई०पू० तीसरी शताब्दी में प्रारम्भ हुआ और सातवीं शताब्दी तक भारतीय समाज में प्रचलित रहा।

२. पाञ्चरात्र सिद्धान्त

वैखानस सिद्धान्त की तरह पाञ्चरात्र नामक एक अन्य तन्त्र सिद्धान्त भी प्रचलित रहा है।

इस सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध में अनेक मतों में प्रमुख तीन माने जाते हैं। एक मत के अनुसार प्रारम्भ में स्वयं नारायण ने पाँच दिनों का एक अनुष्ठान किया। जब नारायण ने अपना अनुष्ठान सम्पन्न किया तो अनुष्ठान प्रक्रिया को पाञ्चरात्र कहा जाने लगा। पाञ्चरात्र में उस विधि की शिक्षा दी जाती है जिसका प्रयोग नारायण ने अपने अनुष्ठान के क्रम में किया था।

एक अन्य मतानुसार पूर्व काल में विजयादशमी या रामनवमी के समान पंचरात्रि नामक एक पर्व मनाया जाता था। इसकी पूजा या आराधना नारायण को अर्पित करते थे। लगातार पाँच दिनों तक मनाये जाने वाले इस विशेष पर्व में रामायण या श्रीमद्‌भागवत् की कथायें कही जाती थीं। रात्रि के समय कथा और दिन में यज्ञ, दान एवं पुण्य कर्म किये जाते थे। यह क्रम लगातार पाँच रात और पाँच दिनों तक चलता रहता था।

तीसरे मत के अनुसार पाञ्चरात्र वस्तुतः पंचरथ का अपभ्रंश है। चिन्तकों के अनुसार इस पंचरथ सिद्धान्त में पाँच प्रकार की विचारधाराओं का समावेश है। यही सिद्धान्त परिवर्तित होते-होते पाञ्चरात्र हो गया। पंचरथ के अन्तर्गत पाँच आदि वैष्णव दर्शनों को एकत्रित कर अद्वैत वैष्णव विचारधारा को विकसित किया गया। इसके अन्तर्गत आराधना, उपासना, सेवा-कर्म, दान-कर्म और पुण्य-कर्म विष्णु से सम्बन्धित माने गये हैं।

पाँच आदि दर्शन

पाँच आदि वैष्णव दर्शनों के विषय में किसी को सही जानकारी नहीं है। चिन्तकों के अनुसार वे दर्शन : १. **एकान्तिन्,** २. **भागवत्,** ३. **नारायणीय,** ४. **सात्वत** और ५. **वैखानस** हैं। यहाँ पंचरथ अद्वैत सिद्धान्त में वैखानस को भी सम्मिलित कर लिया गया है ताकि अलग-अलग विभाजन या विभेदन के कारण ये सिद्धान्त लुप्त न हों तथा एक समूह में रहते हुए एक रूप में इनका विकास होता रहे।

१. एकान्तिन् दर्शन का तात्पर्य एकान्त से नहीं वरन् एक अन्त से है, अर्थात् साधक को एक लक्ष्य को प्राप्त करना है। इस दर्शन के अनुयायी कृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं। कुछ चिन्तकों के अनुसार यह एकान्तिन् दर्शन एक अनार्य दर्शन है। यह विचार तो चिन्तकों के बीच की नीति सम्बन्धी मतभेदों का परिणाम है। कहा जाता है कि एकान्तिन् दर्शन का विकास

वैखानस की तरह ही लगभग तीन सौ वर्ष ई० पूर्व में हुआ था। इस दर्शन के अनुयायी श्रीकृष्ण की आराधना तथा कृष्ण नाम स्मरण और कृष्ण मन्त्र का निरन्तर जप किया करते थे। "श्रीकृष्ण शरणं मम" एकान्तिन् मन्त्र है। इस मन्त्र का जप करते हुए साधक स्वयं को दासरूप तथा सखारूप में देखा करते थे।

२. भागवत् पाञ्चरात्र के अन्तर्गत दूसरा सम्प्रदाय था। भागवत् शब्द की उत्पत्ति भग से होती है। भग एक प्राचीनकालीन देवता है। वेदों में भी भग देवता का उल्लेख मिलता है। इन्हें बाद में नारायण के रूप में स्वीकार किया गया। भक्तिमार्ग के ये प्रथम इष्ट, भक्ति सम्प्रदाय और भक्तिमार्ग के देवता थे। कुछ चिन्तकों ने भग की आराधना को अवैदिक तथा ब्राह्मण विचारधारा से भिन्न माना है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस दर्शन के अनुयायी पारम्परिक विचारधारा को स्वीकार नहीं करते थे; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्री-पुरुष के बीच किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करते थे। सबको भक्ति का समान अधिकार प्रदान करते थे। अतः इसके अनुयायियों को अवैदिक माना गया, लेकिन भक्ति कभी अवैदिक नहीं होती।

मथुरा के आस-पास इस मत का प्रचार था। प्राचीनकाल में मथुरा भी सूर्य तथा अग्नि उपासना का केन्द्र था। सम्प्रति सूर्य उपासना का अवशेष तो केवल कोणार्क में दिखलाई पड़ता है जहाँ एक अति विशाल और भव्य सूर्य मंदिर अभी भी विद्यमान है। भग देवता को सूर्य के रूप में देखा जाने लगा तथा कालान्तर में दोनों में कोई विशेष अन्तर या भेद नहीं रहा। आजकल जिस भागवत् के नाम से सम्पूर्ण वैष्णव सम्प्रदाय और विचारधारा को एक समझते हैं वह वस्तुतः वैष्णव सम्प्रदाय की एक शाखा है।

३. **नारायणीय** को पाञ्चरात्र के अन्तर्गत तीसरा प्रमुख सम्प्रदाय माना गया है। वैष्णव आगमों ने नारायण को आदि देवता के रूप में स्वीकार किया है। महाभारत के बारहवें अध्याय में नारायणीय का उल्लेख मिलता है। यह एक सूत्र है। महाभारत में उल्लिखित यह नारायणीय ही सम्भवतः नारायणीय सम्प्रदाय का मूल आगम माना गया।

कहा जाता है कि महर्षि पराशर ने इसे महाभारत काल में प्रचलित किया था तथा इसकी शिक्षा महात्मा विदुर को मिली।

४. सात्वत पाञ्चरात्र का चौथा प्रमुख सम्प्रदाय कहलाता है। यह सम्प्रदाय सम्भवतः क्षत्रियों का था। क्षत्रिय देव आराधना में अनेक प्रकार के तन्त्र, मन्त्र तथा यन्त्र का प्रयोग किया करते थे। वे वेदोक्त विचार, आचरण तथा वर्ण-विचारधारा के विरुद्ध थे। वेदोक्त आचरण तो सात्विक होते हैं, लेकिन क्षत्रिय सम्प्रदाय होने के कारण उन लोगों में मांस, मदिरा आदि का भी प्रचलन था। वे द्विज-संस्कार आदि की परवाह भी नहीं करते थे। अतः प्रारम्भ में सात्वत को वेद विरुद्ध माना गया। जब समस्त पाञ्चरात्र दर्शनों को एकीकृत किया गया, तब यह भी एक दर्शन के रूप में पाञ्चरात्र का अंग बन गया।

५. वैखानस पाञ्चरात्र सिद्धान्त में लगभग दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० पू० में एकीकृत हो गया। यह अद्वैत मत को मानता है तथा इसके द्वारा भक्ति और सात्विक पूजा का प्रचार किया जाता है। इसके अनुयायी भक्तिमार्ग के द्वारा ईश्वरीय तत्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। उनका निष्कर्ष था कि परम पुरुष नारायण अनेक व्यूहों तथा अनेक स्तरों में अपने अलग-अलग रूपों में प्रकट होकर मानवता का कल्याण करते हैं।

एक मान्यता के अनुसार महर्षि शाण्डिल्य ने पंचरथ विचारधारा को एक क्रमबद्ध रूप में सुव्यवस्थित किया। सुव्यवस्थित होने के पश्चात् उसमें भक्ति-यज्ञ, अनुष्ठान, आचार संहिता तथा एक जीवन पद्धति भी सम्मिलित की गई और उसकी शिक्षा दी जाने लगी। शाण्डिल्य द्वारा बनाये गये नियमों का उनके अनुयायियों ने प्रचार-प्रसार किया। वे नियम पाञ्चरात्र आगम कहलाने लगे। बाद में सात्वत सम्प्रदाय के प्रभाव से तान्त्रिक विचारों का भी समावेश हुआ। भारतीय समाज में पाञ्चरात्र सिद्धान्त का प्रचलन दसवीं शताब्दी तक दिखलाई पड़ता है।

पाञ्चरात्र साहित्य

पाञ्चरात्र साहित्य का विभाजन चार समूहों में किया गया है : १. **आगम** (स्वयं आगम या वेद सिद्धान्त), २. **मन्त्र** (दिव्य सिद्धान्त), ३. **तन्त्र** (सिद्ध सिद्धान्त या तन्त्र सिद्धान्त) और ४. **तन्त्रान्तर** (पुराण या पौराणिक सिद्धान्त)।

आगम या वेद सिद्धान्त में वेदों के उन मन्त्रों को लिया गया है, जिनमें नारायण, विष्णु या भग की आराधना है। आगम में विष्णु या नारायण से सम्बन्धित मन्त्रों का संग्रह है।

मन्त्र या दिव्य सिद्धान्त में वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित समस्त देवताओं, जैसे—कृष्ण, हरि, भग, नारायण, विष्णु और वासुदेव तथा उनके विभिन्न अवतारों की आराधना के मन्त्रों का संकलन किया गया है।

तन्त्र या तन्त्र सिद्धान्त में विभिन्न सम्प्रदायों के तान्त्रिक अभ्यास और तान्त्रिक उपासना पद्धति का संकलन किया गया है।

तन्त्रान्तर या पौराणिक सिद्धान्त में नारायण के विभिन्न व्यूहों या अवतारों के रूप में प्रकट होने की चर्चा की गई है। नारायण के प्रमुख अवतार दस हैं, लेकिन यदि उनके सभी अवतारों को लिया जाय तो वे चौबीस होते हैं। तन्त्रान्तर में नारायण के चौबीस अवतारों का उल्लेख मिलता है। इन चौबीस अवतारों तथा इनसे सम्बन्धित समस्त पुराणों या संहिताओं को वैष्णव तन्त्रान्तर या वैष्णव पुराण के रूप में विकसित किया गया।

ग्रन्थ

विश्वामित्र संहिता में पाञ्चरात्र से सम्बन्धित १०८ तन्त्रों का उल्लेख मिलता है। आज कितने उपलब्ध हैं, कोई नहीं जानता। तथापि अनेक चिन्तकों के विचारों एवं सम्मोहन तन्त्र जैसे ग्रन्थों के आधार पर उनकी संख्या निर्धारित की गई है : वैष्णव तन्त्र—७५, उपतन्त्र—२०५,

कल्प–२० और संहितायें–८। सम्मोहन तन्त्र में तथा विश्वामित्र संहिता में भी ८ संहिताओं का उल्लेख मिलता है। अतः संहिताओं की यह संख्या सही मानी जा सकती है। इनके अतिरिक्त अनेक अर्णव, कक्षपुटी, चूड़ामणि, चिन्तामणि, उड्डीश, डामर तन्त्र, यामल तन्त्र, तत्त्वबोध, तर्पण, विमर्शिणी और पुराण इत्यादि भी हैं।

साधना–उपासना

वैष्णव तन्त्रों में सात्त्विक भक्तिमार्ग पर अधिक बल दिया गया है। केवल सात्वत मत में ही बलि प्रथा थी। यह बलि नारायण तथा नारायण के विभिन्न रूपों को अर्पित की जाती थी। लेकिन आज की वैष्णव विचारधारा में बलि प्रथा का कोई स्थान नहीं है। वैष्णवों की पूजा, अर्चना या उपासना की पद्धति वैदिक विचारधारा से मिलती-जुलती है।

सर्वोच्च देव

सभी तन्त्रों में देवस्वरूपों की चर्चा की गई हैं और इष्टदेव या इष्टदेवी को सर्वोच्च माना गया है। वैष्णव तन्त्र में नारायण ही सर्वप्रथम और सर्वोच्च हैं; सर्वत्र उनकी माया का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। माया उनका स्वयं का कार्य है। जिस प्रकार मछुआरा मछली पकड़ने के लिये नदी में जाल फेंकता है, उसी प्रकार नारायण संसार में माया का जाल फैलाते हैं। जाल को संचालित और नियन्त्रित स्वयं मछुआरा करता है तथा मछलियाँ पकड़ता है। जाल स्वयं में निर्जीव है। यही नारायण के साथ भी लागू होती है। उनके द्वारा संसार में फैलाया गया जाल उनकी स्वयं की शक्ति का प्रसार या विस्तार है जिसका संचालन वे स्वयं करते हैं। यह तथ्य वैष्णव तन्त्र की एक प्रमुख विशेषता है तथा शैव एवं शाक्त तन्त्रों से इसकी भिन्नता को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

★★★

सौर्य तन्त्र

सौर्य तन्त्र का सम्बन्ध सूर्य उपासना से है। कुछ विचारकों के अनुसार यह शनि और यम से भी सम्बन्धित है। एक मत के अन्तर्गत सौर्य तन्त्र के सन्दर्भ में सूर्य-शक्ति का वर्णन किया जाता है। शनि, यम और सौर्य-शक्ति सूर्य के वंशज हैं। शनि और यम सूर्य-पुत्र हैं, सौर्य-शक्ति सूर्य की अभिन्न शक्ति है।

मुख्य एवं गौण सिद्धान्त

मुख्य सिद्धान्त

सूर्य को चराचर जगत का स्रष्टा कहा गया है। इस विचार के पीछे मुख्यतः दो सिद्धान्त हैं। पहला सिद्धान्त सम्भवतः व्यावहारिक होने के कारण विकसित हुआ है। आदिकाल में आदि मानव पर्वतों की गुफाओं में रहा करता था। उसके पास आत्मरक्षा का कोई साधन नहीं था। रात्रि के समय विशेष रूप से भयभीत रहता था। प्रकाश के अभाव में जंगली हिंसक पशुओं से विशेष खतरा बना रहता था। अतः वह आदि मानव बड़ी उत्सुकता के साथ सूर्य या सूर्योदय की प्रतीक्षा किया करता था, जिससे अन्धकार दूर हो और अन्धकार से जुड़े हुए भय का भी नाश हो। जब सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल जाता था, तब उसके समस्त आतंक, निराशा और भय दूर हो जाते थे। बाद में सूर्य को एक देवता के रूप में मानने लगे। बाद में सूर्य की उपासना, आराधना और पूजा-विधि का भी विकास हुआ। जो सूर्य की उपासना या आराधना किया करते थे वे सौर कहलाने लगे।

दूसरे सिद्धान्त के अनुसार सूर्य को प्रकाश का देवता माना गया है। सूर्य का आगमन होने पर अन्धकार भागता है। मनीषियों ने इस तथ्य को आध्यात्मिक रूप में देखा तथा सूर्य को ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था या स्थिति के रूप में स्वीकार किया। जब ज्ञान जागृत होता है, तब अविद्या और अन्धकार का नाश होता है। अतः ज्ञान के उपासक, जिनका लक्ष्य अविद्या और अविद्या से सम्बन्धित सभी अवस्थाओं और क्लेशों को दूर करना था, सौर कहलाने लगे। वेदों द्वारा भी इनका समर्थन किया गया है। पहली विचारधारा के अन्तर्गत लोग स्तुति करते हुए सूर्य का आवाहन करते थे ताकि अन्धकार दूर हो; हिंसक वन्य प्राणियों का भय समाप्त

हो तथा मनुष्य जीविकोपार्जन के कार्य में लग सकें। दूसरी विचारधारा के अन्तर्गत ज्ञान के उद्‌भव को सूर्य के रूप में देखते हैं, जो तमस् को मिटाता है, ज्ञान के प्रकाश से जीवन का पथ आलोकित करता है तथा उसे पुनः अपने उत्स में पहुँचने का मार्ग बताता है।

गौण सिद्धान्त

सौर तन्त्र से सम्बन्धित दो गौण सिद्धान्त भी हैं। कुछ चिन्तकों और मनीषियों ने सूर्योपासना के साथ शनि की उपासना को भी जोड़ दिया। शनि को सूर्य-पुत्र माना गया है तथा उनका एक नाम सौर भी है। कहा जाता है कि शनि की वक्र दृष्टि से ग्रस्त व्यक्ति के यश, कीर्ति, श्री, धर्म इत्यादि सब नष्ट होने लगते हैं। अतः शनि को अपने अनुकूल बनाये रखने के लिये उनकी उपासना प्रारम्भ हुई और इस उपासना से सम्बद्ध लोग सौर कहलाने लगे।

कुछ विचारकों के अनुसार सौर तन्त्र में यम की आराधना भी की जाती है। यम मृत्यु के देवता हैं। ऐसी मान्यता है कि वे मनुष्य को मरणोपरान्त उसके कर्मों के अनुरूप फल प्रदान करते हैं। यदि मनुष्यों के कर्म अच्छे रहते हैं, तो यम उन्हें सद्‌गति देते हैं और यदि कर्म बुरे रहते हैं, तो नरक में भेजते हैं। अतः कर्मों के ज्ञाता और कर्मफल के नियन्ता के रूप में यम की आराधना होने लगी तथा यह भी सौर तन्त्र का एक अंग बन गये।

इन गौण सिद्धान्तों में सूर्य-शक्ति का उल्लेख मिलता है। सूर्य-शक्ति चराचर जगत की नित्या शक्ति है। उसे गायत्री के नाम से भी जानते हैं। गायत्री के कारण सौर तन्त्र को ब्राह्मण वर्ग ने भी स्वीकार किया।

स्वरूप, अवस्थाएँ और प्रतीक

सूर्य एक रथ में आकाश-मार्ग पर विचरण करते हैं। उस रथ में छः पहिये और सात घोड़े जुते हुए हैं। उस रथ के सारथी अरुण हैं, जिनके पैर नहीं हैं। सौर सिद्धान्त को समझने के लिये इन प्रतीकों को समझ लेना आवश्यक है।

सूर्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम–अग्निपुंज के रूप में वे चराचर जगत को प्रकाश प्रदान करते हैं। द्वितीय–प्राणशक्ति के रूप में वे समस्त प्राणियों को जीवन-शक्ति से परिपूर्ण करते हैं और तृतीय–ज्ञानशक्ति के रूप में वे तमस् को दूर करते हैं।

सूर्य रथ के छः पहिये षट्‌चक्र के प्रतीक हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा षट्‌चक्र हैं। इन्हीं चक्रों के आधार पर प्राणशक्ति और ज्ञानशक्ति का विकास होता है। मूलाधार में प्राणशक्ति और चेतना का स्वरूप एक होता है। एक सामान्य मनुष्य अपने जीवन में जिस प्राणशक्ति और चेतना का अनुभव करता है वह मूलाधार की अनुभूति है। इस अनुभूति के अन्तर्गत मनुष्य सुख, सुविधा और सुरक्षा चाहता है, विलासमय और भोगमय जीवन की कामना करता है। मूलाधार में प्राणशक्ति और चेतना का स्वरूप एक होता

है। आगे बढ़ने पर प्राण और चेतना की स्थिति बदलती है; प्राण तथा चेतना में जागृति आती है; ज्ञान में वृद्धि होती है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठें चक्र में पहुँचने पर चेतना की जागृति और ज्ञान में क्रमशः वृद्धि होती जाती है। सभी छः चक्रों में चेतना और प्राण के पूर्णतः विकसित होने पर ज्ञान की वह स्थिति सूर्य की स्थिति कहलाती है। सूर्यानुभव, अन्तःचक्षु या ज्ञानचक्षु की स्थिति है, जहाँ प्रज्ञा की आँख खुल जाती है।

रथ में सात घोड़े जुते हुए हैं। ये सात घोड़े कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मनश्चतुष्ट्य तथा आदि तत्त्व के प्रतीक हैं। दो घोड़े पंचकमेन्द्रियों और पंचज्ञानेन्द्रियों के द्योतक हैं। चार घोड़े मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। सातवाँ घोड़ा आदि तत्त्व का प्रतीक है। आदि तत्त्व के अन्तर्गत पंचतत्त्व और पंचतन्मात्रा सम्मिलित हैं। प्राण की जागृति और ज्ञान की प्राप्ति इन्हीं सात घोड़ों के माध्यम से होती है। ये घोड़े ही रथ को आगे बढ़ाते हैं। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो श्रम और पुरुषार्थ होते हैं, जो क्रिया और अभिव्यक्ति होती है उनसे जीवन में प्राण और ज्ञान में जागृति आती है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के द्वारा आत्मविश्लेषण में चेतना की सूक्ष्म तथा कारण अवस्थाओं में सजगता एवं जागृति का बोध होता है। तत्त्वों के द्वारा जीव की मूल अवस्था को समझने तथा अनुभव करने में सक्षम होते हैं। इस प्रकार-सूर्य रथ से जुड़े हुए ये सात घोड़े आध्यात्मिक दृष्टि से अर्थपूर्ण हैं।

सौर तन्त्र कुण्डलिनी योग से भिन्न नहीं है। कुछ विचारकों की मान्यता है कि कुण्डलिनी सिद्धान्त और कुण्डलिनी योग की क्रिया-विधि सौर तन्त्र की साधना-विधि है तथा कुण्डलिनी योग में सौर तन्त्र के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। योगियों ने इस विचारधारा को कुण्डलिनी योग के नाम से सुरक्षित रखा है, सौर तन्त्र के नाम से नहीं।

उपासना

कृष्णावतार में उल्लेख है कि कृष्ण-पुत्र शाम्ब को चर्म रोग हुआ था। उनके कुलगुरु ने उन्हें सूर्योपासना करने की सलाह दी थी। शाम्ब ने सूर्य की उपासना की और उसका चर्मरोग दूर हुआ। उपपुराणों में शाम्ब-पुराण को सौर तन्त्र का ग्रन्थ माना जाता है। शाम्ब-पुराण में सूर्यपूजा-पद्धति का विस्तृत वर्णन मिलता है। विवरण से मालूम पड़ता है कि सूर्योपासना का एक रूप चिकित्सात्मक भी है।

रामायण में राम-रावण युद्ध की अन्तिम घड़ी में महर्षि अगस्त्य ने राम को आदित्य-हृदय-कवच का ज्ञान दिया। इस कवच का पाठ कर श्रीराम ने रावण द्वारा खड़ी की गई समस्त बाधाओं को पार किया तथा रावण का संहार किया। यह आदित्य हृदयम् कवच एक सूर्य-स्तुति है। उपरोक्त दृष्टान्तों से ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य उपासना सभी प्रकार के बाह्य विघ्नों को दूर करने की एक पद्धति या विधि भी है।

परन्तु आज के युग में सूर्य की उपासना मात्र एक चिकित्सात्मक पद्धति तथा विघ्न निवारण का साधन बन गई है और इसके सैद्धान्तिक पक्ष लगभग नष्ट हो चुके हैं। कुण्डलिनी योग, जो सूर्योपासना का एक प्रमुख अंग था, योग का अंग बन चुका है। गायत्री-साधना भी सूर्य की आराधना का एक अंग है।

ग्रन्थ

सौर्य तन्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं : तन्त्र ग्रन्थ–३०, तत्त्व ग्रन्थ–९६, संहितायें–४, उपसंहितायें–२, पुराण–५, कल्प–१०, डामर तन्त्र–२, यामल तन्त्र–२, उड्डीश तन्त्र–२, उड्डाल तन्त्र–५, कक्षपुटि–२, विमर्शिनी–३, चूड़ामणि–५, अवतार–२, अमृत–३, दर्पण–३।

★★★

षष्ठ अध्याय

गायत्री तन्त्र

विषय-प्रवेश

सौर तन्त्र के अन्तर्गत 'सौर शक्ति तन्त्र' या 'गायत्री तन्त्र' का उल्लेख है। गायत्री में ईश्वर के निपुण रूप की चर्चा है, जो तीन रूपों में, तीन लोकों में व्याप्त है। गायत्री मन्त्र का देवता परब्रह्म परमात्मा है। स्वामी शिवानन्द सरस्वती के अनुसार गायत्री में–सूर्य, हरि और देवी, तीनों की आराधना होती है।

भारतीय परम्परा में दिन में तीन बार सन्ध्या करने का विधान है–प्रातः, मध्याह्न और सायं। महर्षि वेदव्यास के अनुसार प्रातःकालीन सन्ध्या में गायत्री पर, मध्याह्न में सावित्री पर तथा सायं समय सरस्वती पर ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार एक ही मन्त्र में एक ही शक्ति के तीन रूपों–गायत्री, सावित्री और सरस्वती की चर्चा होती है।

सौर तन्त्र के अन्तर्गत गायत्री को सूर्यशक्ति, ज्ञानशक्ति या ज्ञान की क्षमता माना गया है। सरस्वती के रूप में विद्या की देवी तथा सावित्री के रूप में सूर्य की प्रभा शक्ति हैं। गायत्री को वेदमाता के रूप में देखा गया है। इस रूप में वेद में निहित ज्ञान तथा परा और अपरा अनुभव एवं विद्या के रूप में मानी जाती हैं। इस प्रकार देवी के उपरोक्त तीनों रूपों में 'विद्या' की प्रधानता है। वेदमाता के रूप में वे परा विद्या और अपरा विद्या की जननी हैं। सावित्री के रूप में वे जीवन में अज्ञानान्धकार को दूरकर विद्या के प्रकाश का अवतरण कराती हैं। सरस्वती के रूप में वे ज्ञान का बोध कराती हैं।

एक मान्यता के अनुसार सृष्टिक्रम के प्रारम्भ में परब्रह्म परमेश्वर अकेले, अव्यक्त, निराकार और निगुर्ण रूप में थे। इसी अवस्था में सृष्टि की इच्छा प्रबल होती है और वे ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का बाल-रुप धारण करते हैं। ब्रह्मा का जन्म सत्व से, विष्णु का रज से और शिव का तमस् से हुआ। बाल रूप में ये तीनों मचलने लगे, तब परमात्मा की वह शक्ति, जो ज्ञान का रूप धारण करती है और हर कल्प में प्राप्त अनुभवों को अपने आप में समाहित कर परमात्मा में विलीन हो जाती है, गायत्री या वेदमाता के रूप में आकर तीनों शिशुओं का पालन करती है। एक दिन पराशक्ति उन तीनों को झूले में सुला देती हैं। उस झूले की चार रस्सियाँ चारो वेद अर्थात् ज्ञान हैं। जगने पर तीनों युवावस्था को प्राप्त किये रहते हैं। वे तीनों ज्ञानरूपी गायत्री माता का आह्वान करते हैं। गायत्री माता प्रकट होकर उन्हें उनके वास्तविक स्वरूप का बोध दिलाती हैं। इस प्रकार गायत्री को निर्गुण और अक्षर ब्रह्म की शक्ति माना गया है।

मन्त्र

ॐ भूर्भवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं;

भर्गो देवस्य धीमहि; धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

गायत्री मन्त्र के द्रष्टा ब्रह्मर्षि विश्वामित्र हैं। इस मन्त्र के द्रष्टा सप्तर्षि भी हैं, क्योंकि गायत्री के मूल मन्त्र में कहा है "ॐ प्रणवस्य परब्रह्मऋषि परमात्मा देवता देवी गायत्री छन्दः सप्तानां व्याहृतीनां विश्वामित्र जमदग्नि भरद्वाज गौतम अत्रि वशिष्ठ कश्यप सप्तऋषयः", आदि। ये सभी ऋषि ब्रह्मर्षि हैं, ब्रह्मपद को प्राप्त कर चुके हैं, अर्थात् उन्होंने अपने को निराकर पद में स्थापित कर लिया है।

गायत्री का मूल मन्त्र "ॐ भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" है। मन्त्र में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ निम्नवत् हैं–

ॐ	= अक्षर ब्रह्म	वरेण्यम्	= सभी द्वारा पूज्य
भूः	= प्राणाधार	भर्गः	= प्रकाश रूप एवं विशुद्ध
स्वः	= सबका नियंता	देवस्य	= सबको प्रकाशित करनेवाले को
महः	= सब का आराध्य	धीमहि	= धारण करें;
जनः	= अनादि	यः	= जो
तपः	= ज्ञानरश्मि	नः	= हमारी
सत्यं	= सर्वदा एक समान रहने वाली सत्ता	धियः	= बुद्धियों को
तत्	= वह	प्रचोदयात्	= साक्षात्कारोन्मुख करने की करने की प्रेरणा दे
सवितुः	= सृष्टिकर्त्ता		

पूर्णाहुति रूप में गायत्री में एक और मन्त्र है : ॐ आपो ज्योतिः रसोऽमृतं ब्रह्मा भूर्भुवः स्वः ॐ।" मन्त्र के शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं : आप = जल या संसार-सागर या कर्म-सागर; ज्योतिः = प्रकाशों का प्रकाश; रसो (रसः) = जो सबमें रस-रूप में विद्यमान है; अमृतं = जो अमृत है; ब्रह्मा = वह स्वयम्भू (यहाँ स्वयम्भू शब्द का प्रयोग किया जा रहा है, क्योंकि वह अनादि, निराकार, निर्गुण ईश्वर स्वयं अपने आप को प्रकट करता है);
भूर्भुः स्वः = प्राणधार, त्राता तथा नियंता है।

गायत्री का संक्षिप्त और सर्वाधिक लोकप्रिय रूप है : "ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्"। मध्यम रूप है : "ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।" वृहत् रूप है : "ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं

ॐ तत्सवितुवरिण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ आपो ज्योतिः रसोऽमृतं ब्रह्म भूभुर्वः स्वः ॐ'' ।

स्वरूप

मनीषियों ने गायत्री के अनेक रूपों की चर्चा की है । तन्त्र शास्त्र में गायत्री को वृहत् रूप में स्वीकार किया गया है । गायत्री का बीज मन्त्र 'सो हं' माना गया है जिसका प्रयोग योग के अजपा जप की क्रिया में होता है । अजपा जप को अजपा गायत्री भी कहा जाता है : ''अजपा नाम गायत्री'' अर्थात् अजपा स्वयं में गायत्री है ।

महर्षि वेदव्यास के अनुसार सूर्यास्त की; सन्ध्या की देवी सरस्वती है । सरस्वती विद्या और बुद्धि की देवी है; बुद्धि अंतःकरण का अंग है, स्थूल अनुभव है । स्थूल रूप में ज्ञान और सामर्थ्य को प्राप्त करने के लिये सरस्वती की उपासना की जाती है । मध्याह्न की, सन्ध्या की देवी सावित्री है और इस रूप में वह सूक्ष्म अवस्था को प्रकाशित करती है । अतःकरण या मन–बुद्धि-चित्त-अहंकार से परे सूक्ष्म जगत के अनुभव की अवस्था में साधक के अन्तर्चक्षु को जागृत करने का कार्य देवी सावित्री करती है । यहाँ तक कि परा और अपरा दोनों का उल्लेख हो जाता है : सरस्वती से अपरा का और सावित्री से परा का सम्बन्ध है । इन दोनों अवस्थाओं में मनुष्य की चेतना के द्वारा श्रम होता है । साधक मन्त्र का जप करने, स्वयं को केन्द्रित करने, चित्त को स्थिर करने या ध्यान करने का प्रयास करते हैं । परा तथा अपरा अवस्था में स्वयं के द्वारा होने वाला यह प्रयास या पुरुषार्थ मनुष्य की चेतना द्वारा निर्धारित होता है । प्रातःकाल में गायत्री सन्ध्या होती है । गायत्री परा और अपरा दोनों अवस्थाओं से परे और ऊपर है । जब साधक स्थूल और सूक्ष्म दोनों अवस्थाओं को पारकर निर्गुण, अव्यक्त, अनादि रूप का अनुभव करने लगता है, तब गायत्री निर्गुण, निराकार ब्रह्मशक्ति के रूप में प्रकट होती है ।

वैष्णव तन्त्र में भी गायत्री का उल्लेख पाञ्चरात्र के अन्तर्गत, वशिष्ठ संहिता में गायत्री कवच तथा इसे सिद्ध करने के विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है ।

ग्रन्थ

तन्त्र शास्त्र में गायत्री से सम्बन्धित मुख्यतः तीन ग्रन्थ १. गायत्री स्रोत, २. गायत्री रहस्य और ३. गायत्री तन्त्र हैं । ये शाक्त तन्त्र और सौर तन्त्र के अन्तर्गत आते हैं । इनके अतिरिक्त वैष्णव तन्त्र का गायत्री कवच नामक एक ग्रन्थ है । इस विविधता से मालूम पड़ता है कि गायत्री-साधना शाक्त, सौर तथा वैष्णव आदि तन्त्रों में प्रचलित रही है ।

सौर तन्त्र में देवी का रूप

सौर तन्त्र में देवी के पंचमुखी रूप की चर्चा होती है । पंचमुखी गायत्री के दस हाथ हैं, लाल वस्त्र धारण किये हुए हैं, सिर पर मुकुट है, मुकुट में चन्द्रमा है तथा कमल पुष्प पर

विराजमान हैं। दस हाथों में से एक अभय मुद्रा में और एक वरद मुद्रा में है, अन्य तीन हाथों में खप्पर, कमल-पुष्प और स्वर्ण-आभूषण है, शेष पाँच हाथों में पाँच आयुध : चक्र, शंख, परशु, चाबुक और गदा हैं। जब गायत्री निर्गुण ब्रह्मशक्ति के रूप में तीन गुणों–सत्व रज तम या ब्रह्मा विष्णु महेश का पालन करती हैं तब स्वयं एक क्रियात्मक देवी का रूप धारण करती हैं। देवी की क्रियाशीलता उनके लाल वस्त्र से प्रकट होती है, क्योंकि लाल रंग का वस्त्र रजोगुण का प्रतीक है। देवी के दस हाथ हैं। ये दस हाथ स्थूल और दस सूक्ष्म इन्द्रियों के प्रतीक हैं। दस स्थूल इन्द्रियों में कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं। दस सूक्ष्म इन्द्रियों में पंचतन्मात्रा और पंचतत्त्व आते हैं। देवी के हाथों में अनेक वस्तुएँ और आयुध हैं। उनके एक हाथ में शंख है। शंखनाद से प्रणव ध्वनि उत्पन्न होती है। शंखनाद वस्तुतः आदि नाद प्रणव या अक्षर ब्रह्म का द्योतक है। कालचक्र से सृष्टि और विनाश दोनों होते हैं। वे एक हाथ में फरसा धारण किये हुए हैं। इसका लक्ष्य जीव को परा और अपरा सम्बन्धों को पारकर निर्गुण, अनादि, अव्यक्त लोक ले जाना है। एक हाथ में गदा है जो केन्द्रित शक्ति का प्रतीक है। उनके एक हाथ में खप्पर है जिसमें जल है। वे संसार सागर या कर्मरूपी जल को अपने आप में पचा लेती हैं। उनके एक हाथ में कमल-पुष्प है। कमल के पुष्प में चेतना के विकास के लक्षण छिपे हुए हैं। एक हाथ में चाबुक है जो जीव के अनुशासित और संयमित अवस्था का प्रतीक है। एक हाथ में सोने का आभूषण धारण किये हुई हैं। सोना स्वयं में शुद्ध तत्त्व है और शुद्ध तत्त्व का तात्पर्य चेतना की शुद्ध अवस्था से है जिसे देवी आभूषण के रूप में धारण किये हुए हैं। यह चेतना का निर्गुण-निराकार रूप है। एक हाथ अभय मुद्रा में तथा एक अन्य हाथ वरद मुद्रा में है। वे सहस्रदल कमल पर विराजमान हैं। सहस्रदल कमल चेतना की सर्वोच्च उपलब्धि का प्रतीक है। देवी के पाँच मुखों की चर्चा होती है। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि चार मुखों से वे चार दिशाओं को देखती हैं तथा एक मुख अन्दर की तरफ देखता है। यहाँ यह भी कहा जाता है कि चार मुखों से चार वेद उत्पन्न होते हैं, जो पश्यन्ती वाक् का रूप लेते हैं और पाँचवा मुख परावाक् है जो व्यक्त नहीं होता। वे चन्द्रमा का मुकुट धारण किये हुई हैं। चन्द्रमा चित्त-शक्ति का प्रतीक है। अव्यक्त अवस्था में सृजन और उत्पत्ति के जो कार्य होते हैं उनका प्रतिनिधित्व चन्द्रमा करता है। इस प्रकार तान्त्रिकों ने देवी के स्वरूप का वर्णन किया है।

साधना

गायत्री देवी की साधना-पद्धति में एक विधि की चर्चा की जाती है, जिनमें एक है षोड्शोपचार पूजा। इसका वर्णन साधना-विधियों की विस्तृत चर्चा के प्रसंग में मिलेगा। देवी

के बीज मन्त्र के सन्दर्भ में अजपा जप का भी उल्लेख किया जाता है। देवी की तृतीय साधना में गायत्री के रूप पर या गायत्री के यन्त्र पर ध्यान का निर्देश दिया जाता है।

यन्त्र

गायत्री यन्त्र में त्रिकोण नहीं होते हैं। अधोमुखी त्रिकोण शक्ति का प्रतीक है। यन्त्रों में अधोमुखी त्रिकोण सृष्टि में देवी के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्तियों के प्रतीक हैं; वे रूप चाहे काल के हों या क्रिया के, इच्छा के हों या ज्ञान के। गायत्री को व्यक्त से परे और उच्च मानकर यन्त्र में त्रिकोण को सम्मिलित नहीं किया गया है।

यन्त्र के बीच में तीन वृत्त हैं, इनकी उपासना तीन व्याहृतियों में होती है। ये तीन व्याहृतियाँ हैं : भूः, भुवः, स्वः; पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग; या स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इनका वास इन तीनों के परे है। पुनः छः स्तरों में चतुर्दल कमल हैं। ये चेतना विकास की छः अवस्थाओं का बोध दिलाते हैं। चेतना की इन छः अवस्थाओं का सीधा सम्बन्ध छः चक्रों–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा से है। सहस्रार इन अवस्थाओं से परे है; वह परा, निर्गुण, निराकार ब्रह्म का क्षेत्र है। गायत्री देवी का वास सहस्रदल कमल अर्थात् सहस्रार में होता है। साथ ही साथ सात लोकों की चर्चा है, जैसे–भूलोक, भुवःलोक, स्वः लोक, महः लोक, जनः लोक, तपः लोक और सत्य लोक। प्रारम्भ के छः लोक छः घेरों में आते हैं और देवी का वास अन्तिम लोक या सत्यंलोक में होता है। छः स्तरों में चतुर्दल कमल की चर्चा की गई है। कमल के ये चौबीस दल गायत्री मन्त्र की चौबीस मात्राएँ हैं। इस प्रकार प्रत्येक दल में इसकी एक मात्रा लिखी जा सकती है। चौबीस मात्राओं से युक्त मन्त्र इस प्रकार है : ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुवरिण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

★★★

सप्तम अध्याय

गाणपत्य तन्त्र

विषय-प्रवेश

गाणपत्य तन्त्र का सम्बन्ध शंकरपुत्र गणपति से है। गणपति उपासना का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है। ऋग्वेद में गणेश को गणों का ईश्वर या प्राणियों का स्वामी माना गया है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार ८४ लाख योनि-रूप, जिनसे जीव गुजरता है, गण कहलाते हैं। इस प्रकार गणेश का तात्पर्य उस ईश या देवता से है, जो ८४ लाख रूपों पर शासन करे। गणेश को शंकर और भवानी का पुत्र माना गया है। इस कारण शैव और शाक्त तन्त्रों से इस सम्प्रदाय का गहरा सम्बन्ध रहा है। प्रचलित मान्यताओं के अनुसार समस्त उपासनाओं में सर्वप्रथम गणेश की उपासना होती है। जिन लोगों ने गणपति को विशेष रूप से सभी गणों का इष्ट माना है वे गाणपत्य कहलाये हैं। गणेश आराधना का क्रम वैदिक काल से उपनिषद् काल तक और उपनिषद काल से पुराण काल तक तथा पुराण काल से आधुनिक काल तक दिखलाई देता है।

स्वरूप

गाणपत्य तन्त्र को समझने के लिये गणपति के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। गणपति का शरीर मनुष्य का है, सिर हाथी का और वाहन चूहा है। उनके चार हाथ हैं : एक में शंख है, एक में अंकुश है, एक हाथ अभय मुद्रा में और एक वरद मुद्रा में है।

हाथी का सिर महत् तत्त्व का, अति विस्तृत या सर्वोच्च बुद्धि का प्रतीक है। गणेश महत् के रूप में या परमात्मा के एक पूर्ण अंश के रूप में सृष्टि में अपना कार्य सम्पादित करते हैं। महत् होने के कारण इन्हें ८४ लाख रूपों या सृष्टि के समस्त प्राणियों का स्वामी कहा गया है। उनके मानव शरीर में सभी प्रकार के मानवीय गुणों का समावेश है। सृष्टि के विकास-क्रम में मनुष्य शरीर का स्थान सर्वोच्च है। इसमें सभी प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं; समस्त शक्ति तथा अवस्थाओं का बोध होता है। वस्तुतः गणेश का यह रूप सुषुप्त शक्तियों और मानवीय गुणों के रूप में दिखलाई देता है। अंकुश का उद्देश्य महत् या बुद्धि की चंचलता को नियन्त्रित करना है। अनियन्त्रित महत् तत्त्व में विकार उत्पन्न होते हैं। महत् पर नियन्त्रण के पश्चात् वह शुद्ध तत्त्व की अवस्था को प्राप्त करता है। महत् के पश्चात् जो नादानुभूति अथवा परा

अवस्था में नाद का जो अनुभव होता है, उसका प्रतीक शंख है। इसे सृष्टि-क्रम का अनुभव कह सकते हैं। गणेश का वाहन चूहा है। चूहा बहुत छोटा और हाथी सबसे बड़ा प्राणी है। दोनों एक दूसरे से भयभीत रहते हैं। यहाँ ये दोनों पारस्परिक विरोधी तत्त्व एक साथ सहज रूप से संयम की स्थिति में रहते हैं। अतः गणेश संयमित स्थिति का प्रतीक है।

वैसे देखा जाय तो सम्पूर्ण शिव परिवार विरोधी तत्त्वों के समन्वय और सामञ्जस्य का प्रतीक है। शिवजी के गले में सर्प और कार्तिकेय का वाहन मयूर है। मयूर सर्प-भक्षी होता है। शिव का वाहन है नन्दी बैल और पार्वतीजी का वाहन शेर। बैल शेर का भोजन है। चूहा गणेशजी का वाहन है और शिवजी के गले में लिपटे हुए सर्पों का एक प्रिय भोजन भी। स्वयं शिव के सिर पर स्थित चन्द्रमा में अमृत है और उनके गले में विष है। शिव इन समस्त विरोधी तत्त्वों के बीच स्वयं की स्थिति बनाये रखते हैं तथा उनसे उत्पन्न समस्याओं का निराकरण करते हैं। इसीलिये उन्हें महादेव या देवताओं में महान् कहा गया है।

गणेशजी को लम्बोदर कहा जाता है, अर्थात् उनका पेट बहुत बड़ा है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार गणपति मणिपुर चक्र में समस्त शक्तियों–प्राण, क्रिया और सृजन शक्तियों को धारण किये हुए हैं। ये शक्तियाँ अन्य सन्त-महात्मा भी धारण किये हुए हैं। यदि आपने बाबा नित्यानन्दजी, तैलंग स्वामी, स्वामी शिवानन्दजी, वामा खेपा आदि महात्माओं या उनके चित्रों को देखा होगा, तो पायेंगे कि सबका पेट काफी बड़ा था। सन्त-महात्माओं को अति भोजन की आदत नहीं होती; वे सादा, सात्विक, साग-सब्जी और फल-मूल से युक्त भोजन करते हैं। कहा जाता है कि जैसे-जैसे शरीर में प्राण-शक्ति की जागृति होती है, वह शक्ति मणिपुर में आकर पेट के स्थान पर केन्द्रित होने लगती है और वहीं से सम्पूर्ण शरीर में उसका संचार होता है।

उपासना

उपासना-पद्धति में भ्रूमध्य में गणिपति का स्थान होता है। भ्रूमध्य में गणपति का ध्यान करते हुए 'ॐ गणपतये नमः' मन्त्र का जप किया जाता है। इनका बीज मन्त्र 'गं' है। आज्ञाचक्र में गुरु तथा गणपति की धारणा की जाती है। गणेश उपासना में विशेष अनुष्ठान किये जाते हैं। मन्त्र का लाखों या करोड़ों की संख्या में जप किया जाता है। उनकी उपासना में वाममार्गी तान्त्रिकों द्वारा पंचमकार के कुछ अंशों को भी सम्मिलित किया जाता है। दक्षिणमार्गी मन्त्र पर ध्यान तथा मन्त्र की उपासना और आराधना करते हैं।

ग्रन्थ

गणपति से सम्बन्धित लगभग ५० तन्त्र, २५ उपतन्त्र, २ पुराण और १ डामर तन्त्र हैं। पाञ्चरात्र ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख मिलता है। इनसे सम्बन्धित ८ पाञ्चरात्र और कई गणेश साहित्य हैं।

★ ★ ★

अष्टम अध्याय

आचार

तन्त्रशास्त्र में विभिन्न आचारों और पद्धतियों का वर्णन है। तन्त्र शास्त्र की ये पद्धतियाँ भिन्न भिन्न भाववाले साधकों के लिये विहित साधना-मार्ग या साधना पद्धतियाँ हैं। सभी मनुष्य एक प्रकार के नहीं होते हैं। जिस प्रकार दिव्य, वीर और पशु भाव को लेकर तन्त्र साधना को विभाजित किया गया है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य की सात्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियों के आधार पर भी साधनाओं का भेद किया गया है।

तन्त्र में मुख्यतः सात आचार हैं : **१. वेदाचार, २. वैष्णवाचार, ३. शैवाचार, ४. दक्षिणाचार, ५. वामाचार, ६. सिद्धान्ताचार** और **७. कौलाचार**।

१. वेदाचार

वेदाचार साधना-पद्धति नाम के ही अनुरूप है। सामान्यतः तन्त्र शास्त्र को वेद-विरुद्ध या वेदों से भिन्न माना गया है, तो साधना-पद्धति में वेदाचार क्यों ? तान्त्रिकों ने स्वयं को वेद-विरुद्ध कभी नहीं माना है। प्रायः परम्परावादी, रूढ़िवादी और साम्प्रदायवादी ब्राह्मण, पण्डित, विचारक या चिन्तक ही इसे वेद-विरुद्ध मानते रहे हैं। जो साधक आत्मानुसन्धान तथा आत्मसाक्षात्कार के उद्देश्य से साधना करता है, वह किसी भी पद्धति में भेद नहीं देखता। तन्त्र शास्त्र की मान्यता ऐसी ही है कि इस विद्या के साधक सभी प्रकार के गुणों और आचारों को समझें तथा सभी प्रकार के आचरण कर शुद्ध तत्त्वों का अनुभव प्राप्त करें। इसीलिये तान्त्रिकों ने प्रथम स्थान में ही वेदाचार का उल्लेख किया है, क्योंकि इसमें सात्विक पूजा और आराधना को प्रमुख स्थान दिया गया है। वेदाचार में वैदिक सिद्धान्तों और मान्यताओं को स्वीकार कर वैदिक साधना पद्धति को अपनाते हैं। वेद का मूल सिद्धान्त है उस ब्रह्म को जानना, जो निर्गुण, निराकार और अव्यक्त है तथा नानवीय चेतना के परे है। उसे मनुष्य की चेतना न ग्रहण कर सकती है और न अनुभव कर सकती है। तान्त्रिकों ने वेद के इस निर्गुण-निराकार ब्रह्म के साक्षात्कार के सिद्धान्त को अपनाया है। तन्त्र कहता है कि वैदिक पद्धति अपनाकर लक्ष्य की ओर बढ़ने से आत्मशुद्धि की अवस्था प्राप्त की जा सकती है। वेदाचार के अन्तर्गत मन्त्र जप, हवन, पूजा, षोडशोपचार पूजा, साकार मूर्ति पूजा और निराकार आराधना मान्य हैं। पूजा

के अनेक प्रकार होते हैं, जिनका उद्देश्य एक सात्विक, सकारात्मक भावना को उद्भूत करना है। जब यह सात्विक, सकारात्मक भावना जन्म लेती है तो व्यक्ति के विचार, व्यवहार और कर्मों में परिवर्तन आता है। साथ-ही-साथ जीवन पद्धति भी परिवर्तित होती है। यम और नियमों से परिपूर्ण सात्विक जीवन पद्धति को अपनाना वेदाचार कहा गया है।

२. वैष्णवाचार

चिन्तकों का विचार है कि वैष्णवाचार में अन्धविश्वास का त्याग होना चाहिये। विश्वास के दो रूप, विश्वास और अन्धविश्वास होते हैं। विश्वास आन्तरिक होता है, अन्दर से उत्पन्न होता है और अन्धविश्वास को मानसिक माना गया है। वैष्णवाचार में अन्धविश्वास या मानसिक विश्वास का त्याग करना आवश्यक है। मनःअवस्था के नियन्त्रण के पश्चात् एक सात्विक जीवन पद्धति को अपनाकर स्वयं पर और ब्रह्मशक्ति पर जो आस्था उत्पन्न होती है, वही मनुष्य को वैष्णवाचार की ओर उन्मुख करती है। वैष्णवाचार में भक्तिमार्ग, विशेष रूप से नवधा भक्ति प्रधान है। नवधाभक्ति का संक्षिप्त विवरण निम्नवत है :—

१. श्रवण—ईश्वर के गुण और कथा को सुनना।
२. कीर्तन—ईश्वर के नाम और गुण का गायन।
३. स्मरण—ईश्वर के नाम और मन्त्र का स्मरण करते रहना।
४. पाद-सेवन—ईश्वर की सेवा में स्वयं को तल्लीन कर देना।
५. अर्चना—यह कर्मकाण्ड या बाह्य पूजा का रूप है, जैसे धूप-दीप जलाना, आरती दिखाना आदि।
६. वन्दना—यह मानसिक पूजा है।
७. दास्य भाव—स्वयं को एक सेवक के रूप में देखना।
८. सख्य भाव—स्वयं को ईश्वर के सखा के रूप में देखना।
९. आत्मनिवेदन—स्वयं को पूर्णतः समर्पित कर देना।

जीवन में नवधाभक्ति का पूर्ण अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् सभी प्रकार के बाह्य क्लेश और दुःख समाप्त हो जाते हैं। तदुपरान्त एक शुद्ध चेतन अवस्था की जागृति होती है, जिसमें किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रहता है। यह स्थिति आस्था और समर्पण से जुड़ी रहती है।

३. शैवाचार

शैवाचार में भक्ति, श्रद्धा, शक्ति एवं ज्ञान का मिश्रण होता है। वैष्णावाचार से भक्ति की प्राप्ति हो गई, मन के कलुष समाप्त हो चुके और समर्पण की भावना जागृत हो गई। वेदाचार

से श्रद्धा प्राप्त हो चुकी है। यम और नियम का पालन करते हुए सात्विक जीवन व्यतीत करने के परिणामस्वरूप ऐसा हुआ है। अब शक्ति और ज्ञान अथवा शिव और शिव-तत्त्व को समझना है। शिव को परब्रह्म तथा स्वयं को जीवरूप समझकर परब्रह्म को प्राप्त करने के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है वह शक्तिपूर्ण पुरुषार्थ है। इसे ही साधना कहते हैं। अतः भक्ति, श्रद्धा, ईश्वरीय तत्त्व का ज्ञान और पुरुषार्थ, श्रम या साधना शैवाचार के विभिन्न अंग हैं। शैवाचार के अन्तर्गत अनेक प्रकार की साधनाएँ हो सकती हैं। इनका कोई निश्चित नियम नहीं है, क्योंकि इन आचारों का अभ्यास मनुष्य स्वेच्छा से नहीं करता है; इनका अभ्यास गुरु के निर्देशन में होता है। व्यक्ति की अवस्था को देखकर गुरु जिस प्रकार की साधना बतलाते हैं, उसका अनुसरण करना शिष्य का कर्तव्य होता है।

४. दक्षिणाचार

कुछ लोग इसे दक्षिणमार्गी तन्त्र भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत तीन चेतन तत्त्वों–सृजनात्मक तत्त्व, पालक तत्त्व और संहारक तत्त्व; या ब्रह्मा, विष्णु और महेश अथवा त्रिदेवा पर धारणा और ध्यान का अभ्यास किया जाता है। इसके अतिरिक्त तीन महाशक्तियों पर भी धारणा और ध्यान का अभ्यास किया जाता है। दस महाविद्याओं में इनका भी उल्लेख आया है। इन तीनों देवताओं तथा देवियों पर धारणा और ध्यान का अभ्यास कर त्रिगुणात्मक प्रकृति से ऊपर उठने का प्रयास किया जाता है।

दक्षिणाचार के अन्तर्गत सभी प्रकार के योग के अभ्यास का उल्लेख मिलता है। कुछ तन्त्रों में हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग और लययोग को प्रमुख माना गया है, तो कुछ में राजयोग, कुण्डलिनी योग तथा नादयोग को प्रधानता दी गई है। इस प्रकार विभिन्न तन्त्रों में विविधताएँ दिखलाई देती हैं, लेकिन दक्षिणाचार के अन्तर्गत सभी योग सम्मिलित हैं। योग के सभी प्रकार एक-दूसरे के पूरक हैं। कोई भी योग स्वयं में पूर्णतः भिन्न और स्वतंत्र नहीं है। सर्वांगीण विकास के लिये विभिन्न योगों की आवश्यकता होती है। इसीलिये प्रत्येक योग एक-दूसरे के पूरक माने गये हैं। दक्षिणाचार में प्रारम्भ से ही योग के क्रमिक अभ्यास पर बल दिया गया है। इसके अन्तर्गत शरीर की शुद्धि, यम और नियम का पालन, प्रत्याहार और धारणा का अभ्यास तथा कुण्डलिनी योग से सम्बन्धित सूक्ष्म और कारण शरीर का ज्ञान सम्मिलित किया गया है। दक्षिणाचार में ॐ मन्त्र की उपासना भी होती है। उपनिषदों में 'अ उ म' ध्वनियों को परम तत्त्व के तीन रूपों–वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ का प्रतिनिधि माना गया है। 'अ उ म' ध्वनियाँ त्रिदेव और तीन शक्तियों के सूचक हैं। इसी हेतु दक्षिणाचार में प्रणव साधना बतलाई जाती है।

५. वामाचार

वाम का अलग-अलग अर्थ लगाया जाता है। कुछ विचारों के अनुसार वाम का अर्थ होता है, बायाँ और अन्य के अनुसार स्त्री या शक्तितत्त्व। कुछ विचारकों का कहना है कि शक्तितत्त्व पुरुष की अर्धांगिनी के रूप में बायीं तरफ विराजमान रहती है। इड़ा नाड़ी या चन्द्र नाड़ी भी शरीर की बायीं ओर है। विविध मान्यताओं के कारण अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं तथा अधिकांश लोग कहते हैं कि वामाचार में स्त्री और पुरुष का योग ही साधना का एक अंग है। तन्त्र ने एक अन्य पक्ष को समझाया है। वामाचार को मध्यमा तथा उत्तमा, दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। मध्यमा में पंचतत्त्व तथा पंचमकार की साधना की जाती है। उत्तमा में मद्य, मुद्रा और मैथुन की साधना की जाती है। लेकिन इनका रूप भाव के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है, अर्थात् पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव के लिये पंचमकार और पंचतत्त्व के रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। वामाचार का उद्देश्य प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग में प्रवेश करना होता है। यदि साधक प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर नहीं जा पाता है, तो वामाचार का अभ्यास नहीं करना चाहिये। कुलार्णव तन्त्र में कहा गया है कि वामाचार का अभ्यास वही साधक करे जो गुरु के निर्देशानुसार प्रवृत्ति मार्ग छोड़कर निवृत्ति मार्ग का अनुसरण कर सकता है, अन्यथा इसका परिणाम बहुत ही बुरा होगा। प्रवृत्ति मार्ग है जीवन से सम्बन्धित क्रियाओं का मार्ग जिसमें इच्छा, वासना, कामना, लालसा आदि आ जातीं हैं। सम्पूर्ण जीवन को एक बार देखकर, समझकर, वैराग्य और विवेक नामक दो पंखों का प्रयोग कर, निवृत्ति मार्ग में प्रवेश करना ही मोक्षावस्था है।

६. सिद्धान्ताचार

विभिन्न आचारों की शृंखला में वेदाचार, वैष्णावाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार और वामाचार के बाद सिद्धान्ताचार का वर्णन है। यहाँ उल्लेखनीय है कि साधारण प्रतिभा वाला साधक मात्र दक्षिणाचार तक ही साधना कर सकता है। इसके आगे साधना करने के लिये एक विशेष प्रतिभासम्पन्न और विलक्षण साधक की आवश्यकता होती है, जिसे तन्त्र की भाषा में दिव्य साधक कहते हैं। वेदाचार और वैष्णवाचार के अन्तर्गत पशु साधक की, शैवाचार में पशु और वीर साधकों की तथा दक्षिणाचार में केवल वीर साधक की चर्चा होती है। वामाचार में वीर एवं दिव्य साधकों की तथा सिद्धान्ताचार में मात्र दिव्य साधक की चर्चा की जाती है।

सिद्धान्ताचार का उद्देश्य है शिव-तत्त्व की प्राप्ति। शैव मतों के प्रसंग में पति, पशु और पाश सिद्धान्त की चर्चा होती है। इसके अन्तर्गत मनुष्य की पाशविक प्रवृत्ति, स्वाभाविक प्रवृत्ति या नैसर्गिक गुण का विशेष महत्त्व है। ये जीवन में सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहते हैं। उन्हें जानकर पाश और बन्धन के विभिन्न प्रकारों को समझना होता है। इन बन्धनों को समझने

के लिये तथा मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त गुरु-निर्देशों की आवश्यकता होती है। मनुष्य अपनी बुद्धि से सूक्ष्म बन्धनों को समझ नहीं सकता है और न इस बुद्धि से बन्धनों का निराकरण हो सकता है। गुरु शिष्य को बन्धनों के विषय में समझाकर मुक्ति का मार्ग भी बताते हैं। मुक्ति का मार्ग सिद्धान्ताचार है जिसमें गुरु-निर्देश प्रमुख है। व्यक्ति की आवश्यकता और क्षमतानुसार गुरु इसे इस मार्ग में बढ़ने के लिये प्रेरित करते हैं। अनेक बार गुरु के निर्देश व्यक्ति की क्षमता से अधिक होते हैं। ऐसा इसलिये कि गुरु का उद्देश्य शिष्य की सक्षमता और अक्षमता की स्वनिर्मित सीमाओं को किसी प्रकार तोड़ना है। पाश के बन्धन टूटने से विद्येश्वर की स्थिति प्राप्त होती है। विद्येश्वर अवस्था को प्राप्त करना सिद्धान्ताचार का मुख्य उद्देश्य है।

७. कौलाचार

कौलाचार का तात्पर्य मोक्षावस्था या जीवन मुक्ति से है। शास्त्रों में कहा गया है कि कौलाचार का अभ्यास मात्र परमहंस पद प्राप्त साधक ही कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में चिन्तकों द्वारा अनेक मत प्रतिपादित किये गये हैं। कुछ का कहना है कि कौलाचार की पद्धति एक महिला गुरु से ही सीखी जा सकती है। कुछ की मान्यता है कि कौलाचार साधना का वर्णन एक कुल में ही होता है जिसमें शक्ति गुरु का रूप धारण करती है और अपने कुल के अतिरिक्त अन्य किसी को यह शिक्षा नहीं मिलती है।

कुल का तात्पर्य शक्ति से है। तन्त्र में शक्ति को कुल और शिव को अकुल कहते हैं। महानिर्वाण तन्त्र में कुल की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "जो प्रकृति, जीवात्मा, काल और पंचभूतों में परमेश्वर का अनुभव करे वह कुल या कौल मार्ग का पथिक है।" यहाँ परमेश्वर के अनुभव का अभिप्राय परमेश्वर की शक्ति के अनुभव से है। अतः प्रकृति, जीवात्मा, काल और पंचभूतों में परमेश्वर की शक्ति को देखने तथा अनुभव करने वाले कौलमार्गी कहलाते हैं। यहाँ व्यक्त शक्ति के अनुभव की चर्चा हो रही है, क्योंकि प्रकृति, जीवात्मा, काल और पंचमहाभूत व्यक्त हैं। इस प्रकार व्यक्त अवस्था में शक्ति का अनुभव करनेवाले कौलाचारी कहलाते हैं। श्रीरामचरितमानस में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय अर्धाली है—"सियाराम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी," अर्थात् सीता और राम को, शिव और शक्ति को मैं सम्पूर्ण सृष्टि में ही व्याप्त देखता और अनुभव करता हूँ। जब जीव को चराचर जगत में ही शक्ति का अनुभव और आभास होता है तब वह कौलमार्गी कहलाता है।

साधना : कौलमार्ग में पंचमकार साधना प्रमुख है। इस पद्धति में पंचमकार साधना का दिव्य रूप होता है। पंचमकार का तात्पर्य मत्स्य, मांस, मदिरा, मुद्रा और मैथुन से नहीं वरन् आन्तरिक या आध्यात्मिक रूप और अवस्था में पूर्णता की प्राप्ति से है। दीक्षा एवं अभिषेक कौलमार्ग के अन्य प्रधान अंग हैं। दीक्षा शब्द की उत्पत्ति दृक धातु से हुई है, जिसका अर्थ

होता है देखना, पहचानना या जानना। इसके अन्तर्गत कहा जाता है कि पंचमकार एवं अन्य साधनाओं के द्वारा अन्तःचक्षु या अन्तदृष्टि को जागृत करना चाहिये, ताकि व्यक्तावस्था या चराचर जगत में दोनों तत्त्वों, शिव और शक्ति का ज्ञान हो जाय। अभिषेक का अर्थ होता है–सम्प्रेषण या शक्तिपात। तदनुसार एक गुरु की शक्ति शिष्य या साधक में प्रवेश कर जाती है और उसकी चेतना का विकास या उत्थान होता है।

उपतन्त्रीय आचार

इनके अतिरिक्त उपतन्त्रों में कुछ अन्य आचारों का वर्णन किया गया है, जिनमें तीन प्रमुख हैं : **दक्षिण मार्ग, वाम मार्ग** और **उत्तर मार्ग**।

दक्षिण मार्ग

तन्त्रों के अनुसार दक्षिण मार्ग में वेद, स्मृति और पुराणों द्वारा बतलाई गई पद्धति का उल्लेख है। वेदों पर दृष्टिपात करने पर पाते हैं कि वे संहिताओं में बँटे हुए हैं। ये संहितायें : ब्राह्मण ग्रन्थ, वानप्रस्थ ग्रन्थ और उपनिषद ग्रन्थ हैं। वेदों की इन संहिताओं में धारणा, एकाग्रता, ध्यान तथा आत्मिक अनुभव प्राप्त करने की पद्धतियों एवं विभिन्न विद्याओं का वर्णन मिलता है। दक्षिण मार्ग में इन पद्धतियों का अभ्यास किया जाता है। पुनः पुराणों में विभिन्न प्रकार की पूजा, अर्पण, तर्पण, जप, अनुष्ठान, पुरश्चरण आदि का उल्लेख मिलता है। वेद, पुराण और स्मृति के अनुशासन में तंत्र मार्ग पर चलने वाला दक्षिणमार्गी तान्त्रिक माना जाता है।

वाममार्ग

वेद, स्मृति और आगम शास्त्र वाम मार्ग के आधार हैं। तन्त्र शास्त्र के अनुसार आगम ग्रन्थ वे हैं जिनमें शिव गुरु और शक्ति शिष्या है तथा निगम ग्रन्थ वे हैं जिनमें शक्ति गुरु और शिव शिष्य हैं। अन्य मनीषियों का विचार है कि आगम ग्रन्थ मात्र सैद्धान्तिक चर्चा करते हैं तथा निगम उसी सैद्धान्तिक विचारधारा को एक व्यावहारिक रूप देते हैं। यदि आगम को मात्र सैद्धान्तिक मानकर चलें तो वाममार्ग में आगम और निगम–सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष दोनों को सम्मिलित किया जायेगा। यदि आगम को 'शिव गुरु और शक्ति शिष्या' के रूप में मानेंगे तो इस वर्गीकरण के अनुसार वेद, स्मृति और आगम शास्त्र द्वारा बताये गये रास्ते पर चलना वाममार्ग कहलायेगा।

उत्तर मार्ग

उत्तर मार्ग में वेद और गुरु की शिक्षा प्रधान है। गुरु वैदिक नहीं तान्त्रिक होता है। यदि साधक गुरु-वाक्य का अनुसरण करता है, तो उसकी उपलब्धियाँ किसी भी साधना–पद्धति से ऊँची होती हैं। अतः तान्त्रिकों ने इन तीन उपतन्त्रीय मार्गों में उत्तर मार्ग को सर्वश्रेष्ठ माना है।

साधना की अवस्थाएँ

आचार के अन्तर्गत साधना की तीन बाह्य अवस्थाओं का वर्णन है। आचारों के अभ्यास में साधक मुख्यतः तीन अवस्थाओं से गुजरता है। वे हैं : **१. शुद्धि की अवस्था, २. स्थिति की अवस्था** और **३. अर्पण की अवस्था**।

शुद्धि की अवस्था

साधक कोई भी मार्ग अपनाये, उस मार्ग में शुद्धि की स्थिति का अनुभव पहले है। शुद्धि का सम्बन्ध शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आत्मिक शुद्धि से है। योग में शारीरिक शुद्धि के लिये आसन, प्राणायाम और षट्कर्म अभ्यास बतलाये जाते हैं। इनके द्वारा बाह्य शरीर को शुद्ध निर्मल और पवित्र किया जाता है तथा शरीर में सन्तुलन स्थापित किया जाता है। यम-नियम के आचरण तथा प्रत्याहार और धारणा के अभ्यासों द्वारा मानसिक विकारों को दूरकर मानसिक, विचारात्मक और भावनात्मक शुद्धि तथा आन्तरिक स्पष्टता की स्थिति प्राप्त की जाती है। जब तक इस प्रकार की शुद्धि नहीं होती, आगे की साधना नहीं करनी चाहिये।

स्थिति की अवस्था

स्थिति का अभिप्रायः स्वयं को एक व्यापक अनुभव में स्थापित करने से है। एक अनुभव को समझकर, उसे एक आधार बनाकर तन्त्रमार्ग में आगे बढ़ना है। अधिकांश साधक इसी बिन्दु पर चूक जाते हैं। एक अनुभव की प्राप्ति पर उसी अनुभव में अटके रहते हैं। यदि देवी का दर्शन होता है, तो सदा इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं देवी का दर्शन करता रहूँ और उस अनुभूत अवस्था को ही लक्ष्य मानकर उसे पार नहीं कर सकते। तन्त्र शास्त्र कहता है कि सभी अनुभवों को पार करना आवश्यक है, क्योंकि अनुभव या स्थिति की अवस्था में विभिन्न शक्तियों का दर्शन और सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इस प्राप्ति को एक आन्तरिक अवस्था के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ते जाना है। तन्त्र शास्त्र में स्थिति का अर्थ अविद्या के नाश और विद्या की प्राप्ति से है। अविद्या के नाश का अर्थ अन्तःचक्षु के सामने पड़े हुए आवरण को हटाना है; साथ-ही-साथ विद्या में प्राप्त स्थिति का आचरण भी आवश्यक है। आन्तरिक अनुभूति तथा अवस्था के ज्ञान और बाह्य कर्म तथा बाह्य आचरण में सामञ्जस्य की स्थापना आवश्यक है। जब तक सामञ्जस्य की प्राप्ति नहीं होती, साधक अर्पण की अवस्था प्राप्त नहीं करता है। ९९ प्रतिशत साधक इसी दूसरी अवस्था में ही अटके रहते हैं; कोई सिद्धि के चक्कर में तो कोई एक प्रिय अनुभव के चक्कर में। उस स्थिति के वशीभूत साधक पुनः अविद्या को प्राप्त करता है। ईशावस्योपनिषद् में कहा गया है कि विद्या से भी मनुष्य अविद्या को प्राप्त करता है। विद्या स्थिति में अटकने के कारण ऐसा होता है। जब विद्या का जीवन्त आचरण होने लगता है, तब मनुष्य अर्पण अवस्था प्राप्त करता है।

अर्पण की अवस्था

अर्पण की अवस्था का अभिप्राय पूर्णरूपेण समर्पण है। योग इसे दृश्य, द्रष्टा और दर्शन का ऐक्य कहता है। द्रष्टा दृश्य को मात्र देखता ही नहीं, उससे एक हो जाता है। इसे एकतत्त्व धारणा भी कहा गया है। एक अवस्था या एक तत्त्व में स्वयं को लीन कर देना पूर्ण समर्पण की स्थिति है।

साधक के जीवन में ये तीनों अवस्थाएँ आती हैं। इन सभी अवस्थाओं में सजगतापूर्ण स्वयं का निरीक्षण किया जाता है। तान्त्रिक गुरु देखते हैं कि जब तक साधक एक स्थिति को पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं कर ले तब तक उसे आगे नहीं बढ़ना चाहिये।

साधना के क्रम में एक स्थिति में कभी-कभी गुरु के बाह्य निर्देश सुनाई नहीं पड़ते हैं। अर्पण अवस्था या समाधि में गुरु शिष्य को योग भाषा में समझाते हैं। अर्पण या समाधि में बाह्य वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, बाह्य इन्द्रियों के कार्यों से चेतना का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। उस लय की अवस्था में गुरु के निर्देश बाहर से सुनाई नहीं पड़ते हैं। यदि ये निर्देश बाहर सुनाई पड़े तो समझें कि साधना पूर्ण नहीं हुई है। अतः यहाँ साधक के लिये गुरु के दो रूप हो जाते हैं। एक रूप आन्तरिक होता है जिसमें गुरु शिष्य के अन्दर में प्रकट होकर प्रेरणा या ज्ञान के रूप में निर्देश देता है और ये निर्देश स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। ये निर्देश सूक्ष्म और कारण में सुनाई पड़ते हैं, स्थूल में नहीं। गुरु का दूसरा रूप स्वयं शिष्यमय बनना है, गुरु और शिष्य में भेद नहीं रहता। यह अवतार कहलाता है, गुरु की आत्मा शिष्य में अवतरित हो जाती है, शिष्य गुरुमय हो जाता है। यही अर्पण की स्थिति है।

साधना के साधन

उपरोक्त तीन साधनात्मक अवस्थाओं को साध्य बनाने के अनेक साधन हैं। उनमें प्रमुख हैं: **स्नान, तर्पण, सन्ध्या, पूजन** और **होम**।

स्नान

शारीरिक शुद्धि के लिये स्नान का उल्लेख किया गया है। किसी भी शुभ कार्य को करने के पूर्व स्नान की प्रथा का विशेष महत्त्व है। इससे सांकेतिक रूप बाह्य और आंतरिक स्वच्छता की प्राप्ति होती है। शरीर और मन के अन्दर आलस्य और प्रमाद के अंश स्नान से दूर होते हैं। स्नान से स्वच्छता की एक भावना भी जागृत होती है। स्नान करने से शरीर के तंत्रिका तंत्र एवं रक्त संचरण तंत्र में तीव्रता, सतर्कता या गतिशीलता आ जाती है। वस्तुतः स्नानोपरान्त इन संस्थानों की संवेदनशीलता बढ़ जाती है और वे पूर्ण रूप से सक्रिय हो जाते हैं। ये बाह्य स्नान के परिणाम हैं। षट्कर्मों के अन्तर्गत आन्तरिक स्नान की पद्धति भी है। उदाहरणार्थ–शंख प्रक्षालन एक आन्तरिक स्नान है जिससे शरीर के आन्तरिक अंग शुद्ध और निर्मल होते हैं।

तर्पण

तर्पण का तात्पर्य आत्माओं के प्रति सकारात्मक भावना की अभिव्यक्ति से है। शास्त्रों में तीन प्रकार के तर्पण बतलाये गये हैं : पूर्वजों के लिए, गुरु के लिए और ईश्वर के लिये। अपने कुल या वंश के पुरुषों के प्रति तर्पण का विधान है। गुरु तर्पण के द्वारा गुरु के प्रति सम्मान प्रकट किया जाता है। तर्पण की विधि में कर्मकाण्ड हैं, जैसे–संकल्प लेकर मन्त्रोच्चारण द्वारा या जल के द्वारा तर्पण। प्रायः देखने में आता है कि लोग नदी की धारा में सूर्य की ओर जल का अर्ध्य देते हैं। तर्पण करने वाला साधक एक संकल्प लेकर जल के द्वारा ईश्वरीय शक्ति के प्रति श्रद्धा, विश्वास और सम्मान प्रकट करता है। तर्पण में प्रायः जलतत्त्वों या खाद्य पदार्थों का उपयोग होता है।

सन्ध्या

सन्ध्या के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि प्रातःकाल में गायत्री सन्ध्या, मध्याह्न में सविता सन्ध्या और शाम में सरस्वती सन्ध्या करने का प्रचलन है। ब्राह्मणों के लिये तीन बार सन्ध्या आवश्यक मानी गयी है। सन्ध्या मन्त्रों के पाठ का उद्देश्य है विद्या की प्राप्ति, मन से कल्मष और अन्धकार निवारण तथा ज्ञान की प्राप्ति। सन्ध्या से बुद्धि की प्रखरता, शब्दों की स्पष्टता और कलाओं में निपुणता प्राप्त होती है।

पूजा

अर्पण में पूजा और होम की पद्धति बतलाई जाती है। पूजा के पाँच अंग हैं : **न्यास, ध्यान, जप, बाह्य पूजा** और **आन्तरिक पूजा**। पूजा का उल्लेख ध्यान पद्धति के रूप में किया गया है। पूजा के द्वारा साधक साकार रूप की उपासना करते हुए स्वयं को उस साकार रूप से एकमय करने का प्रयत्न करता है। इष्ट के साथ एकमय होने का प्रयत्न ध्यान है। ध्यान की अवस्था में यही प्रयत्न किया जाता है कि एक द्रष्टा के रूप में दृश्य के साथ एक हो जायें।

न्यास अपनी चेतना को विभिन्न अंगों में ले जाकर उन्हें जागरूक करने की प्रक्रिया है। शरीर के विभिन्न अंगों में चेतना को ले जाकर अंगों को मन्त्र द्वारा शुद्ध किया जाता है। साथ ही साथ मन्त्र द्वारा शरीर के चारों तरफ कवच का निर्माण किया जाता है ताकि किसी प्रकार की नकारात्मक शक्तियाँ उस कवच का भेदन न कर सकें। भारतीय परम्परा में पूजा के प्रसंग में न्यास का उल्लेख आता ही है। पूजा करनेवाले साधक शरीर के विभिन्न अंगों का स्पर्श करते हैं, सम्पूर्ण शरीर में एक सकारात्मक ईश्वरीय शक्ति को कवच के रूप में धारण करते हैं। प्रत्येक अंग की रक्षा एक-एक मन्त्र द्वारा करते हैं, ताकि किसी प्रकार के शारीरिक विघ्न एकाग्रता और ध्यान को बाधित नहीं करें।

ध्यान न्यास के बाद आता है। ध्यान की यह प्रक्रिया स्वयं को एकाग्र करने की विधि है, चंचल मन को केन्द्रित करने का तरीका है। ध्यान के इस अभ्यास में प्राणायाम का भी

प्रयोग है। प्रारम्भ में एक-दो चक्र प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है ताकि सजगता की विक्षिप्तता समाप्त हो और चेतना एक बिन्दु में केन्द्रित हो सके। वस्तुतः मनःशक्ति को केन्द्रित करने के लिये ध्यान का अभ्यास किया जाता है।

जप का विधान ध्यान के बाद है। इष्ट-मन्त्र या गुरु-मन्त्र का जप मन को केन्द्रित एवं अन्तर्मुखी करने तथा चेतना को सूक्ष्म बनाने हेतु किया जाता है। पूजा के प्रकार एवं विधि के अनुसार अलग-अलग संख्या में मन्त्र जप का वर्णन है।

बाह्य पूजा चौथा विधान है। इसके अन्तर्गत धूप-दीप जलाना, फूल तथा नैवेद्य अर्पण एवं तिलक लगाना आदि पद्धतियाँ विशेष प्रयोजन से हैं। इन क्रियाओं के द्वारा साधक साकार रूप की आराधना में अपनी भावना को जोड़ने का प्रयास करता है। बाह्य क्रियाओं के साथ भावना के जुड़ने से वातावरण साधना के अनुकूल बन जाता है।

आन्तरिक पूजा पाँचवाँ अंग है। यह बाह्य पूजा से उच्च है। इसका दूसरा नाम आत्मनिवेदन है। इसका सम्बन्ध समर्पणभाव को पूर्णरूपेण जागृत करने से है।

होम को साधानात्मक साधनों में अन्तिम स्थान प्रदान किया गया है। यह एक प्रकार का लघु यज्ञ है। एक व्यक्ति द्वारा की गई क्रिया होम कहलाती है। एक छोटे समूह द्वारा जब इसका सम्पादन होता है तो उसे हवन कहते हैं। जब सैकड़ों लोग एक साथ मिलकर इस क्रिया को करें तो यज्ञ है। होम का अभिप्राय स्वयं की आहुति या स्वयं को ईश्वरीय शक्ति को समर्पित कर देना है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि पूर्वोक्त तीन साधनात्मक अवस्थाओं की विभिन्न आवश्यकतायें–शुद्धि के लिये स्नान, स्थिति के लिये तर्पण और सन्ध्या तथा अर्पण के लिये पूजा और होम हैं।

पुरश्चरण एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान है। पुरश्चरण में सामान्यतः मूल मन्त्र के बीज मन्त्र, या गुरु मन्त्र या इष्ट मंत्र का जाप होता है। पुरश्चरण के अनेक प्रकार होते हैं। लेकिन मन्त्र शास्त्र के अनुसार मन्त्र को सिद्ध करने के निमित्त एक निश्चित संख्या और एक निश्चित क्रम में अभ्यास होना चाहिये। मन्त्र का जप उस निश्चित संख्या के अनुसार ही होना चाहिये ताकि वह सिद्धि में परिणत हो। इस साधना से साधक के सूक्ष्म और कारण शरीर की शक्ति प्रभावित होती है। यह पुरश्चरण का वास्तविक उद्देश्य भी है।

अन्य तन्त्रों के अनुसार पूर्णाहुति में अभिषेक और ब्राह्मण भोज भी हैं। इस प्रकार उपासनाओं की संख्या सात हो जाती है। लेकिन सभी तन्त्र सहमत हैं कि उपरोक्त पाँच उपासनाएँ—ध्यान, पूजा, जप, होम और तर्पण अनिवार्य हैं। पुरश्चरण की पूर्णाहुति में जितनी संख्या में मन्त्र का पुरश्चरण किया जाता है उसका दशांश पूर्णाहुति करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि पुरश्चरण में मन्त्र का एक लाख जप होता है, तो पूर्णाहुति में दस हजार जप करना होता

है। यह एक प्रकार का फल समर्पण है : एक लाख जप से प्राप्त होने वाले फल के दशांश का समर्पण। वस्तुतः सनातन परम्परा में अर्जित पुण्य या अर्थ के विभाजन का प्रावधान है। अर्जित धन का दस प्रतिशत गुरु के लिये, दस प्रतिशत ईश्वर के लिये तथा दस प्रतिशत दान के लिये अलग कर देना चाहिये और शेष परिवार के उपयोग में लाना चाहिये। कुछ ग्रन्थों में अर्जित धन के पाँच से पचास प्रतिशत तक की मात्रा को दान में देने की बात कही गई है। ये विभिन्न प्रावधान उस समय की अर्थव्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए किये गये होंगे, लेकिन दान की बात सर्वत्र कही गई है। पुरश्चरण में यही विचार लागू होता है। मन्त्र की कुल संख्या का दशांश समर्पित करने का अर्थ है कि ''हमने जो अर्जित किया है उसका दशांश तुम्हें समर्पित कर रहा हूँ।'' इससे स्वतः समर्पण की भावना जागृत होती है। स्वार्थ नहीं, त्याग की भावना दिखलाई देती है, इष्ट के प्रति अर्पण का भाव दिखलाई देता है।

विघ्न और व्यवधान

व्यक्ति जब साधना करने हेतु बैठता है तो साधना अवधि में अनेक प्रकार के विघ्न और व्यवधान उपस्थित होते हैं। कोई साधना निर्विघ्न समाप्त हो जाय तो समझना चाहिये कि कहीं कोई त्रुटि रह गई है। आध्यात्मिक शक्तियाँ मनुष्य निर्मित बन्धन में पड़ना नहीं चाहती हैं। इनका उद्देश्य मनुष्य की चेतना को जागृत कर सूक्ष्म और कारण अवस्था तक ले जाना होता है। अधिकांशतः देखा जाता है कि साधक भौतिक प्रलोभनों के कारण पुरश्चरण या मन्त्र सिद्धि करते हैं। अतः मन्त्र की दैविक शक्ति और व्यक्ति की प्रलोभनात्मक शक्ति या इच्छाशक्ति के बीच संघर्ष होता है। इसी कारण विघ्न और व्यवधान उत्पन्न होते हैं। कभी मन्त्रशक्ति प्रबल रहती है और साधक उसे सिद्ध नहीं कर सकता है। सात्विक, दिव्य साधक की संकल्प शक्ति मन्त्रशक्ति से ज्यादा प्रबल रहती है, क्योंकि वह किसी भौतिक उद्देश्य से नहीं वरन् एक आध्यात्मिक उद्देश्य से साधना कर रहा है। इस स्थिति में मन्त्र साध्य हो जाते हैं। अतः प्रारम्भ में उत्पन्न होने वाली समस्याएँ या व्यवधान सिद्धि के लक्षण माने गये हैं।

साधना की प्रमुख आवश्यकताएँ

तन्त्र शास्त्र में साधना के लिये : १. **मन्त्र,** २. **यन्त्र,** ३. **मण्डल** और ४. **मुद्रा** की आवश्यकता होती है।

मन्त्र का उद्देश्य मनःशक्तियों को स्वतन्त्र करना होता है। ये शक्तियाँ मन्त्र की ध्वनि-तरंग से प्रभावित होकर चेतना के सूक्ष्म आयामों को प्रभावित कर जागृत होती हैं। शास्त्रों के अनुसार मन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे–वैदिक मन्त्र, तान्त्रिक मन्त्र और यौगिक मन्त्र। इन मन्त्रों से जुड़ी हुई धारणा और ध्यान की पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं।

वैदिक मन्त्रों में धारणा की पद्धति देवों पर आधारित है। देव शब्द मानव व्यक्तित्व के एक गुण, प्रवृत्ति या उच्च अवस्था से जुड़ा हुआ है। देव शब्द की उत्पत्ति दिव् धातु से है जिसका अर्थ होता है स्वयं में प्रकाशित या स्वयं प्रकाशमान।

वेदों में देवताओं को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। एक है 'पार्थिव देवता समूह' जिनका आवास पृथ्वी पर है। इनके अन्तर्गत पेड़ों, नदियों, जल, पर्वत और सागर में भिन्न-भिन्न देव-रूपों का अनुभव होता है। अन्तरिक्षीय देवों का दूसरा समूह है, जिनमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु, अन्तरिक्ष आदि हैं। देवों का तीसरा समूह स्वर्गलोक में उच्च चेतना की अवस्था के प्रतीक हैं। वैदिक मन्त्रों में देवताओं के इन तीन समूहों को जागृत करने की शक्ति है। इनसे परे जिसे परा देवता माना गया है, उसका मन्त्र है 'ॐ'। परब्रह्म का यह प्रणव मन्त्र है।

तान्त्रिक मन्त्र-समूह में विशेषकर पंचदेव—शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश और विष्णु से सम्बन्धित मन्त्र आते हैं। इसमें शिव के अनेक रूप हो सकते हैं, जैसे रुद्र, भैरव आदि। इसी प्रकार शक्ति के भी अनेक रूप हो सकते हैं जैसा कि दस महाविद्याओं के प्रसंग में है। विष्णु के अनेक अवतारों, सूर्य और गणेश के मन्त्र भी होते हैं। तन्त्र शास्त्र के ये मन्त्र एकाक्षर बीज मन्त्र से लेकर 'असंख्य-अक्षर-मन्त्र' तक होते हैं। इन मन्त्रों का प्रयोजन व्यक्तिगत और चेतना से जुड़ी हुई समस्त शक्तियों का अनुभव दिलाना होता है। ये शक्तियाँ व्यक्तित्व के जागरण तथा चेतना की विभिन्न स्थूल और कारण अवस्थाओं से सम्बद्ध होती हैं।

यौगिक मन्त्रों में प्रकाशशीलत्व या सत्वगुणी मन्त्रों की, तान्त्रिक मन्त्र में स्थितिशीलत्व या तामसिक मन्त्रों की तथा वैदिक मन्त्रों में क्रियाशीलत्व या रजोगुणी मन्त्रों की प्रधानता है। तमोगुण, परिवर्तन तथा स्थिति प्राप्ति, रजोगुण स्थिति, तथा क्रिया एवं सतोगुण पूर्णता हैं। तन्त्र शास्त्र में इन तीन मन्त्र समूहों का उल्लेख मिलता है।

मन्त्र, श्वास और प्रतीक : मन्त्र को साधनात्मक पद्धति के रूप में अपनाने से कुछ और विधियाँ भी जुड़ जाती हैं। उनमें श्वास की पद्धति और प्रतीक ध्यान प्रमुख हैं। मन्त्र को आत्मिक या आध्यात्मिक ध्वनि कहा जाता है। श्वास को आत्मिक या आध्यात्मिक श्वसन कहते हैं तथा प्रतीक भी आत्मिक या आध्यात्मिक कहलाता है। प्रत्येक मन्त्र के साथ एक प्रतीक रहता है।

मन्त्रों के उच्चारण की तीन विधियाँ हैं : वैखरी, उपांशु तथा मानसिक। वैखरी उच्चारण बोलकर, व्यक्त ध्वनि द्वारा किया जाता है। बुदबुदा कर मन्त्र का उच्चारण करना उपांशु कहलाता है। मन-ही-मन पूर्ण सजगता के साथ मन्त्र को जपना मानसिक कहलाता है। इनके अतिरिक्त परा मन्त्र की अवस्था भी है। परा मन्त्र में वाणी, मन या बुद्धि की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। यह अनाहत रूप में उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण व्यक्तित्व को व्याप्त कर लेता है। प्रतीक पर ध्यान केन्द्रित करने से मन्त्र के स्वरूप और गुण पर एकाग्रता बनी रहती है। श्वास

के द्वारा चेतना को सूक्ष्म बनाकर मन्त्रशक्ति को शरीर में जागृत किया जाता है और सूक्ष्म एवं कारण शरीर तथा प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश में मन्त्रशक्ति का संचार होता है।

यन्त्र की आवश्यकता मंत्र के साथ होती है। यन्त्र दो प्रकार के होते हैं : सरल और क्लिष्ट। सरल प्रतीक पर बिना किसी प्रयत्न के ध्यान केन्द्रित हो सकता है। उदाहरण के लिये एक ज्योति, अधोमुखी या ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण इत्यादि। सरल प्रतीक में अधिक मानसिक कल्पना और मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता नहीं होती है। क्लिष्ट प्रतीक वे हैं जिन्हें देखने और अनुभव करने के लिये अधिक मानसिक परिश्रम की आवश्यकता होती है। श्रीयन्त्र, काली यन्त्र, दुर्गा यन्त्र, गणेश यन्त्र, सूर्य यन्त्र इत्यादि क्लिष्ट यन्त्रों की श्रेणी में आते हैं। ये यन्त्र केवल मन्त्र-स्वरूप ही नहीं वरन् मन्त्र रहस्य और सिद्धान्त भी दर्शाते हैं। शरीरस्थ विभिन्न चक्र भी यन्त्र के रूप में हैं; चाहे मूलाधार हो, सहस्रार हो या बीच का कोई चक्र; प्रत्येक चक्र-रूप यन्त्र का ही एक प्रकार है।

यन्त्र के अनेक अर्थ हैं। एक अर्थ के अनुसार यन्त्र यन्त्रणा या दुःख से मुक्ति देता है। दूसरी परिभाषा के अनुसार यन्त्र शब्द यान से उत्पन्न हुआ है। वह चेतना का वाहन या आधार है, जिसके द्वारा साधक चेतना के सूक्ष्म आयामों तक पहुँच सकता है। यन्त्रों में आणविक ब्रह्माण्ड या सूक्ष्म अनुभूतियों की कल्पना की गई है। सृष्टिक्रम को आणविक ब्रह्माण्ड यन्त्र में दर्शाया गया है। इन सभी परिभाषाओं को योग सही मानता है।

मण्डल यन्त्र के ही बृहद् रूप हैं। मण्डल रूपों को बौद्ध तन्त्रों तथा विशेष हिन्दू तन्त्रों में देख सकते हैं। आजकल इन्हें कोई नहीं समझ पाता है; इसलिये इनका प्रचलन धीरे-धीरे कम हो गया। मण्डलों में वस्तुतः आणविक ब्रह्माण्ड और बृहद् ब्रह्मण्ड को जोड़कर इनके स्वरूपों को सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप से समझाने की कोशिश की गई है। उच्च तन्त्र साधना में मण्डल की आवश्यकता होती है।

मुद्रा की अनेक परिभाषाएँ हो सकती हैं। मुद्रा शब्द 'मुद्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है मुदित होना या प्रसन्न होना। शब्द-शास्त्रियों के अनुसार इसमें 'द्रवय' शब्द भी जुड़ा है जिसका अर्थ द्रवित होना होता है। इस प्रकार मुद्रा का अर्थ आनन्द से द्रवित होना होता है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार मुद्राओं के अभ्यास से देवगण द्रवित हो करके साधक की सभी कामनाएँ पूर्ण करते हैं।

मुद्राएँ अनेक प्रकार की होती हैं जिनमें सर्वाधिक प्रचलित हैं नाट्य मुद्राएँ। नृत्य के समय एक नर्तकी विभिन्न मुद्राओं में अपने हाथों तथा सिर को हिलाती है, आँखों को मटकाती तथा शरीर के हाव-भाव प्रदर्शित करती है। नाट्यमुद्राओं की संख्या पाँच सौ से अधिक है। वह क्रोध, घृणा, प्रेम, करुणा, आनन्द आदि के भावों को मुद्राओं द्वारा प्रदर्शित करती है। नाट्य मुद्राओं में हाथों से बतलाया जाता है कि कमल के फूल कैसे खिलते तथा आकाश में पक्षी कैसे उड़ते हैं। इस प्रकार नाट्य मुद्राएँ शब्द की भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं।

नाट्य मुद्राओं के अतिरिक्त लगभग एक सौ तान्त्रिक मुद्राएँ होती है, जिनका प्रयोग ध्यान, मन्त्र, जप, पुरश्चरण और उपासना के समय किया जाता है। इनका उद्देश्य शरीर की शक्ति-प्रक्रिया तथा प्राण-प्रक्रिया को सन्तुलित बनाये रखना है। प्राण को आँखों से नहीं देखा जाता, किन्तु अनुभव होता है कि ऊर्जा के रूप में शरीर में प्राण का संचार हो रहा है। प्राणशक्ति के संचरण को तीव्र करने हेतु मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है।

योग में भी मुद्राओं का उल्लेख है। योग इन्हें मनोकायिक भाव कहता है। यौगिक मुद्राएँ शारीरिक या मानसिक अवस्थाएँ हैं, जिनके द्वारा साधक अपनी चेतना को अन्तर्मुखी बनाने में सफल हो जाता है। पाँच-दस मिनट तक शाम्भवी मुद्रा से मन अन्तर्मुखी तथा केन्द्रित हो जाता है। पाँच-दस मिनट तक नासिकाग्र दृष्टि का अभ्यास करने से एक अन्य स्थिति की प्राप्ति होती है। शारीरिक और मानसिक अवस्था में एक सकारात्मक परिवर्तन लाने के निमित्त योग की मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है।

इस प्रकार तान्त्रिक साधना की चार प्रमुख आवश्यकताएँ—मन्त्र, यन्त्र, मण्डल तथा मुद्रा हैं जिनके बिना साधना सिद्ध नहीं होती।

इनके अतिरिक्त आसन–सिद्धि का निर्देश भी दिया जाता है ताकि किसी स्थिति में एक निश्चित समय तक आराम से, बिना किसी शारीरिक कष्ट के, साधना हेतु बैठा जा सके।

★ ★ ★

अति महत्त्वपूर्ण पक्ष

तन्त्र शास्त्र के अध्ययन में गुरु, शिष्य, दीक्षा तथा विभिन्न साधनाएँ सम्मिलित हैं।

गुरु

तन्त्र शास्त्र की विभिन्न परम्पराओं में अनेक प्रकार के गुरुओं की चर्चा होती है। एक परम्परा में छः प्रकार के गुरुओं का वर्णन मिलता है। वे हैं : १. **प्रेरक,** २. **सूचक,** ३. **वाचक,** ४. **दर्शक,** ५. **शिक्षक** और ६. **बोधक**। प्रेरक गुरु साधना-मार्ग पर प्रगति हेतु शिष्य को प्रेरित करते हैं। सूचक गुरु शिष्य को साधना अपनाने का एक मार्ग बताते हैं। वाचक गुरु उसे विभिन्न विधियों तथा उनके परिणामों के विषय में समझाते हैं, जानकारी देते हैं। दर्शक गुरु अधिक गहराई में जाकर एक मार्ग या विधि के विषय में शिष्य को विस्तृत ज्ञान प्रदान करते हैं। शिक्षक गुरु शिष्य को व्यावहारिक रूप से साधना पद्धति बताते हैं। बोधक गुरु शिष्य के अंदर ज्ञान की ज्योति जलाकर उसके अज्ञान के अन्धकार को दूर करते हैं।

दूसरी परम्परा में बारह प्रकार के गुरुओं की चर्चा होती है। वे हैं : १. **धातुवादी गुरु,** २. **चन्दन गुरु,** ३. **विचार गुरु,** ४. **अनुग्रह गुरु,** ५. **पारस गुरु,** ६. **कच्छप गुरु,** ७. **चन्द्र गुरु,** ८. **दर्पण गुरु,** ९. **छायानिधि गुरु,** १०. **नादनिधि गुरु,** ११. **क्रौंच पक्षी गुरु** और १२. **सूर्यकान्त गुरु**।

धातुवादी गुरु साधना तथा विभिन्न प्रकार के आचारों के आचरण द्वारा शिष्य को मोक्ष दिलाते हैं। चन्दन गुरु का कार्य चन्दन के समान ही होता है। चन्दन के साथ अन्य किसी प्रकार की लकड़ी रखें तो वह भी सुगन्धित हो जाती है। इसी प्रकार चन्दन गुरु के सान्निध्य मात्र से शिष्य में परिवर्तन होने लगता है। विचार गुरु बुद्धिजीवी साधक के लिये उपयोगी होते हैं। उनकी बुद्धि-प्रक्रिया में परिवर्तन लाकर चेतना को बदल सकते हैं। अनुग्रह गुरु अपनी कृपा-दृष्टि से, अनुकम्पा से शिष्य को तार देते हैं। पारस गुरु के स्पर्श से ही शिष्य तर जाता है। कच्छप गुरु अपने दूरस्थ शिष्य के बारे में चिन्तन कर उसकी चेतना को जागृत करते हैं। चन्द्र गुरु अपने ज्ञान और व्यवहार की किरणों से शिष्य में परिवर्तन लाते हैं। दर्पण गुरु शिष्य को अपने निज रूप का दर्शन कराते हैं। ऐसे गुरु व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप को उसके सामने

प्रस्तुत कर देते हैं। छायानिधि गुरु को एक दृष्टांत से समझें। एक तपस्वी महात्माजी थे। एक दिन भगवान सामने प्रकट हुए और कहा "कोई वर माँगो।" महात्मा ने कहा कि आपके दर्शन हो गये, अब और कुछ नहीं चाहिये। भगवान ने वर माँगने हेतु जब जोर डाला तो महात्माजी भगवान की तरफ पीठ कर जाने लगे। भगवान ने सोचा कि अजीब साधु है, कुछ माँगता नहीं और मेरे आग्रह से नाराज होकर जा रहा है। लेकिन मेरा काम तो है देना, इसे भी कुछ देना ही है। इतने में ही उनका ध्यान महात्मा की छाया पर गया। उन्होंने वर दे दिया कि यह छाया जहाँ भी पड़ेगी, वहाँ सभी प्रकार की खुशियाँ प्राप्त होंगी। उस महात्मा को इस वरदान के विषय में कुछ मालूम नहीं पड़ा। वे सदैव चलते रहते थे। एक दिन एक रोगी के शरीर पर उनकी छाया पड़ गई और वह भला चंगा होकर उठ कर बैठ गया। धीरे-धीरे उनके चमत्कार की बात चारों तरफ फैल गई। लोग उनकी छाया के पीछे दौड़ने लगे। ऐसे ही होते हैं छायानिधि गुरु। उनकी छाया सिद्ध होती है। एक क्षण के दर्शन का प्रभाव जीवनपर्यन्त बना रहता है। नादनिधि गुरु शिष्य की पुकार सुनते ही उसके पास पहुँच जाते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, द्रौपदी और गज की पुकार सुनकर भगवान तत्काल उनके पास पहुँच गये। जब शिष्य हृदय से उनको पुकारता है तो गुरु किसी न किसी रूप में अविलम्ब पास पहुँचकर उसकी सहायता करते हैं। क्रौच पक्षी गुरु सिद्ध गुरु हैं। साधक जो कुछ भी चाहे, जो भी इच्छा करे, वह गुरु के सिद्धि के प्रताप से पूर्ण हो जाती है। सूर्यकान्त गुरु सूर्य की रश्मि के समान प्रतापी होते हैं। वे शिष्य के समस्त कर्मों को नष्ट कर देते हैं, भस्म कर देते हैं तथा शिष्य को शुद्ध बना देते हैं।

निर्वाण तन्त्र के अनुसार **गुरु, परमगुरु, परापर गुरु तथा परमेष्ठि गुरु**–ये चार प्रकार के गुरु होते हैं। शक्ति स्वरूपा को परापर गुरु तथा शिव स्वरूप को परमेष्ठि गुरु कहते हैं। नील तन्त्र में गुरु को **दिव्यौघ, सिद्धौघ** तथा **मानवौघ** के रूप में समझाया गया है।

अन्य तन्त्रों में गुरु दो प्रकार के माने गये हैं : **तारक गुरु** और **देव गुरु**। तारक गुरु या तारिणि गुरु शिष्य को एक मार्ग से ले जाकर उसका कल्याण करते हैं, तार देते हैं या भवसागर से पार ले जाते हैं। देव गुरु अपनी सिद्धि, शक्ति और क्षमता से स्वयं की शक्ति का शिष्य में स्थानान्तरण कर शिष्य की आन्तरिक प्रतिभा को जागृत करते हैं।

तन्त्र शास्त्र के अनुसार गुरु के ये मुख्य वर्गीकरण हैं। गुरुओं की उपरोक्त श्रेणियों में मानवगुरु, सिद्ध गुरु और दिव्य गुरु ही प्रमुख माने जाते हैं। शिष्य को गुरु के प्रति आस्था और विश्वास होना चाहिये। गुरु द्वारा बतलाये गये निर्देशों का श्रमपूर्वक पालन करना आवश्यक तथा अनिवार्य है, चाहे वे निर्देश प्रारम्भ में कठोर ही क्यों न लगें। आजकल गुरु-निन्दा सामान्य बात हो गई है। गृहस्थ और संन्यासी शिष्य भी गुरु की आलोचना से बाज नहीं आते। यह उचित नहीं है। शिष्य को पूर्णतः आज्ञाकारी बनकर गुरु के प्रति समर्पित हो जाना चाहिये,

तभी उसका शिष्यत्व सार्थक होता है। एक तरफ तो शिष्य गुरु को अपना तन-मन समर्पित करता है और दूसरी तरफ उसी तन-मन से मनमौजीपन करना चाहता है। इस प्रकार मानवीय आडम्बर, द्वैतभाव या स्वनिष्ठ भाव समाप्त नहीं होता। गुरु के कठोर होते ही शिष्य समर्पण की बात भूल जाता है और पूर्व की विचारधारा में ढलने लगता है। ऐसा नहीं होना चाहिये। स्वयं को समर्पित कर देने के पश्चात् आदेश-निर्देश का पालन करना आवश्यक है। मानव गुरुओं के साथ सम्पर्क होने पर ही यह सम्भव है।

सिद्ध गुरु अपनी प्रतिभा और शक्ति के स्थानान्तरण द्वारा शिष्यत्व या शिष्य की आन्तरिक शक्ति जागृत कर सकते हैं। वे प्रत्येक शिष्य में ऐसा परिवर्तन ला सकते हैं, लेकिन इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है शिष्य की पात्रता। दिव्य गुरु की प्राप्ति में गुरु और शिष्य में कोई भेद नहीं रह जाता, दोनों एक हो जाते हैं।

अनेकों बार समस्या उत्पन्न होती है कि गुरु का चयन कैसे किया जाय ? साधक कैसे जानेगा कि उसके लिये उपयुक्त गुरु कौन हैं ? साधक प्रायः गुरु के शरीर, रूप, विचार और व्यवहार को देखता है। यदि उनके विचार और व्यवहार साधक के अनुकूल हों तो वह उन्हें गुरु रूप में स्वीकार करता है। किन्तु इस प्रकार गुरु का चयन नहीं हो सकता। यहाँ तो साधक अपनी विचारधारा के अनुसार और आत्मसंतुष्टि के लिये गुरु को स्वीकार कर रहा है। यह चयन आध्यात्मिक प्रगति के लिये नहीं है। वे चाहते हैं कि गुरु के विचार, वाणी और कर्म उनकी इच्छा के अनुकूल हों। यदि गुरु वही बात कहे जो सब सुनना चाहते हैं, वही कर्म करे जिसकी अपेक्षा वे भी रखते हैं, वही सोचे जो सभी सोचते हैं, तो शिष्य बनने का लाभ, और गुरु की गरिमा क्या रही ? लोग गुरु को ही अपना शिष्य बनाना चाहते हैं; सभी की अपेक्षा है कि गुरु उनके अनुकूल सोचे, बोले और करे। अधिकांश लोग इसी मनःस्थिति से गुरु का चयन करते हैं।

गुरु का चयन कर्म, ज्ञान और व्यवहार को देखकर होना चाहिये। गुरु का अपने लिये एक और दूसरों के लिये दूसरा सिद्धान्त नहीं होता। जब साधक गुण, कर्म, ज्ञान और व्यवहार के आधार पर गुरु का चयन करता है तब कोई फर्क नहीं कि गुरु कठोर है या कोमल। तब आन्तरिक समर्पण की स्थिति उत्पन्न होती है। उसके बाद गुरु साधक के साथ कोमलता से व्यवहार करें या कठोरता से, कोई अन्तर नहीं पड़ता। सामान्य जीवन में मनुष्य कोमलता को प्राथमिकता देता है और कठोरता को नकारता है, लेकिन तन्त्र में कोमलता और कठोरता दोनों को स्वीकार किया गया है। दोनों के समन्वय पर बल दिया गया है।

योग के अनुसार गुरु की श्रेणियाँ

योग के अनुसार गुरुओं की चार श्रेणियाँ हैं : १. **योगी गुरु,** २. **ज्ञानी गुरु,** ३. **तान्त्रिक गुरु** और ४. **ब्रह्मनिष्ठ गुरु**। योगी गुरु साधक गुरु होते हैं, जो एक मार्ग का अनुसरण तथा

तदनुकूल साधना कर दूसरों को उस मार्ग पर ले जाते हैं। योगी गुरु व्यावहारिक गुरु भी हैं जो साधक के मनोवैज्ञानिक स्तर को समझते हुए एक मार्ग बतलाते हैं। ज्ञानी गुरु वे हैं जिन्होंने साधनात्मक अवस्था पार कर ली है और ज्ञान में प्रतिष्ठित हो साधकों का मार्गदर्शन करते हैं। वे ज्ञान के द्वारा दुःख, सन्ताप और क्लेश का निवारण करते हैं। तान्त्रिक गुरु का दृष्टिकोण व्यावहारिक होता है। वे साधक के मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक अवस्था को पहचान कर एक पद्धति, मार्ग या साधना बताते हैं, ताकि आध्यात्मिक मार्ग पर उसका समुचित विकास हो सके। ब्रह्मनिष्ठ गुरु जीवनमुक्त होते हैं। इनके सम्पर्क मात्र से ही समस्त प्रकार के क्लेश और मल दूर हो जाते हैं। वैदिक कालीन गुरुओं के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनके देदीप्यमान प्रभामण्डल के सम्पर्क में आनेवाले तथा उनके आश्रम में रहने वाले लोगों के विकार दूर हो जाते थे। वैसे क्षेत्रों में जाते ही वैर, हिंसा, मद, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि छूट जाते हैं तथा एक सात्विक भाव, एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। ऐसे महात्माओं का दर्शन भी आवश्यक नहीं होता। उनका निवास का क्षेत्र ही सिद्ध क्षेत्र में परिवर्तित हो जाता है। उस क्षेत्र में गुरुत्व शक्ति जागृत हो जाती है।

शिष्य

तन्त्र शास्त्र में शिष्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है : १. **पशु शिष्य,** २. **वीर शिष्य** और ३. **दिव्य शिष्य**। भाव दृष्टि से ये पशु भाव, वीर भाव और दिव्य भाव वाले शिष्य होते हैं।

पशु शिष्य : पशु भाव युक्त सामान्य शिष्य होता है। अधिकांश शिष्य पशु भाव वाले ही होते हैं। पशु शिष्य में समस्त प्रकार की भावनाएँ, विचार और महत्त्वाकांक्षाएँ उमड़ती रहती हैं और वह उनसे प्रभावित हो अपने जीवन का मार्ग निर्धारित करता है। ऐसा शिष्य स्वयं को तथा स्वयं की वासना, इच्छा और आकांक्षा को जान नहीं पाता, समझ नहीं पाता और अपने आपको समर्पित नहीं कर पाता है।

ऐसे शिष्यों के लिये तन्त्र शास्त्र में **भक्ति मार्ग, कर्म मार्ग** और **उपासना मार्ग** बतलाये गये हैं। भक्ति मार्ग के द्वारा एक पशु शिष्य अपने मन को एक लक्ष्य में केन्द्रित कर सकता है। भक्ति भावना के प्रबल होने से शिष्य के अन्दर से पशुत्व विकार शनैः-शनैः हटते हैं। भक्ति मार्ग की नौ अवस्थाओं से गुजरने के बाद पशु शिष्य में आत्म निवेदन स्थिति आती है और तब वह वीर भाव प्राप्त कर लेता है।

पशु शिष्य के लिये **कर्म मार्ग** या **सेवा का मार्ग** भी है। जब स्वामी सत्यानन्दजी ने स्वामी शिवानन्दजी से मिलकर संन्यास-दीक्षा हेतु निवेदन किया तो स्वामी शिवानन्दजी ने कहा "इस मार्ग में तुम बहुत जल्दी आये हो, तुम्हारी उम्र कम है, अभी अपने कर्मों को क्षय करने तथा

अपने जीवन को फलीभूत करने के लिये तुम्हें कर्म करना है।'' तब स्वामीजी ने कहा ''ठीक है, मैं वापस जाता हूँ, बीस-पच्चीस वर्षों तक कर्म करूँगा, घर-गृहस्थी संभालूँगा, तब आपके पास आऊँगा। जब वहाँ और यहाँ दोनों जगह कर्म करना है, तो वहाँ कर्म करने के बाद यहाँ आ जाऊँगा।'' स्वामी शिवानन्दजी ने कहा, ''देखो, एक गृहस्थ के रूप में सांसारिक कर्म करना तथा एक संन्यासी साधक के रूप में कर्म करना, दोनों में अन्तर है। एक गृहस्थ के रूप में तुम अपनी तथा अपनों की इच्छाओं, आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कर्म करते हो, सम्पत्ति तथा सामग्रियों का अर्जन एवं संग्रह करते हो; ये स्वार्थपूर्ण कर्म हैं। यहाँ सांसारिक विचार कर्मों को प्रेरित करते हैं। ऐसे कर्मों से कर्मों का क्षय नहीं होता वरन् मनुष्य में और अधिक कर्मों का संग्रह हो जाता है तथा व्यक्ति बन्धन में पड़ता है। गृहस्थाश्रम में रहकर सात्विक तथा ब्रह्मनिष्ठ जीवन जीते हुए एवं गीता-उपनिषद्–रामायण पढ़ते हुए भी जो कर्म किये जाते हैं उनके भी बीज मिटते नहीं। लम्बे समय तक गृहस्थ के रूप में कर्म करने के बाद जब तुम संन्यास लोगे और साधना के मार्ग में आगे बढ़ोगे तो बीजरूपी वे कर्म प्रकट होंगे और तुम्हारे मार्ग में बाधक बनेंगे।'' अतः कर्म निर्देश का एक ही उद्देश्य रहता है : सभी प्रकार के कर्मों को करते हुए, अपनी प्रतिक्रियाओं का अवलोकन कर, कर्मों के साथ जुड़ी हुई स्वार्थपूर्ण या फलाकांक्षा की भावना को निर्मूल कर देना। कर्मों के प्रति हमारे मन में पाप, पुण्य, घृणा आदि के भाव रहते हैं, जिन्हें समाप्त करना कठिन है। जब हम सर्वप्रथम आश्रम में आये और स्वामीजी से कर्मयोग की दीक्षा का निवेदन किया तो उन्होंने कहा, ''शौचालय की टंकी भर गई है, उसमें घुसकर 'सामग्री' को बाल्टी में भरकर ऊपर खड़े व्यक्ति को देना है।'' मुझे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं हुई; धोती सम्हाली और नीचे उतर गया, कमर तक सामग्री में डूब गया। बाल्टी में वह सामग्री ऊपर के आदमी को देता रहा। एक घंटे में पूरी टंकी साफ हो गई। जब हम बाहर निकले तो देखा कि स्वामीजी खड़े मुस्कुरा रहे हैं। उन्होंने कहा ''तुम उत्तीर्ण हो गये।'' उस समय यह बात मेरी समझ में नहीं आई; बात समझ में आई अनेक वर्षों बाद, जब मुझे पता चला कि इस घटना का मेरे जीवन में क्या परिणाम हुआ। अभी भी उस घटना को याद करता हूँ, तो लगता है कि संकीर्ण भावना को समाप्त करना बहुत कठिन है। पशु शिष्य के लिये कर्म या कर्म मार्ग महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा वह अपनी जटिल मानसिक अवधारणाओं की ग्रन्थियों को खोलकर उन्हें नष्ट कर डालता है।

पशु शिष्य के लिये विहित तीसरा मार्ग उपासना का है, जो पंचतत्त्व साधना से सम्बन्धित है। पशु शिष्य में श्रद्धा, विश्वास और आस्था की कमी होती है। वह अपने मन का, अपनी इच्छाओं और वासनाओं का दास होता है; उनसे मुक्त होना संभव नहीं। वह गुरु का भी गुरु बनना चाहता है।

वीर शिष्य : बहुत लोग वीर स्वभाव को राजसिक स्वभाव से जोड़ते हैं। लेकिन तन्त्र इस विचार से सहमत नहीं। तामसिक, राजसिक और सात्त्विक गुण व्यक्तित्व की पहचान हैं। शिष्य

के अन्दर ये गुण कभी-कभी प्रबल रूप अवश्य धारण करते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में मानवीय कमजोरियाँ होती हैं। लेकिन वास्तव में तीनों श्रेणी के शिष्यों के लक्षण भिन्न प्रकार के होते हैं। वीर स्वभाव के अन्तर्गत ऐसे मनुष्य की चर्चा होती है जिसमें पुरुषार्थ करने तथा जीवन की परिस्थिति को मुस्कुराते हुए झेलने की क्षमता रहती है। वह कभी निराश नहीं होता तथा सदैव स्वयं को समझने का प्रयास करता है। वीर मनुष्य में आलस्य और प्रमाद अति अल्प मात्रा में रहते हैं; ऐसे मनुष्य में आगे बढ़ने की इच्छा प्रबल रहती है और यह इच्छा और उत्साह ही उसे प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाते हैं। वीर स्वभाव वाला शिष्य अपने भीतर के विचार, कामना, वासना या अहंकार की स्थिति को समझकर उनके नकारात्मक तत्त्वों को हटाकर स्वयं में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। जो साधक स्वयं में परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है वह वीर शिष्य कहलाता है।

दिव्य शिष्य तथा गुरु के बीच तादात्म्य भाव रहता है। वह स्वयं को गुरु से भिन्न नहीं मानता; उनसे पूर्ण एकत्व का, अभिन्नता का भाव रखता है। केवल गुरु के प्रति ही नहीं वरन् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त चराचर पदार्थों के प्रति समभाव रखता है। वह प्रत्येक स्त्री में शक्ति का तथा प्रत्येक पुरुष में शिव का स्वरूप देखता है। उसके अन्दर के प्रति अटूट आस्था, विश्वास, श्रद्धा और तादात्म्य का भाव निरन्तर बना रहता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान उसके जीवन के अन्तरंग अंग बन जाते हैं। उसके जीवन में ये साधनाएँ अनवरत चलती रहती हैं। ऐसे शिष्य के विचार और व्यवहार, ज्ञान तथा कर्म में ज्यादा अन्तर नहीं रहता।

योग्यता के अनुसार शिष्यों की श्रेणियाँ

योग में अन्य अनेक प्रकार के शिष्यों की चर्चा होती है जिनमें प्रमुख हैं : १. **गृहस्थ शिष्य,** २. **कर्म संन्यासी शिष्य,** ३. **साधक शिष्य,** ४. **संन्यासी शिष्य,** ५. **तान्त्रिक शिष्य** और ६. **निकम्मे शिष्य**।

१. **गृहस्थ शिष्य** का अपना जीवन, अपना परिवेश और अपने कर्त्तव्य रहते हैं। सामाजिक परिवेश में रहकर वे गृहस्थ धर्म का पालन करते हैं। गृहस्थ शिष्यों में गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास रहता है। चाहे लड़की की शादी हो या बच्ची की पढ़ाई, वे गुरु के तत्सम्बन्धी आदेशों का अक्षरशः पालन करते हैं। प्रत्येक छोटे-बड़े निर्णय के लिये गुरु पर आश्रित रहते हैं। उन्हें विश्वास है कि गुरु सदैव उनका हित और कल्याण चाहेंगे। गृहस्थ शिष्य जप, अनुष्ठान और साधना-मार्ग में अधिक रुचि नहीं लेते, ये उनके पल्ले पड़ते भी नहीं हैं। गुरु को वे बड़ा गृहस्थ मानकर मार्गदर्शक के रूप में अपनाते हैं।

२. **कर्म संन्यासी शिष्य** गृहस्थ-धर्म और संन्यास-धर्म का पालन कर अपना एक आध्यात्मिक परिचय बनाने का प्रयास करते हैं। जीवन में इस आध्यात्मिक परिचय को प्राप्त

करने के लिये वे दीक्षा लेते हैं; गुरु यदि विशेष वस्त्र दें तो उसे धारण भी करते हैं। गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी वे कुछ घंटा समय गुरु-प्रदत्त साधना में लगाते हैं।

३. **साधक शिष्य** गुरु के समस्त निर्देशों को ब्रह्मवाक्य मानकर बतलाये गये मार्ग पर तब तक चलते रहते हैं जब तक कोई दूसरा निर्देश नहीं मिलता। एक उदाहरण शबरी का है। शबरी के गुरु ने कहा था कि एक दिन श्रीराम तुम्हारे घर आयेंगे। गुरुजी ने यह नहीं बताया कि वे कब, कैसे या कितने वर्षों बाद आयेंगे। शबरी प्रतिदिन घर तक आने वाले रास्ते को झाड़ती-पोंछती, उस पर फूल बिछाती तथा प्रभु के लिये फल-फूल, कन्द-मूल की व्यवस्था करती। ऐसा करते हुए वर्षों बीत गये और वह वृद्धा हो गई, किन्तु उसकी यह साधना अनवरत चलती रही। साधक शिष्य का भाव शबरी के समान होता है। वह गुरु-निर्देशों को अटूट श्रद्धा और विश्वास के साथ अनवरत पालन करता रहता है। गृहस्थ और कर्म संन्यासी शिष्य प्राप्ति के पीछे रहते हैं : मुझे यह चाहिये, ऐसा होना चाहिये, मेरा कल्याण होना चाहिये, आदि, लेकिन साधक शिष्य में प्राप्ति के कोई भी भाव नहीं रहते। वह जानता है कि गुरु ही उसे पहचानते हैं; अतः उसके मन में यह दृढ़ भाव रहता है कि "मुझे जो कहा गया है वह मेरे लिये उचित है और मैं इसे करता रहूँगा।"

४. **संन्यासी शिष्य** चौथी श्रेणी में आते हैं। वे गुरु के कार्य को सम्पादित करने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं। न्यास का अर्थ होता है किसी वस्तु की सुरक्षा और व्यवस्था। सम् का तात्पर्य होता है सम्यक् रूप से या अच्छी तरह। संन्यास का अभिप्राय स्वयं को पूर्णरूपेण समर्पित करने से है ताकि गुरु हमारी उपयोगिता के सम्बन्ध में समुचित निर्णय ले सकें। प्रत्येक संन्यासी शिष्य का एक लक्ष्य होता है और उसके समस्त कर्म उसी दिशा में निर्देशित होते हैं।

५. **तान्त्रिक शिष्य** का वर्णन पाँचवीं श्रेणी में किया गया है। इनकी तुलना दिव्य भाव वाले शिष्य से की जा सकती है, जिनका गुरु से पूर्ण तादात्म्य रहता है।

६. **निकम्मे शिष्यों** की छठी श्रेणी है। वे न इस घाट के रहते हैं न उस घाट के। यदि नदी पार जाना है तो देखते हैं कि नदी के किनारे कितनी नावें बंधी हैं और सबसे अच्छी, खूबसूरत, आरामदायक नाव का चयन कर उसी पर सवार होना चाहते हैं। ऐसे शिष्य मतलबी या स्वार्थी होते हैं तथा उनमें सेवा, समर्पण और साधना का पूर्ण अभाव रहता है।

ठेला, ढेला और **चेला** नाम के अन्य तीन प्रकार के शिष्यों की स्वामी सत्यानन्दजी चर्चा किया करते थे। ठेला शिष्य गुरु द्वारा ठेले जाने पर आगे बड़ता है और ठेलना बन्द होते ही शिष्य रुक जाता है। पुनः ठेलने पर आगे बढ़ता है और छोड़ देने पर रुक जाता है। ढेला शिष्य को तादात्म्य भाव वाला शिष्य कह सकते हैं। वह तटस्थ बना रहता है, 'यथायोग्यं तथाकुरु' का भाव बनाये रहता है।

गुरु की श्रेष्ठता के बारे में कहना कठिन है क्योंकि गुरु प्रकाश का प्रतिनिधित्व करते हैं, प्रकाश-स्वरूप होते हैं। गुरु की श्रेष्ठता या प्रकाशत्व को जाँचने-परखने का तात्पर्य यह

है कि शिष्य पूर्णतः पशु-भाव से युक्त है। इस प्रकार का प्रयास बिल्कुल अनुचित, निरर्थक एवं अनावश्यक है। वे ही गुरु श्रेष्ठ हैं, जो मनुष्य को जीवन के व्यावहारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक परिस्थितियों में सहारा देकर ऊपर उठा सकते हैं।

लेकिन यह अवश्य सोचना चाहिये कि शिष्य को भी किस प्रकार का होना चाहिये; अपने समस्त गुण-अवगुणों को ईमानदारी से देखकर, जाँचकर अपना मूल्यांकन करना चाहिए। कहा जा चुका है कि सामान्यतया अधिकांश शिष्य पशु शिष्य की श्रेणी में आते हैं। लेकिन वीर शिष्य बनने का प्रयास करना है, यही लक्ष्य होना चाहिये। दिव्य शिष्य बनने की कोशिश नहीं करनी है, क्योंकि वह तो प्राप्ति की अवस्था है। स्वयं को बदलते हुए वीर शिष्य की अवस्था तक पहुँचने का प्रयास साधक कर सकता है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में यदि साधक दिव्य भाग प्राप्त कर ले तो वह अंतिम परिणति होगी। इसलिये सामान्यतः वीर भाव तक पहुँचने का लक्ष्य धारण करना चाहिये और प्राथमिकता भी वीर शिष्य को ही दी जाती है। गुरु-शिष्य सम्बन्ध ही उसे इस अवस्था से आगे ले जा सकते हैं। वीर अवस्था प्राप्ति के पश्चात् यदि गुरु की कृपा, अनुकम्पा या अनुग्रह से जीवन में तादात्म्य भाव जागृत हो जाय तो साधक दिव्य भाव को प्राप्त कर सकता है। कुछ लोगों का मत है कि पशु से वीर बनने की प्रक्रिया भी दो-तरफा प्रयास है। अर्थात् इस क्रम में गुरु और शिष्य दोनों को प्रयास करना है। हमारा मत है कि यह एक-तरफा कार्य है, इस प्रक्रिया में शिष्य को ही प्रयास करना है। गुरु-निर्देशों के बावजूद यदि शिष्य प्रयास न करे तो उसकी क्या प्रगति होगी ? अतः प्रयासरत रहना ही शिष्य का उत्तरदायित्व और कर्तव्य है। गुरु साथ चल सकता है पर शिष्य को अपनी यात्रा तो अपने पैरों से ही करनी पड़ेगी।

दीक्षा

दीक्षा एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। दीक्षा शब्द 'दा' और 'क्षि' धातुओं से बना है; दा का अर्थ है देना और क्षि का तात्पर्य है परिवर्तन, संहार, क्षय या समाप्त करना। इस सन्दर्भ में दीक्षा शब्द का अर्थ होता है, गुरु शिष्य को ज्ञान का अन्तःचक्षु प्रदान कर उसके मनोविकारों का संहार करते हैं। कुछ लोगों का मत है कि दीक्षा शब्द 'दृश्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है देखना। तदनुसार, जब मनुष्य माया के परदे को हटाकर आत्मा और सनातन अवस्था के वास्तविक स्वरूप देखने में सक्षम होता है, तो वह दीक्षा का एक रूप होता है। योग में कहा जाता है कि दीक्षा ग्रहण करने से साधक का नया जन्म होता है। दीक्षा शब्द का प्रयोग योग में उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार सनातन परम्परा में द्विज शब्द का प्रयोग होता है। मनुष्य का एक जन्म माता के गर्भ से होता है; जो शारीरिक जन्म है। दूसरा जन्म आठ वर्ष की उम्र में संस्कार के बाद होता है, अर्थात् संस्कार को दूसरा जन्म माना गया है और संस्कारोपरान्त व्यक्ति द्विज बन जाता है। वर्णाश्रम नियम के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य

ही संस्कार के अधिकारी होते हैं। ये तीनों द्विज कहलाते हैं। दीक्षा का अर्थ भी पुनर्जन्म ही होता है। एक जन्म शरीर का होता है जिसके माध्यम माता-पिता होते हैं; दूसरा जन्म आन्तरिक जागृति या आत्मजागृति का होता है जिसके माध्यम गुरु होते हैं।

सामान्यतः दीक्षा दो प्रकार की होती है : १. **बाह्य दीक्षा** और २. **आन्तरिक दीक्षा**। इन दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है, केवल कर्मकाण्ड का भेद है। बाह्य दीक्षा में पूजा, होम, सन्ध्या, जप, तर्पण आदि का विधान होता है। लोग इसे वैदिक दीक्षा कहते हैं। जिस दीक्षा में कर्मकाण्ड जुड़ जाते हैं वह बाह्य दीक्षा है और जिस दीक्षा में केवल मानसिक आराधना होती है वह आन्तरिक दीक्षा है। तन्त्र शास्त्र और योग में आन्तरिक दीक्षा ही अधिक प्रचलित है। विधि है कि आँखों को बंद करके, ध्यान लगाकर, माला के साथ जप कीजिये। अन्य बाह्य आवश्यकता नहीं है।

तन्त्र शास्त्र में इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन मिलता है। 'विश्वसार तन्त्र' में चार प्रकार की दीक्षा की चर्चा की गई है : १. **क्रियावती दीक्षा,** २. **कलावती दीक्षा,** ३. **वर्णमयी दीक्षा** और ४. **वेधमयी दीक्षा**। क्रियावती दीक्षा में बाह्य पूजा के द्वारा शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक शुद्धि प्राप्त की जाती है। कलावती दीक्षा का सम्बन्ध पाँच प्रकार की कलाओं या प्रतिभाओं की जागृति से है। ये कलाएँ हैं : निवृत्ति कला, प्रतिष्ठा कला, विद्या कला, शान्ति कला और शांत्यातीत कला। निवृत्ति कला का अर्थ है प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग की ओर चलना। प्रतिष्ठा कला का तात्पर्य स्वयं को एक मनोभाव में प्रतिष्ठित कर देने से है। विद्याकला का अर्थ ज्ञानार्जन से है। शान्तिकला का अर्थ स्वयं में शान्ति और संतोष का अनुभव करना है और जो शान्ति साधक को अनुभव हो रही है उसे दूसरों को प्रदान करना शांत्यातीत कला है। इनसे सम्बन्धित विधियों की शिक्षा गुरु द्वारा शिष्य को कलावती दीक्षा के समय दी जाती है। वर्णमयी दीक्षा में मन्त्र के द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों का अभिषेक किया जाता है; वर्ण, शब्द, वर्ण-समूह या मन्त्र के द्वारा शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक शुद्धि प्राप्त की जाती है। वेधमयी दीक्षा एक प्रकार की शक्तिपात दीक्षा है। इसमें गुरु की मानसिक शक्ति के द्वारा शिष्य को मानसिक दीक्षा मिलती है, गुरु के मनःशक्ति से शिष्य के मन का बंधन होता है।

कुलार्णव तन्त्र में सात प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन किया गया है। वे हैं : १. **क्रियादीक्षा,** २. **वर्णदीक्षा,** ३. **कलादीक्षा,** ४. **स्पर्शदीक्षा,** ५. **वाक्‌दीक्षा,** ६. **दिग्दीक्षा** और ७. **मानसदीक्षा**।

रूद्रयामल तन्त्र में १. **आणवी**, २. **शक्ति** और ३. **मानसदीक्षा** की चर्चा की गई है।

प्रमुख दीक्षाएँ

दीक्षा के विभिन्न वर्गीकरणों के आधार पर प्रमुख दीक्षाएँ हैं : १. **स्पर्शदीक्षा,** २. **दृग्दीक्षा,** ३. **मानसदीक्षा,** ४. **अनुष्ठान दीक्षा,** ५. **वर्णमयी दीक्षा,** ६. **कलादीक्षा**, ७. **आणवी दीक्षा,** ८. **शक्तिदीक्षा,** ९. **शाम्भवीदीक्षा** और १०. **अभिषेक दीक्षा** ।

स्पर्शदीक्षा में गुरु के स्पर्शमात्र से ही शिष्य को तुरीयावस्था का बोध हो जाता है ।

एक पक्षी अपने बच्चों को अपने पंखों के नीचे रखकर शरीर के स्पर्श द्वारा गर्मी प्रदान करता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में स्पर्श के द्वारा शक्ति का स्थानान्तरण होता है। स्वामी विवेकानन्द इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। एक बार उन्होंने रामकृष्ण परमहंस से प्रश्न पूछा "क्या आपने ईश्वर को देखा है ? क्या आप मुझे ईश्वर दिखा सकते हैं ?" रामकृष्ण परमहंस ने उनके सिर का स्पर्श किया और स्वामी विवेकानन्द को तत्काल आत्मानुभूति हुई ।

दृग्दीक्षा में दृष्टि द्वारा आध्यात्मिक शक्ति का स्थानान्तरण होता है । रमण महर्षि इसके उदाहरण हैं। वे शिष्य की आँखों में दृष्टिपात करते और एक मन्त्र जपने की सलाह देते थे। इस प्रकार आँखों में देखकर शक्ति के स्थानान्तरण को दृग्दीक्षा कहते हैं ।

मानसदीक्षा का दूसरा नाम है शक्तिपात। इस दीक्षा में शिष्य, गुरु के आग्रह को मानसिक, भावनात्मक और विचारात्मक रूप से ग्रहण करता है। अनुग्रह-शक्ति शिष्य की चेतना की विभिन्न अवस्थाओं को जागृत कर देती है ।

अनुष्ठानदीक्षा पशु प्रवृत्ति वाले शिष्य और साधक के लिये विहित की गई है । इसका दूसरा नाम वैदिकी दीक्षा है । यह तान्त्रिक दीक्षा के पूर्व आवश्यक मानी गई है । इसमें गुरु शिष्य को एक साधना बताते हैं जिसे वह एक निश्चित अवधि तक नियमित और क्रमबद्ध रूप से करता है । इस दीक्षा में अनुशासन प्रधान है ताकि पशु साधक अपनी चंचलता को नियन्त्रण में रख सात्विक भाव को जागृत कर सके । सात्विक भाव की जागृति पर तान्त्रिक दीक्षा दी जाती है। अनुष्ठान दीक्षा अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति को समझाने तथा उसके पार जाने के लिये आवश्यक मानी जाती है ।

वर्णमयी दीक्षा से पाश के बन्धन नष्ट होते हैं। संस्कृत वर्णमाला के पचास अक्षरों का मन्त्र रूप में जप करने से साधक पाश या माया के बन्धन से मुक्त होता है। इन मन्त्रों से प्राणशक्ति जागृत होती है ।

कालदीक्षा के द्वारा निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यातीत अवस्थाओं को जागृत किया जाता है। इस दीक्षा का वास्तविक स्वरूप बिन्दु, नाद और कला स्थितियाँ हैं। नाद और बिन्दु एक हैं; जहाँ बिन्दु है वहाँ नाद है, जहाँ नाद है वहाँ बिन्दु है । कला, सृजन-परिणाम या अभिव्यक्ति है। कलादीक्षा के द्वारा साधक सृष्टि में शिव तत्त्व का अनुभव करते-करते नाद और बिन्दु तक पहुँचता है । यह विधि गुरु ही बतलाते हैं ।

आणवी दीक्षा में मन्त्र का प्रयोग होता है। गुरु-निर्देश से मन्त्र-साधना द्वारा शिष्य पूर्णता प्राप्त करता है।

शक्तिदीक्षा के कई रूप होते हैं। यह लेखनी द्वारा, स्वप्न द्वारा या सहज वार्तालाप के द्वारा भी प्राप्त हो सकती है।

शाम्भवीदीक्षा सर्वोच्च दीक्षा है। शाम्भवी दीक्षा से सहज समाधि प्राप्त होती है।

अभिषेकदीक्षा अन्तिम है। अभिषेक का तात्पर्य स्थापित करने या होने से है। यह दीक्षा वैदिक और तान्त्रिक पद्धतियों का समन्वित रूप है। इस अभिषेक में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है। ये तत्त्व साक्षी बनते हैं। मन्त्रों द्वारा तत्त्वों को साक्षी बनाकर साधक को अभिषिक्त किया जाता है।

★ ★ ★

साधना पद्धतियाँ

आध्यात्मिक क्षेत्र में सामान्यतः १. **वैदिक,** २. **यौगिक** और ३. **तान्त्रिक** साधना पद्धतियों की चर्चा है ।

वैदिक साधना पद्धति

वैदिक साधना पद्धति में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं करना पड़ता है । अपने निकटस्थ परिसर में, शुद्ध वातावरण और परिस्थितियाँ तैयार की जाती हैं जो साधक की प्रगति में सहायक होती हैं । यम-नियम के आचरण द्वारा शारीरिक-मानसिक शुद्धि की अवस्था प्राप्त कर व्यक्तित्व परिवर्तन की स्थिति प्राप्त की जाती है । वैदिक साधनाएँ सहज हैं । इन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है : १. **कर्म,** २. **उपासना** और ३. **ज्ञान,** जिन्हें कर्मकाण्ड, उपासनाकांड और ज्ञानकाण्ड के नाम से भी जानते हैं ।

कर्मकाण्ड में एक बाह्य पद्धति या क्रिया को अपनाकर स्वयं को शुद्ध और अन्तर्मुखी करने का प्रयास किया जाता है । उपासनाकाण्ड में एक आन्तरिक विधि को अपनाकर स्वयं को विकसित करने का प्रयत्न होता है । ज्ञानकाण्ड में एक बौद्धिक मार्ग को अपनाकर बौद्धिक परिवर्तन के द्वारा आत्मशुद्धि प्राप्त करने का प्रयास होता है ।

यौगिक साधना पद्धति

यौगिक साधना पद्धति, वैदिक और तान्त्रिक साधना पद्धतियों के मध्य में आती है, जिसमें शारीरिक और मानसिक श्रम तथा अनुशासन के द्वारा शुद्धि की स्थिति प्राप्त कर चेतना का विस्तार होता है । योग के अन्तर्गत चार प्रकार की साधना पद्धतियों को मान्यता प्राप्त हुई है। वे हैं : १. **बौद्धिक प्रक्रिया,** २. **भावनात्मक पद्धति,** ३. **शारीरिक प्रक्रिया** और ४. **ध्यान** ।

बौद्धिक प्रक्रिया ज्ञानयोग से पूर्ण होती है । यह बौद्धिक प्रक्रिया वेदोक्त ज्ञानकाण्ड के समान है । इसका मुख्य प्रयोजन है स्वाध्याय या स्वयं का अध्ययन । यह ग्रन्थों का अध्ययन नहीं है । स्वयं का अध्ययन है ।

भावनात्मक पद्धति के अन्तर्गत भक्तिमार्ग के द्वारा साधक अपने चित्त एवं मन को निर्मल कर सात्विक गुण उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं और सात्विकता को प्राप्त करने के पश्चात् आत्मसमर्पण की स्थिति की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते हैं ।

शारीरिक प्रक्रिया एक सामान्य कर्म का या एक शारीरिक पद्धति, जैसे आसन का रूप भी ले सकती है। इसका प्रयोजन शरीर को क्रियाओं के द्वारा शुद्ध बनाना होता है।

चौथा मार्ग है–ध्यान का या आत्मविश्लेषण का। योग शास्त्र में इनके अतिरिक्त अन्य पद्धतियों का भी वर्णन किया गया है।

तान्त्रिक साधनाएँ

तान्त्रिक साधनाओं द्वारा व्यक्तित्व की चार प्रबल अवस्थाओं को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया जाता है। चार विकारों के कारण साधक या मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सन्तुलन खो बैठता है। ये विकार हैं : आहार, निद्रा, भय और मैथुन। तन्त्र की मान्यता है कि मनुष्य कितनी ही साधना या कितना ही प्रयास क्यों न करे यदि ये चार प्रवृत्तियाँ उसके अन्दर में विद्यमान रहती हैं, उनका निराकरण नहीं हो पाता है, तो उसका पतन होता है। तन्त्र शास्त्र में इन प्रवृत्तियों को अनुशासित करने के लिये प्रयत्न किया जाता है। तन्त्र की समस्त साधनाओं का एक ही उद्देश्य है मन को वृत्तिरहित बनाना तथा सभी प्रवृत्तियों तथा उपप्रवृत्तियों को ठीक तरीके से, सही प्रकाश में समझने का प्रयास करना और उनका निदान करना। जब तक इन वृत्तियों, उपवृत्तियों या प्रवृत्तियों का निदान नहीं होता, चेतना का क्रमिक विकास और सभी प्रकार की आन्तरिक या आध्यात्मिक उपलब्धियाँ असम्भव हैं।

मन्त्रयोग

तन्त्र में योग विधि के रूप में अष्टांग योग के अतिरिक्त मन्त्रयोग पर भी बल दिया गया है। मन्त्रयोग के अभ्यास द्वारा मन की सीमा का विस्तार कर मनःशक्ति को स्वतन्त्र किया जाता है। मनःशक्ति की स्वतन्त्रता में चेतना में भूत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञान समान रूप से प्रज्वलित हो उठते हैं।

लययोग

तन्त्र में लययोग की चर्चा होती है। इसका तात्पर्य अपने भीतर की विभिन्न अवस्थाओं–जागृत, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय में सजगता बनाये रखना और विभिन्न मानसिक अवस्थाओं को एक-दूसरे में विलीन कर देना है। लययोग की अन्तिम परिणति मोक्षावस्था या आत्मनिवेदन की अवस्था में होती है।

कुण्डलिनी योग

कुण्डलिनी योग के द्वारा चेतना की विभिन्न अवस्थाओं या स्तरों को जागृत करते हुए साधक पूर्णता का अनुभव कर सकता है ।

संयम

संयम का तात्पर्य अनुशासन, नियन्त्रण या प्रतिबन्ध से नहीं, वरन् प्रत्याहार, धारणा और ध्यान की अवस्थाओं का समावेश है । इसका अर्थ है कि साधक को प्रति क्षण तथा प्रत्येक अवस्था में पूर्णरूपेण सजग, जागरूक और केन्द्रित रहना चाहिये । प्रत्येक अवस्था में उस अवस्था या कर्म के स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों का ख्याल समान रूप से रहना चाहिये । इसी हेतु प्रत्याहार, धारणा और ध्यान की चर्चा की गई है ।

★ ★ ★

एकादश अध्याय

गुप्त साधनाएँ

तन्त्र शास्त्र की गुप्त साधनाओं में प्रमुख १. **क्रियायोग,** २. **शवसाधना,** ३. **पंचतत्त्व** या पंचमकार साधना, ४. **कुमारी पूजा,** ५. **काया सिद्धि,** ६. **पंचोपासना,** ७. **शक्तिसाधना,** ८. **षोड़शोपचार पूजा,** ९. **पंचाग्नि साधना** और १०. **चक्र-पूजा** हैं।

क्रिया योग

क्रियायोग एक गुप्त साधना है जिसमें सभी प्रकार के योगों का समावेश होता है। इसकी दीक्षा गुरु अपने शिष्य को, शिष्य की अवस्था और प्राप्ति के स्तर को देखकर प्रदान करते हैं। जब साधक मन की चार मूल प्रवृत्तियों का सामना करते हुए मनःस्थिति की सीमा तक पहुँच जाता है तब अन्य गुप्त साधनाओं का प्रारम्भ होता है।

शवसाधना

शवसाधना एवं इसी प्रकार की अन्य साधनाओं के विषय में समाज में अनेक प्रकार के विचार हो सकते हैं। वे सोच सकते हैं कि ये साधनाएँ बुरी या निकृष्ट हैं लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिये। यह बात याद रहे कि जब तक साधक एक भयानक परिस्थिति का सामना नहीं करता, जब तक उसे एक धक्का या झटका नहीं लगता तब तक उसमें आन्तरिक परिवर्तन सम्भव नहीं है। आन्तरिक परिवर्तन लाने के लिये तन्त्र शास्त्र की साधनाओं में परस्पर विरोधात्मक तत्त्वों को शामिल किया गया है।

शवसाधना के अनेक तरीके होते हैं। उनमें एक तरीका है शव पर बैठकर मन्त्र जप साधना करना। तन्त्र शास्त्र के अनुसार साधक शव साधना के द्वारा एक दिन में सिद्धि या पूर्णता को प्राप्त कर सकता है, लेकिन यह साधना आसान नहीं है। अमावस्या-रात्रि के सन्नाटे में श्मशान में साधक जाकर शव को लिटाता है और उसपर बैठकर मन्त्र का जप या गुरु-प्रदत्त कोई अन्य साधना करता है। कभी भ्रम से तो कभी साधना के प्रभाव से शव हिलने लगता है, कभी भुजंगासन करने लगता है। सामान्य साधक इस स्थिति में बहादुर बनकर टिक नहीं सकता। पशु भाव वाले साधक यह साधना नहीं कर सकते; ऐसी साधना केवल वीर और दिव्य भाव से युक्त साधक ही कर सकते हैं।

पंचतत्त्व या पंचमकार साधना

तन्त्र शास्त्र की पंचमकार साधना की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। कुछ लोगों के मतानुसार एक तान्त्रिक को अपनी साधना में मांस, मत्स्य, मद्य, मुद्रा और मैथुन का प्रयोग करना चाहिये। कुछ साधक इसे प्रतीकात्मक रूप में लेते हैं। तन्त्र शास्त्र में प्रयुक्त ये पाँच तत्त्व एक साधना-विधि का निर्देश देते हैं। जब वह साधना-विधि समझ में आ जाती है तब उसका शाब्दिक अर्थ कुछ भी हो, अन्तर नहीं पड़ता है। दक्षिणाचार, कौलाचार और वामाचार मार्गों में पंचमकार का प्रयोग किया जाता है। वेदाचार, सिद्धान्ताचार एवं योगाचार मार्गों में पंचमकार का प्रयोग नहीं होता है। अनेक चिन्तकों का मत है कि वामाचार में इनका सामान्य शाब्दिक अर्थ होता है तथा मांस, मत्स्य, मद्य, मुद्रा और मैथुन का यथार्थतः प्रयोग होता है। कुछ लोगों का मत है कि दक्षिणाचार में इन्हें प्रतीकात्मक अर्थ में अपनाया जाता है। कुछ अन्य लोगों के मतानुसार कौलाचार में केवल दिव्य साधक ही इसका पालन कर सकते हैं। सामान्यतः तान्त्रिक सिद्धान्तों या तन्त्र-व्याख्या में मांस, मत्स्य, मद्य, मुद्रा और मैथुन को सीमित अर्थ में ही लिया गया है। तन्त्र शास्त्र कहता है :

"मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च; ।
पुनः पुनः साधयित्वातान् पूर्ण योगी वभूव सः ॥"

ये पाँच मार्ग हैं, जो मनुष्य इन मार्गों में सिद्धि प्राप्त करता है, वह उत्तम प्रकार का मनुष्य होता है।

मद्य

रुद्रयामल तन्त्र और कुलार्णव तन्त्र में कहा गया है कि मद्य या मदिरा मनुष्य के शरीर के भीतर ही उत्पन्न होता है, यथा-

"सोमधारः क्षरेद् यस्तु ब्रह्मरन्ध्रात् वरानने।
पिबन्त्यानन्दमयीं तां य स एव मद्यसाधकः" ॥

वह सोम की धारा ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित होती है और उसे पीने से आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सोमधारा को पीने वाला ही मद्यसाधक कहलाता है। मदिरा की यह परिभाषा योग में ब्रह्मरन्ध्र क्षेत्र के बिन्दु विसर्ग से उत्पन्न होने वाले अमृत से सम्बन्ध रखती है। बिन्दु विसर्ग के क्षेत्र में एक विशेष प्रकार का स्राव (हार्मोन) उत्पन्न होता है। यदि उसको सही रूप में ग्रहण किया जाय, तो वह शरीर को अमरत्व प्रदान करता है। सामान्यतः इस अमृत को मनुष्य ग्रहण नहीं कर पाते हैं। योग ग्रन्थों में बतलाया जाता है कि यह अमृतधारा बिन्दु विसर्ग से मणिपुर में गिरती है। मणिपुर का सूर्य उस अमृत बिन्दु या स्राव को जलाकर भस्म कर देता है। इसी कारण मनुष्य को जरा, व्याधि और मृत्यु की प्राप्ति होती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि के पश्चात इस अमृत धार को विशुद्धि चक्र में धारण किया जाता है, तब शरीर अमरत्व को प्राप्त करता

है। दक्षिणमार्ग में इसी अमृत पान को मदिरा पान की संज्ञा दी गई है। इस अमृत पान से सामान्य मदिरा पान की तुलना में लाखों गुणा अधिक नशा आता है। यही तन्त्र का मद्य सिद्धान्त है।

कौल सिद्धान्त में पंचमकार साधना केवल दिव्यभाव वाले साधक के लिये विहित की गई है। पशुभाव वाले साधक किसी भी हालत में यह साधना नहीं कर सकते; यदि करेंगे तो न इस घाट के रहेंगे न उस घाट के। वीरभाव वालों को शाब्दिक अर्थ में मदिरा ग्रहण करना या प्रतिकात्मक रूप में इसका अभ्यास करना, दोनों वर्जित है। जब तक मन पर संयम नहीं होता, एक अवस्था तक मन का निरोध नहीं होता, तब उच्च चेतना से नीचे गिरने की संभावना बनी रहती है। केवल दिव्य साधक को ही निर्देश दिया गया है कि वह वास्तव में सुरापान करे, योगाभ्यास करे तथा ध्यान में प्रवेश कर आन्तरिक अमृत का पान करे। इस प्रकार कौलाचार में वास्तविक रूप से मद्य पीने और पीने के पश्चात् साधना करने की प्रथा है। लेकिन वीरभाव वाले व्यक्तियों को अपवाद स्वरूप एक छूट दी गई है; उन्हें न तो वास्तविक रूप में और न प्रतीकात्मक रूप में ही मद्य दिया जाता है। वीर भाव वालों से कहा जाता है कि वे दूध या डाभ (हरे नारियल का पानी) पीकर अपनी साधना कर सकते हैं। यहाँ जो बन्धन का एक तत्त्व रहता है उसे हटाकर कहा गया है कि तुम दूध या नारियल का पानी पीओ और भावना करो कि यह मदिरा है। उसे अर्चना और पूजा के भाव से पीओ और पीने के पश्चात् अपनी साधना करो।

पंचमकार साधना करने के पूर्व वाममार्गी साधक को तत्त्वशुद्धि का अभ्यास करना आवश्यक है। तत्त्वशुद्धि के अभ्यास द्वारा आन्तरिक मल को निष्कासित कर तत्त्वों को शुद्ध या निर्मल किया जाता है। जब गुरु आश्वस्त हो जाते हैं कि शिष्य को तत्त्वशुद्धि में सफलता प्राप्त हो गई है, तब विभिन्न प्रकार के मद्य के प्रयोग का निर्देश देते हैं।

कुलार्णव तन्त्र में ग्यारह प्रकार के मद्य के उल्लेख मिलते हैं। ये मद्य फूलों, फलों तथा कन्द-मूलों से बनते हैं तथा उन्हें पीने से नशा भी नहीं आता है। आजकल लोग मदिरा का अर्थ शराब या अल्कोहल से लगाते हैं। पुरातन काल में फूलों के रस से सुरा तैयार की जाती थी तथा उस मदिरा को घड़े में रखकर जमीन के नीचे भिन्न-भिन्न अवधि–तीन दिन, नौ दिन या ग्यारह दिन के लिये रख दिया जाता था। वह थोड़ा किण्वित (फरमेंटेड) अवश्य हो जाता था और उसे पान करने से हल्का नशा भी आता था, किन्तु शरीर के लिये हानिकारक नहीं होता था। ऐसे द्रव्यों को औषधि भी कहते हैं। अल्कोहल या शराब के सेवन से यकृत खराब होता है, अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा शरीर को क्षति पहुँचती है। फूलों, फलों औषधियों तथा कन्द-मूलों से बनी सुरा शरीर के लिये लाभदायक होती थी। कुलार्णव तन्त्र में कहा गया है कि उपरोक्त ग्यारह प्रकार के मद्यों में फूलों से बने मद्य प्रायः सिद्धि प्रदान करते हैं। फलों से बनी हुई मदिरा भोग प्रदायिनी और मुक्ति प्रदायिनी होती है। कन्द-मूल से बने

हुए मद्य आनन्द प्रदान करते हैं। इन मदिराओं का पान करने से किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। जब सही प्रकार से मदिरा का पान किया जाता है, तो सभी प्रकार के पापों से मुक्ति मिल जाती है। अतः मद्य या मदिरा, शराब या अल्कोहल नहीं है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार इसका अभिप्रायः फूल, फल और कन्द-मूल के रसों से है।

मांस

दक्षिणमार्गी तन्त्र में मांस के विषय में कहा जाता है कि

"मशब्दात् रसना ज्ञेया तदंगसं रसना प्रिये।
सदा य भक्षयेत् देवि स एव मांस साधकः।"

'म' शब्द से जिह्वा का बोध होता है। उस जिह्वा रूपी पक्षी का रस जो साधक भक्षण करता है, हे देवी! वही मांससाधक है। दक्षिणमार्ग में मद्य और मांस का अर्थ खेचरी मुद्रा और मौनव्रत से है। जगत-प्रपंच से वाक्निवृत व्यक्ति मांस साधक कहलाता है, अर्थात् जो वाणी और अभिव्यक्ति को नियन्त्रित कर संसार और सांसारिकता से ऊपर उठ सकते हैं, वे मांस साधक हैं। यह स्वयं में एक बहुत गुह्य प्रक्रिया है। मौन का अभ्यास करने से मन बहुत चंचल हो उठता है और भावना की अभिव्यक्ति अति प्रबल हो जाती है। काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष और राग के भाव उग्र रूप से प्रकट होते हैं। वाणी मनःअनुभूति को अभिव्यक्त करने का मुख्य साधन है। जब वाणी पर साधक का नियन्त्रण हो जाय तब समझना चाहिये कि बाह्य जगत में प्रकट होने वाली सभी प्रतिक्रियाओं पर साधक का नियन्त्रण हो गया है।

कौलमार्ग के अनुसार मांस का यथार्थ रूप में ग्रहण कर कर्म-फल का त्याग करने वाला मांस साधक कहलाता है। तन्त्र शास्त्र में तीन प्रकार के प्राणियों के मांस की चर्चा होती है। वे हैं–१. जलचर, २. थलचर और ३. नभचर। कौलमार्ग में जलचर प्राणियों का मांस विहित है, क्योंकि उनमें लाल रक्तकण नहीं होते। साधक से कहा जाता है कि वह जलचर प्राणी का मांस खाकर साधना करे। तन्त्र में प्रबल मान्यता है कि अपने स्वार्थ के लिये किसी प्राणी की हत्या करना गलत है। गुरु निर्देश में साधनात्मक उद्देश्य से जलचर प्राणियों के मांस का भक्षण करना पाप नहीं है; इससे सभी प्रकार के पाप नष्ट होते हैं। कर्मफल का त्याग करना मांस साधक का प्रमुख लक्षण है। इनके अलावा कौलमार्ग में वीर साधक के लिये मांस रूप में तीन चीजों का प्रयोग होता है। वे हैं अदरख, नमक और लहसुन। कहा जाता है कि इन तीनों का भक्षण करते हुए सोचो कि मैं मांस का भक्षण कर रहा हूँ। इन्हें मांस के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

वामाचार में मांस-भक्षण मान्य है; लेकिन उसमें भी जलचर या नभचर प्राणियों का मांस ही ग्रहण किया जाता है। थलचर प्राणियों का मांस ग्रहण करना वर्जित है। मांस खाने के पश्चात् साधना का निर्देश दिया जाता है।

मत्स्य

दक्षिणमार्ग में कहा गया है–

"गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौद्वौ चरतः सदा ।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु स भवेत् मत्स्य साधकः ।"

अर्थात् गंगा और यमुना के बीच दो मछलियाँ सदैव विचरण करती रहती हैं। उन दोनों मछलियों का भक्षण करनेवाला मत्स्य साधक कहलाता है। यहाँ गंगा, यमुना और दो मछलियों का अभिप्राय स्पष्ट है। गंगा और यमुना क्रमशः इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ हैं तथा दो तैरती हुई मछलियाँ हैं–श्वास और प्रश्वास या पूरक एवं रेचक। पूरक एवं रेचक पर नियन्त्रण प्राप्त करने का अर्थ है–प्राणायाम को सिद्ध करना। दक्षिणमार्गी तन्त्र में श्वास नियन्त्रण और प्राणायाम की सिद्धि मत्स्य साधक की साधना है। श्वासनियन्त्रण का तात्पर्य श्वास लेने की क्षमता या श्वास की संख्या को धीरे-धीरे कम करने से है और प्राणायाम का अर्थ होता है, प्राणों का विस्तार करना या प्राणों को जागृत करना।

कौलमार्ग में मत्स्य का अर्थ होता है सात्विक ज्ञान। सांसारिक भोग विषयों के प्रति इन्द्रियों की आसक्ति की समाप्ति की अवस्था में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे सात्विक ज्ञान कहते हैं। इस मार्ग के अनुसार इन्द्रियों को नियन्त्रित कर उन्हें आत्मा से जोड़ने वाला मत्स्याशी या मत्स्य साधक कहलाता है। यदि इन्द्रिय और आत्मा के दृष्टिकोण से विचार करें, तो यहाँ प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की स्थितियाँ दिखलाई देती हैं। साधक को इन्द्रियों को धीरे-धीरे बाह्य विषयों से हटाकर अंतर्जगत में ले जाना है। दक्षिणमार्ग और कौलमार्ग दोनों का यही मत है। कौलमार्ग में वीरभाव वाले साधक के लिये कहा गया है कि वह मसूर की दाल को मछली मान कर ग्रहण करे।

वामाचार में मत्स्य-भक्षण होता है; किन्तु पेट भरने या आत्मसन्तुष्टि के लिये नहीं। एक टुकड़ा मुँह में डालकर स्वाद, रस और भाव को सजगतापूर्वक देखा जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे आन्तरिक विकारों को नष्ट किया जाता है। वाममार्ग में कहा गया है कि मत्स्य साधना से अन्ततः समस्त कष्ट नष्ट हो जाते हैं और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट दिखलाई देने लगता है।

मुद्रा

दक्षिणमार्ग में मुद्रा के बारे में कहा गया है–

"सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुदिता चरेत् ।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक स उच्यते ।"

महाकमल (सहस्रदल कमल) सहस्रार में निहित कमल-बीज तक जो पहुँच सके तथा वहाँ पर जिसके ज्ञान का उदय हो, उसे ही मुद्रासाधक कहा जाता है। अर्थात् सहस्रार चक्र में स्थित महापद्म के मध्य में आत्मतत्त्व की स्थिति होती है। जो व्यक्ति उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करता है, मुद्रासाधक कहलाता है। यहाँ दो विचारधाराएँ दिखलाई दे रही हैं। एक का सम्बन्ध मुद्राओं

से हैं जिनका उपयोग साधक पूजा या साधना के समय करते हैं। इनके अतिरिक्त आत्मज्ञान की पद्धति को भी मुद्रा कहा जाता है। कहा गया है कि :

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुदिता चरेत्
आत्मतत्त्वैव देवैश्रीः केवलम् पारदोपवम्।
सूर्यकोटि प्रतीकासम चन्द्रकोटि सुशीलतम्,
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक स उच्यते ।।

इस सम्बन्ध में अनेक मन्त्र हैं लेकिन यहाँ केवल दो मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। इनमें ध्यान और समाधि के अनुभव की चर्चा की गई है तथा इस अनुभव को मुद्रा के नाम से सम्बोधित किया गया है।

योगशास्त्र एवं अन्य संहिताओं के अनुसार साधक मुद्राओं के अभ्यास के द्वारा अपनी कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर सकता है। घेरण्ड संहिता में भी विभिन्न प्रकार की मुद्राओं के अभ्यास तथा उनके परिणामों का उल्लेख किया गया है। तन्त्र शास्त्र तथा योग शास्त्र में जितनी भी मुद्राओं का उल्लेख किया गया है उनका उद्देश्य कुण्डलिनी का जागरण और चेतना का उत्थान ही है। यदि अपने अभ्यास, ध्यान, आराधना और उपासना में व्यावहारिक रूप से मुद्रा का उपयोग करते हैं तो लक्ष्य वही रहता है।

कौलमार्ग में मुद्रा का अर्थ है, आन्तरिक विकारों का त्याग। कौलमार्ग कहता है कि यदि केवल परमात्मा में चित्त को एकाग्र किया जाय तो वह भी मुद्रा है, तथा परमात्मा के अतिरिक्त यदि किसी अन्य केन्द्र में अपने चित्त को लगाया जाय तो वह योग है; मुद्रा नहीं। कौलमार्ग में आन्तरिक भाव का नाम मुद्रा है, जिसमें साधक अपने चित्त को पूर्णतः परमात्मा में केन्द्रित कर देता है। वीरभाव वाले साधक के लिये कहा गया है कि मुद्रा के रूप में वे चावल, गेहूँ, जौ जैसे अन्न को ग्रहण करें। इस प्रकार के अन्न को सजगतापूर्वक ग्रहण करने से यदि सात्विकता का भाव जागृत होता है और शारीरिक शुद्धि की स्थिति प्राप्त होती है तो वह मुद्रा की स्थिति है, एकचित्त अवस्था है।

वाममार्ग में जिन मुद्राओं का वर्णन किया गया है वे मुख्यतः योगमुद्राएँ हैं, जैसे खेचरी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, पाशिनी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा, सहजोली मुद्रा इत्यादि। इन मुद्राओं के अभ्यास के द्वारा अपने चित्त को शान्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

मैथुन

यह पंचमकार में अन्तिम साधना है। सामान्यतः स्त्री-पुरुष संसर्ग को ही लोग मैथुन के नाम से जानते हैं। एक विचारधारा के आधार पर यह व्याख्या ठीक है। लेकिन तन्त्र शास्त्र में कहा गया है कि जब सृष्टि और प्रलय के बारे में चिन्तन हो, तब वह मैथुन की अवस्था है। जब शिव और शक्ति का योग, अथवा कुण्डलिनी शक्ति की जागृति का अनुभव, सहस्रार

में होता है, तब वह मैथुन की स्थिति है। तन्त्र में कहा गया है कि स्त्री-पुरुष संसर्ग की अवस्था मैथुन नहीं वह स्त्री-निशेवक या पुरुष-निशेवक की अवस्था है। जब भोग और अपनी शक्ति के ह्रास के लिये कोई पुरुष स्त्री के पास जाता है, तब वह स्त्री-निशेवक कहलाता है और जब कोई स्त्री भोग के लिये किसी पुरुष के पास जाती है तब वह पुरुष-निशेविका कहलाती है।

तन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "शक्तिसंभोगमात्रेण यदि मोक्षोभवेत्वै, सर्वेति जन्तवो लोके मुक्ता शिवोस्त्रियनिशेवनात्।"

अर्थात् यदि मात्र स्त्री-पुरुष के संसर्ग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती, तो संसार के सभी जीव-जन्तु संसर्ग के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करते।

मैथुन के विषय में कहा जाता है–

"मैथुनं परम तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्,
मैथुनाज्जायते सिद्धिः ब्रह्मज्ञानंसुदुर्लभम्।"

सृष्टि और स्थिति का परम तत्त्व से मिलन या योग मैथुन है। इस योग से दुर्लभ ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। इस संदर्भ में मैथुन का समाधि जैसा एक रूप है। उस अवस्था में साधक ईश्वर-रूप के साथ स्वयं को एकाकार कर देता है।

दक्षिणमार्गी तन्त्र में मैथुन का तात्पर्य आत्मा और परमात्मा के मिलन से है। इसकी पूर्णाहुति कुण्डलिनी योग की साधना के क्रम में तब होती है, जब शक्तितत्त्व और शिवतत्त्व में तादात्म्य स्थापित होता है। सामान्यतः मिथुन शब्द का अर्थ होता है जोड़ा। जब जीव और परमात्मा, शक्ति और शिव या प्रकृति और पुरुष के बीच भेद या द्वैत समाप्त हो जाता है, तब वह अवस्था मैथुन कहलाती है। दोनों का एक-दूसरे से योग होना, या दोनों का एक दूसरे से मिल जाना मैथुन है। साधक को जब देह-ज्ञान, इन्द्रिय-ज्ञान और अन्तःकरण द्वारा प्राप्त ज्ञान का आभास नहीं रहता, तब समाधि, लय, योग या मैथुन की स्थिति प्राप्ति होती है।

कौलमार्ग में मैथुन शब्द का प्रयोग भक्तिमार्ग, आत्मनिवेदन या समर्पण के रूप में किया जाता है। इष्ट की प्राप्ति तथा तादात्म्य की स्थापना मैथुन है।

यदि व्यक्ति प्रेमी के प्रति अपने भाव में आनन्द की प्राप्ति करे तो वह मैथुन है। पति, पत्नी, बच्चे, गुरु और ईश्वर–प्रेमी कोई भी हो सकते हैं। महत्त्वपूर्ण है प्रेमी के प्रति साधक का भाव। शिव और शक्ति के संयोग से आत्मा के क्षेत्र में होनेवाली आनन्दानुभूति, शारीरिक सम्पर्क से होनेवाले आनन्द की अनभूति से करोड़ों गुणा अधिक होती है। यह भाव समाधि की स्थिति है, जिसमें साधक को देहाध्यास नहीं रहता।

वाममार्ग में कहा गया है कि जिस समय साधक का संभोग होता है, उस समय प्राप्त आनन्द के अनुभव को ठीक भाव से देखो, समझो। संभोग के समय वीर्य-त्याग या स्खलन नहीं होना चाहिये। बिन्दु को अपने भीतर ही धारण करना है। जब तक साधक बिन्दु को अपने भीतर धारण किये रहता है, तब तक वह सिद्ध कहलाता है। इससे वासना पर नियन्त्रण की प्राप्ति

होती है । इससे साधक चार मूल प्रवृत्तियों–आहार, निद्रा, भय और मैथुन पर विजय प्राप्त करता है। वीर्य-स्खलन नहीं होने से उसके साथ जुड़ी हुई भावना, वासना और आसक्ति समाप्त हो जाती है। प्राणायाम के अभ्यास में मत्स्यभोजन के समय प्राणों की जागृति होती है या साधक निद्रा वृत्ति पर विजय प्राप्त करता है । मुद्रा और मांस भक्षण के समय साधक आहार-वृत्ति पर तथा मद्यपान के समय भयवृत्ति पर विजय प्राप्त करता है ।

कुलार्णव तन्त्र में, पंचमकार साधना को पंचमकार योग नाम दिया गया है । यह पंचमकार पूजा तान्त्रिक दैनिकचर्या का एक स्वाभाविक अंग हो जाती है। जिस प्रकार योगी साधक प्रतिदिन आसन, प्राणायाम, जप, प्रार्थना, ध्यान इत्यादि करते हैं, ठीक उसी प्रकार पंचमकार साधना भी दैनिकचर्या का एक अंग बन जाती है । बिना पंचमकार साधना के कोई भी साधक न तो मन्त्र का जप कर सकता है और न किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है ।

एक श्लोक है–

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेतवै
मद्यपानरताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामराः ।
मांसभक्षण मात्रेण यदि पुण्यगतिर्भवेत्,
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजोभवन्ति हि ॥

भावार्थ है कि यदि मद्यपान से ही सिद्धि मिलती तो संसार के सभी शराबी सिद्ध हो जाते। यदि मांस-भक्षण से पुण्य की प्राप्ति होती तो सभी मांसाहारी पुण्य के भागी हो जाते ।

तन्त्र शास्त्र में विधान है कि यदि कोई साधक मदिरा सूंघ ले तो उसे प्राणायाम के द्वारा स्वयं को शुद्ध करना चाहिये । इस हेतु प्राणायाम का अभ्यास करके फेफड़ों को विकाररहित करना चाहिये । एक तरफ जहाँ इतनी कठोरता दिखलाई देती है वहाँ दूसरी तरफ मद्य-सेवन की खुली छूट कदापि नहीं दी जा सकती । मद्यपान केवल परमात्मा के चिन्तन के सन्दर्भ में किया जा सकता है और मद्यपान का रूप है–मधुत्रय का पान । मधुत्रय का तात्पर्य 'दूध-चीनी-शहद' से है। जो दूध, चीनी और शहद मिलाकर पीता है वह मदिरा पीता है। ईश्वर को मदिरा के स्थान पर इस मधुत्रय मद्य का अर्पण होना चाहिये । साथ ही मैथुन के स्थान पर देवी के चरण कमल का ध्यान तथा इष्ट मन्त्र का जप होना चाहिये । देवता में स्वयं को विलीन कर देना मैथुन की स्थिति है। पंचमकार की सिद्धि से साधक ईश्वरमय और आनन्दमय हो जाता है, जो देशकालातीत अवस्था है ।

कुमारी पूजा

कुमारी पूजा वाममार्ग की एक साधना-विधि है। वामाचार और कौलाचार में कुमारी पूजा का वर्णन आता है । सामान्यतः कुमारी पूजा का तात्पर्य लोग किसी युवती की पूजा से लगाते

हैं, लेकिन इस पूजा के पीछे परम्परा और रहस्य है कि साधक को एक कन्या या युवती में मातृस्वरूप का दर्शन करना है तथा उस स्वरूप पर स्वयं को अर्पित कर देना है।

कुमारी पूजा साधना का प्रारम्भ त्रिपुर सुन्दरी से होता है। त्रिपुर सुन्दरी को बाला के रूप में भी देखा गया है। कुमारी पूजा के प्रसंग में विभिन्न भाव वाले साधकों के लिये अलग-अलग साधनात्मक निर्देश दिये गये हैं। पशुभाव वाले साधक के लिये कुमारी पूजा पूर्णतः वर्जित है, उनके लिये गुरु-पूजा, वन्दना, स्तोत्रपाठ और प्राणायाम के विधान हैं। इसका कारण है कि पशुभाव वाले साधक के भीतर कामवासना प्रबलता से प्रकट हो सकती है और वह आत्मनियन्त्रण खो सकता है। मनोनियन्त्रण न होने के कारण उसका मानसिक उत्थान के बदले मानसिक पतन ही होगा।

वीरभाव वाले साधक के लिये भी कुमारी पूजा वर्जित है। लेकिन वीरभाव वाले साधक के लिये योग-मार्ग के अन्तर्गत छः चक्रों का भेदन और भैरवी पूजा करना स्वीकार किया गया है। इन क्रियाओं का कुमारी पूजा जितना ही महत्त्व है। वीरभाव वाले व्यक्ति के लिये भी अपने पर नियन्त्रण रखना कठिन है।

कुमारी पूजा के अधिकारी दिव्यभाव वाले साधक ही हो सकते हैं, जिनके मन में किसी प्रकार का छल, कपट, राग और वासना न हो तथा जो दिव्य एवं सात्त्विक गुणों से परिपूर्ण हों, लेकिन दिव्यभाव वाले साधक के लिये भी कुमारी पूजा के पूर्व शक्ति पूजा करना आवश्यक है। शक्ति पूजा के समय एक कुमारी के शरीर में शक्ति का आह्वान किया जाता है और तदुपरान्त इससे सम्बन्धित स्तोत्र और पाठों का मनन किया जाता है।

पूजा किसी भी उम्र की कन्या की हो सकती है। कन्या की पूजा एक वर्ष की उम्र से प्रारम्भ हो सकती है तथा सोलह वर्ष की उम्र तक उसी कन्या की पूजा की जा सकती है। सामान्यतः आठ वर्ष की कुमारी की पूजा की प्रथा प्रचलित है। आठ वर्ष की कुमारी को कुब्जिका कहते हैं। हर आयु की कुमारी को अलग-अलग नाम दिये गये हैं। १. वर्ष–संध्या, २. वर्ष–सरस्वती, ३. वर्ष–त्रिमूर्ति स्वरूपा, ४. वर्ष–कालिका, ५. वर्ष–सूर्यजा, ६. वर्ष–रोहिणी, ७ वर्ष–मालिनी, ८ वर्ष–कुब्जिका। इनके बाद बारह वर्ष की कन्या का नाम भैरवी है। सोलह वर्ष की कन्या को षोडशी कहा जाता है। षोडशी त्रिपुर सुन्दरी के स्वरूप का नाम है।

कुमारी पूजा में आठ, बारह और सोलह वर्ष की कन्याओं का चयन किया जाता है तथा विहित विधि के अनुसार उनकी पूजा-आराधना होती है; अन्न, वस्त्र, रत्न और आभूषण प्रदान किये जाते हैं और उनमें मातृरूप को अवतरित होते हुए देखा जाता है। कुमारी पूजा के दौरान एक तान्त्रिक द्वारा अपने अन्दर में उत्पन्न किया गया यह भाव दिव्यभाव में बाल-स्वभाव है। एक तान्त्रिक साधक के लिये दिव्यभाव में बाल-स्वभाव का होना अति आवश्यक है, क्योंकि मनीषियों का कहना है कि पुण्य-प्राप्ति के लिये साधक को बालक की तरह निर्मल एवं सरल होना चाहिये; शुद्ध, पवित्र, निश्छल और निष्कपट होना चाहिये।

यहाँ प्रश्न उठता है कि इस पूजा में आत्मनिवेदन की स्थिति किस प्रकार आती है ? बाह्य पूजा का रूप तो दूसरा ही है। इस पूजा के क्रम में अपने मन में किसी प्रकार की काम-वासना को आने देना महापाप माना गया है। यदि काम-भावना आ जाय या शरीर का स्पर्श हो जाय तो वह व्यक्ति तान्त्रिक नहीं है। पूजा के समय कुमारी का सम्पूर्ण शरीर एवं गुप्तांग दृष्टिगोचर होते हैं एवं उन्हीं की पूजा होती है। गुप्तांगों को ही धूप-दीप दिखलाये जाते हैं एवं फल-फूल अर्पित किये जाते हैं। वस्तुतः आत्म-नियन्त्रण की स्थिति का अनुभव करने एवं स्वयं पर आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये इस प्रकार की पूजा का विधान है। इस प्रकार कौलमत में आत्मनिवेदन या देवी समर्पण को मैथुन की अवस्था कहा जाता है। साधक देवीभाव से कुमारी पूजा संपादित करता है।

त्रिपुर सुन्दरी को बाला के रूप में, एक कुमारी के रूप में देखा जाता है। यहाँ यह भाव रखना आवश्यक है कि मैं त्रिपुर सुन्दरी, जगत् जननी के समक्ष स्वयं को समर्पित कर रहा हूँ। यदि यह भाव न रहे तो साधना विफल हो जाती है। एक बालक निर्विकार भाव से अपनी माता का स्तनपान करता है। उस समय उसके मन में कोई अन्य भाव नहीं रहते; इसके विपरीत उसके मन में आश्वासन भाव रहता है कि मैं माता के समीप हूँ। यहाँ निकटता, प्रेम, वात्सल्य के भाव जागृत होते हैं। कुमारी पूजा में भी ये भाव अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

एक दिव्य साधक जब अपनी साधना की अन्तिम स्थिति में स्वयं को पूर्णत समर्पित कर देने की स्थिति में रहता है, तब वामाचार और कौलाचार के अन्तर्गत उसके लिये कुमारी पूजा का विधान है। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं को देवी के रूप में अर्पित कर दे तथा संसार के समस्त प्राणियों में उस शक्ति के स्वरूप को निरन्तर देखे।

कुमारी पूजा घर में नहीं, वरन् किसी देवालय, मन्दिर या तीर्थस्थान में होनी चाहिये जहाँ का वातावरण पवित्र हो तथा चेतना के उत्थान में सहायक हो। कुमारी पूजा करते समय यह भाव रहे कि कन्या के भीतर में अग्नि और चन्द्र का तेज समाहित हो गया है। अग्नि और चन्द्र के तेज का विशेष अर्थ है। चन्द्र है मानसिक कला जो षोडशी के रूप में दिखलाई देती है। अग्नि के तेज का तात्पर्य ऊष्मा, प्रकाश, या प्रज्वलित तेजपुंज से है। जब ये भाव उत्पन्न होते हैं तब कन्या को सर्वज्ञा या जगदीश्वरी के रूप में देखा जाता है; एक मानव कन्या के रूप में नहीं। उपासक लोग उसी रूप में महाशक्ति की उपासना और आराधना करते हैं।

तन्त्र शास्त्र में यह भी कहा गया है कि चाहे शैव हो या वैष्णव, या किसी अन्य देवी-देवता का उपासक, कुमारी पूजा कर सभी इस दिव्यभाव को अपने भीतर में जागृत कर सकते हैं। लेकिन गुरु-निर्देश के बिना कुमारी पूजा का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

कायासिद्धि

कायासिद्धि एक रासायनिक प्रक्रिया है; जिसके द्वारा शरीर को व्याधिरहित, जरा-प्रभाव तथा मृत्यु-भय से मुक्त किया जाता है; शरीर के समस्त अंगों और कोशिकाओं में नवजीवन का संचार किया जाता है। इस रासायनिक प्रक्रिया में पारद और अभ्रक का प्रयोग होता है।

कौलाचारी को एक साधना के रूप में कायासिद्धि का अभ्यास करना चाहिये। कायासिद्धि के अभ्यास से शरीर के भीतर के विषाक्त तत्त्व बाहर निकलते हैं और आन्तरिक तत्त्वों की शुद्धि होती है। यह तत्त्वशुद्धि की एक प्रक्रिया है। इस हेतु सर्वप्रथम पारद और अभ्रक को भिन्न-भिन्न समय, नक्षत्रों और तिथियों में जड़ी-बूटियों के रस में पकाया जाता है तथा उनके सभी प्रकार के विषाक्त तत्त्वों को उनसे दूर किया जाता है। जब वे पूर्णतः शुद्ध भस्म का रूप ले लेते हैं, तब तत्त्वशुद्धि या शारीरिक शुद्धि के लिये उनका प्रयोग किया जाता है। उपरोक्त प्रक्रिया की जानकारी केवल तान्त्रिकों को ही होती है। साधक को स्वयं ही नियमानुसार पारद-भस्म तैयार करना चाहिये, बना-बनाया किसी से नहीं लेना चाहिये। अशुद्ध भस्म को ग्रहण करने से तत्काल मृत्यु भी हो सकती है।

जो साधक कायाशुद्धि करता है, वह रोग, जरा, मृत्यु से प्रभावित नहीं होता है।तन्त्र शास्त्र में ८४ सिद्धों का वर्णन किया जाता है जिन्होंने कायाशुद्धि कर अमरत्व की प्राप्ति की थी। यह परम्परा शंकराचार्य के परम गुरु गौड़पादाचार्य के बाद लुप्त हो गई।

अनेक ग्रन्थों में वैसे साधकों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने कायासिद्धि की क्रिया द्वारा रोग, जरा और मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। किंवदन्तियों में भी ऐसे अनेक लोगों की चर्चा आती है, जिन्हें इस अभ्यास में सफलता मिली थी। लेकिन यह जानना कठिन है कि ये दृष्टांत तथ्यपरक हैं या कपोलकल्पित। इस प्रकार की उपलब्धि का कोई वास्तविक प्रमाण इस युग में अभी तक नहीं मिला है।

कायाशुद्धि के पीछे रहस्य या उद्देश्य यह है कि शारीरिक तत्त्वों के शुद्धीकरण के पश्चात् साधक को यह क्षमता प्राप्त हो जाय कि वह अपने भौतिक तत्त्वों को अव्यक्त तत्त्वों के साथ स्वेच्छा से मिला सके और स्वेच्छा से अलग कर सके। कायाशुद्धि की प्रक्रिया से पंचतत्त्वों पर नियन्त्रण या विजय की प्राप्ति सम्भव है।

पंचोपासना

तन्त्र शास्त्र में पंचोपासना साधना का स्थान दैनिक चर्या के अन्तर्गत आता है। पंचोपासना का अभिप्राय पाँच उपासनाओं से है। इसमें पाँच देवों की उपासना की जाती है। ये पंचदेवता तन्त्र-सिद्धान्तों के प्रणेता हैं। इनमें विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य के नाम आते हैं। प्रत्येक साधक यह साधना कर सकता है। एक ही बैठक में पाँचों देवों की उपासना हो सकती

है। सर्वप्रथम गणपति पूजा होती है, जिसमें मूर्ति या यन्त्र का प्रयोग किया जाता है। इसमें कई विधान हैं : मूर्ति या यन्त्र को स्नान कराया जाता है, धूप-दीप दिखाकर पुष्प अर्पित किया जाता है, तदुपरान्त मन्त्र का जप किया जाता है। गणेश के बाद सूर्य की आराधना होती है। सूर्य-आराधना में सूर्य कवच, सूर्य स्तोत्र आदि का पाठ तथा सूर्य मन्त्र का जप किया जाता है। क्रमशः पाँचों देवों की मूर्त्ति या यन्त्र का प्रयोग किया जाता है। इस उपासना में पाँच प्रकार की मूर्ति या पाँच प्रकार के यन्त्रों का रहना आवश्यक है। सूर्योपासना के पश्चात् क्रमशः विष्णु और शिव की उपासना होती है तथा सबसे अन्त में शक्ति की उपासना का उल्लेख किया गया है। एक चर्या के रूप में, एक अनुष्ठान के रूप में संकल्प लेकर प्रत्येक देवता के लिये अलग-अलग मन्त्र और मन्त्र-संख्या लेकर यह उपासना की जाती है। कभी-कभी चालीस दिनों तक एवं कभी-कभी तीन महीने तक यह विधि चलती रहती है। एक प्रकार से यह तन्त्र शास्त्र की सर्वाधिक सात्विक साधना है, जिसमें पुरश्चरण या अनुष्ठान का विधान है।

शक्ति-साधना

पंचोपासना के बाद शक्ति-साधना का उल्लेख है। मान्यता है कि सती ने अपने पिता दक्ष के यज्ञ में अपनी आहुति दे दी थी। इससे भगवान शंकर विक्षिप्त हो गये तथा सती के शरीर को अपने कन्धे पर उठाकर संसार का चक्कर काटने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया। तब देवताओं द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भगवान विष्णु ने सुदर्शन चक्र द्वारा सती के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। सती के विभिन्न अंग और आभूषण भिन्न-भिन्न स्थानों में गिरे और प्रत्येक स्थान पर शक्ति-केन्द्र या शक्ति-पीठ की स्थापना हो गई।

तन्त्रों में इस विषय पर अनेक मतभेद मिलते हैं। शक्ति-पीठों के सम्बन्ध में जो सूचियाँ उपलब्ध हैं उनमें ५१, ५४ और ३४ पीठों का उल्लेख किया गया है। मुंगेर के वर्तमान चंडी स्थान में देवी की दाहिनी आँख गिरी थी। कहीं देवी का कर्णकुण्डल गिरा है तो कहीं नूपुर; और ऐसे प्रत्येक स्थान पर मन्दिर या पीठ स्थापित किये गये हैं। अधिकांश शक्ति-पीठ बंगाल, आसाम, बिहार और उत्तरप्रदेश में हैं। वैद्यनाथ धाम (देवघर) में देवी का हृदय गिरा था। अतएव परम्परा के अनुसार वैद्यनाथ धाम में ज्योतिर्लिंग की पूजा के पहले शक्ति की पूजा होती है। आसाम का कामाख्या स्थान एक प्रमुख पीठ माना जाता है। मान्यता के अनुसार वहाँ देवी की योनि गिरी थी और वहाँ साधक योनि की पूजा-आराधना करते हैं। इसी प्रकार के अन्य कई प्रमुख शक्ति-पीठ हैं। वहाँ के वातावरण में एक शक्ति, एक स्पन्दन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अनेक साधकों ने ऐसे स्थानों में जाकर साधना की है तथा पूर्णता और सिद्धि प्राप्त की है।

शक्ति साधना में साधक को किसी शक्ति-पीठ में जाकर पूर्णतः विरक्त भाव से रहना चाहिये। भिक्षा से प्राप्त अन्न ग्रहण करना चाहिये तथा जमीन पर सोना चाहिये। पुरुष को केवल एक

कौपीन धारण करनी चाहिये तथा महिला को मात्र एक साड़ी। जब तक मन्त्र की सिद्धि न हो तब तक अनुष्ठान में ही अपना अधिकांश समय लगाना चाहिये। इसके साथ ही साथ शक्ति-साधना से जुड़ी हुई समस्त विधियों एवं पूजा-पद्धतियों का पालन करना चाहिये।

षोडशोपचार पूजा

षोडशोपचार पूजा की विस्तृत व्याख्या गायत्री तन्त्र में की गई है। इसके अन्तर्गत सोलह प्रकार की पूजाओं की चर्चा होती है, जो निम्नलिखित है :–

१. आवाहन, २. आसन, ३. पाद्य, ४. अर्घ्य, ५. आचमन, ६. स्नान, ७. वस्त्र-अर्पण, ८. लेपन, ९. यज्ञोपवीत, १०. पुष्प, ११. धूप, १२. दीप या आरती, १३. नैवैद्य या प्रसाद, १४. प्रदक्षिणा नमस्कार, १५. मन्त्र–पुष्प और १६. शय्या।

आवाहन का अर्थ किसी देवता का मन्त्र द्वारा आवाहन से है। आसन का तात्पर्य देवता को बैठने हेतु आसन प्रदान करने से है जिसका आवाहन किया गया है। साधक के दृष्टिकोण से आसन देने का अभिप्राय देवता को अपने हृदय में स्थान देने से है। पाद्य का अभिप्राय होता है जल से देवता के चरण कमलों को धोना। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अर्थ अपने देवता के चरणों में भक्ति-भाव से स्वयं को समर्पित करने से है। अर्घ्य का अर्थ होता है देवता का हस्त-प्रक्षालन। इसका अभिप्राय भी अपनी आत्मा को देवता के हाथों में अर्पित करने से है। आचमन का अर्थ उन्हें पीने हेतु शुद्ध, पवित्र और निर्मल जल प्रदान करने से है। स्नान एक कर्मकाण्डीय विधि है। इसमें दूध, दही, शहद, चन्दन, जल और चीनी इत्यादि से देवता को स्नान कराया जाता है। वस्त्र-अर्पण भी एक बाह्य कर्मकाण्ड है। इसमें देव-मूर्ति को नये वस्त्रों से आभूषित करते हैं। तान्त्रिक लोगों के अनुसार इसका अभिप्राय परा ज्ञान का वस्त्र धारण करने तथा अपरा जगत में शुद्ध एवं निर्मल भाव से जीवन व्यतीत करने से है। लेपन-कर्म में सुगन्धित जल या चन्दन से मूर्ति पर लेप किया जाता है। इसका तात्पर्य अपने अन्दर के सकारात्मक एवं दिव्य गुणों से अपने इष्ट का लेप करने से है। देवता को यज्ञोपवीत भी अर्पित किया जाता है जिसे बाद में साधक स्वयं धारण करता है। इसका अभिप्रायः स्वयं को शुद्ध संकल्प से अभिषिक्त करने से है। पुष्प प्रदान करने का अर्थ अपना हृदय सु-मन अर्पित करने से है। धूप जलाने का अर्थ अपने समस्त पाप-कर्मों या कृत्यों को ज्ञानाग्नि में भस्म करना होता है। दीप या आरती दिखाना अपने कर्मों को समाप्त करने का प्रतीक है। प्रार्थना या मन्त्रों के साथ नैवेद्य अर्पित करने की भी एक विधि है। इसमें ताम्बुल, जल और मधुपर्क या फल अर्पित किये जाते हैं। फल-अर्पण के चार अर्थ होते हैं, यह विधि चार प्रकार की मानसिक अवस्थाओं का प्रतीक होती है। एक फल दान करने का अर्थ सारूप्य अवस्था को प्राप्त करने की इच्छा से है। यहाँ सारूप्य का अर्थ है कि मैं अपने देवता के समान हो जाऊँ। दो प्रकार का फल देने का अर्थ सालोक्य अवस्था से है; अर्थात् मैं अपने देवता के स्थान या लोक में

निवास करूँ। तीन फल प्रदान करने का अभिप्राय सामीप्य अवस्था से है। इसका तात्पर्य यह है कि मैं अपने देवता का अनुचर बनकर सदैव उनके निकट रहूँ। चार फल देने का प्रयोजन सायुज्य अवस्था से है, अर्थात् मैं अपने देवता के साथ एकाकार हो जाऊँ। प्रदक्षिणा नमस्कार की विधि में अपने इष्ट के रूप में सम्पूर्ण सृष्टि या समस्त लोकों तथा दिशाओं में देखा जाता है। इस विधि में घड़ी की सूई की दिशा में अथवा बायें से दायें घूमते हुए अपने देवता की परिक्रमा की जाती है तथा सभी दिशाओं से उन्हें नमस्कार किया जाता है। अतः प्रदक्षिणा के समय ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव होता है। उपरोक्त चौदह विधियों का अभ्यास साधक स्वयं अनुभव प्राप्त करने के लिये करता है। लेकिन मन्त्र-पुष्प प्रदान करने के समय वह धारणा करता है कि मैंने सम्पूर्ण सृष्टि में ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव कर लिया है और अब सम्पूर्ण सृष्टि में उसकी ज्योति, उसका प्रकाश फैले। ये भाव निजी स्वार्थ के लिये नहीं वरन् संसार के समस्त प्राणियों के कल्याण, मंगल और मोक्ष के लिये व्यक्त किये गये हैं। अन्तिम उपचार या विधि है शय्या। इसका अभिप्राय अपने देवता को श्वसन हेतु भेज देने से है। उनसे प्रार्थना की जाती है कि उनकी शय्या या निवास साधक के हृदय में ही हो। षोडशोपचार पूजा की ये सोलह विधियाँ हैं।

पंचाग्नि साधना

पंचाग्नि साधना तान्त्रिक एवं वैदिक दोनों है। पाशुपत तन्त्र तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में इस साधना का उल्लेख मिलता है। पंचाग्नि साधना की पद्धति दिव्यभाव युक्त सिद्ध योगी साधक के लिये विहित है। इस साधना को वही साधक कर सकता है जिसने काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मात्सर्य पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। पंच अग्नि इन पंच विकारों को नियन्त्रित एवं पार कर जाने से सिद्ध होती है। पंच विकार नियन्त्रण के पश्चात् साधक ब्रह्मभाव में स्वयं को स्थित करता है, ब्रह्मर्षि की स्थिति प्राप्त करता है।

इस साधना में साधक अपने चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर मध्य में बैठता है; सूर्य पंचम अग्नि का प्रतिनिधित्व करता है। इस साधना का काल मकर संक्रान्ति से कर्क संक्रान्ति तक का है। अग्निओं के मध्य साधक बैठकर शास्त्र विहित साधना सम्पन्न कर ब्रह्मत्व या शिवत्व पद प्राप्त करता है। इस साधना से साधक पंचमहाभूतों का स्वामी बन जाता है।

जल साधना

तन्त्र शास्त्र में जल साधना का भी उल्लेख मिलता है। यह साधना शीतकाल में की जाती है। शीतकाल में ब्राह्म मुहूर्त के समय साधक जलाशय या नदी में कमर भर पानी में खड़ा होकर अपनी साधना करता है। इस साधना में मन्त्र, अनुष्ठान तथा पंचदेव आराधना विहित है। इस साधना का प्रयोजन जल तत्त्व पर नियन्त्रण से है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जल अचेतन तत्त्वों का स्वामी है । जल में असंख्य धाराओं का प्रवाह रहता है । कुछ धाराओं की गति मंद तथा कुछ धाराओं की गति या वेग तीव्र होती है । अचेतन अवस्था में भी विचारों, वासनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, भावनाओं आदि का कभी मंद रूप में तो कभी तीव्र रूप में आभास होता है, जिन पर प्रारम्भ में नियन्त्रण प्राप्त करना सामान्य व्यक्ति के लिये असम्भव रहता है । ये अचेतन धाराएँ मनुष्य को अपना दास बनाकर उसके जीवन कार्यों का संचालन करती हैं । योग में अचेतन तत्त्वों का सम्बन्ध शरीरस्थ स्वाधिष्ठान चक्र के साथ है । अचेतन धाराओं को संयमित तथा नियन्त्रित करना जल तत्त्व साधक का लक्ष्य रहता है ।

चक्र-पूजा

तन्त्र में चक्र-पूजा उच्च साधना मानी गई है । दक्षिणाचार, वामाचार तथा कौलाचार में इस साधना का विधान है । इस पूजा में साधक तथा साधिकाओं का समूह एक साथ साधना करते हैं । चक्र-पूजा में पंचमकार, पंचदेव, मन्त्र, यन्त्र, ध्यान एवं आराधना का विधान है । यह अत्यंत गुप्त प्रक्रिया है ।

दक्षिणाचार की चक्र-पूजा में साधक तथा साधिका सामूहिक रूप से यन्त्रों को पंचामृत से स्नान कराकर, स्वयं को शुद्ध, पवित्र एवं निर्मल बनाकर, पुष्प, दीप एवं होम द्वारा मन्त्रों से देवों का आह्वान करते हैं । मन्त्र अनुष्ठान की प्रक्रिया भी सामूहिक रूप से की जाती है।

वामाचार में साधक तथा साधिका चक्र-पूजा में पंचमकार का प्रयोग करते हैं । पंचमकार के नियमों का कठोरता के साथ पालन करते हुए साधक दिव्यभाव तथा दैवीभाव को प्राप्त करता है ।

कौलाचार में साधिका गुरु रूप में चक्र-पूजा का संचालन करती है । देव-आराधना, यन्त्र पूजा तथा ध्यान इस पद्धति के प्रमुख अंग माने गये हैं ।

★★★